श्रीमद्भागवत के परिप्रेक्ष्य में कृष्णकथा का प्रमुख संस्कृत-नाटकों में विकास

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिये प्रस्तुत)
शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री
कु० रञ्जना प्रियदर्शिनी
एम०ए० (संस्कृत)

निर्देशक
डॉ० राजेन्द्र मिश्र
एम०ए० (स्वर्णपदकाङ्क)
प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
अक्तूबर १९७७

विषयानुक्रमणिका

---0---

भूमिका

यदि विद्यार्जन को सांस्कारिक परिणाम माना जाये तो मन का यह दृढ़ अनुभव है कि गीर्वाणवाणी के प्रति अनुराग मुझे अदृष्ट के संस्कारों से ही मिला । नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की लीलास्थली मथुरा और वृन्दावन पूर्वजों का निवास-स्थान होने के कारण मेरे संस्कृतानुराग का कृष्णभक्ति के साथ मंजुल समन्वय भी हो गया । मेरा विश्वास है कि आज विद्या-जलधि-मन्थन का जो पीयूष मैं विद्वद् जगत् को देना चाह रही हूं,वह उसी समन्वय का फल है ।

संस्कृत विषय लेकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय की एम०ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के अनन्तर उसी अन्तर्निहित विद्या लिप्सा के कारण शोधकार्य करने की प्रवृत्ति हुई । संस्कृत विभाग,प्रयाग विश्वविद्यालय,के उत्साहसम्पन्न तथा अध्यवसायी शोध के वातावरण ने बड़ी ऊर्जा प्रदान की और सहज सन्तोष का अनुभव तब हुआ जब शोध का विषय भी मेरी अभिरुचि के अनुकूल ही मिला--"श्रीमद्भागवत के परिप्रेक्ष्य में प्रमुख-संस्कृत नाटकों में कृष्णकथा का विकास" ।

संस्कृत साहित्य की विशाल सागर जलराशि में न जाने कितनी काव्यशुक्तियां निमग्न हैं । उन सीपियों को ढूंढकर,उनसे मुक्तामणि निकालने की लालसा में कितने ही गोताखोर साहसिक अभियान किया करते हैं । वस्तुतः लोकधर्मी एवं क्रान्तिदर्शी कवि ऐसा ही साहसिक अभियान करता है और ऐसी ही अनमोल रत्नराशियों से अपने भाव की पिटारी को शोभान्वित किया करता है । कवि का हृदय जिस किसी भी काव्यविधा द्वारा अपने भावों को व्यक्त करने में समर्थ होता है,वह उसी विधा का आश्रय लेता है उसकी मूलभूत प्रवृत्ति भी उसके कवित्व को वैशिष्ट्य प्रदान करती है । तभी तो आचार्य ने कहा है--"शृंगारी चेद् कवि काव्ये जातम् रसमयम् जगत्" ।

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि किसी काव्यविधा के प्रति ही कवि का आन्तरिक लगाव होता है । महाकाव्य,नाटक,चम्पू अथवा कथा आख्यायिका--जिस किसी की भी रचना में वह प्रवृत्त होगा उसी के वैशिष्ट्यों से उसका व्यक्तित्व परिस्नात दिखायी देगा

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का मुख्यतः कृष्णकथाश्रित नाटकों का सांगोपांग विवेचन करना है और इस विवेचन का मूल उत्स श्रीमद्भागवत में उपलब्ध कृष्णकथा को स्वीकार किया गया है ।

रामकथाश्रित नाटकों पर अबतक अनेक विद्वान् कार्य कर चुके हैं जिनमें बेल्जियम के सुप्रसिद्ध हिन्दीविद् प्रोफेसर कामिल बुल्के का नाम उल्लेखनीय है । रामकथा के संदर्भ में उन्होंने प्राय: समस्त सम्बद्ध संस्कृत नाटकों का अध्ययन किया है । यह तथ्य भी अवधे है कि रामकथाश्रित नाटकों का वाङ्मय अपेक्षाकृत पुष्कल एवं विशाल है । इस दृष्टि से कृष्णकथाश्रित नाटकों की संख्या संस्कृत में अत्यल्प है । ईसा पूर्व चौथी शती (भास-विरचित बालचरितम्) से लेकर आजतकहै । फिर भी " नाटक " कोटि की रूपक कृतियां गिनी-चुनी हैं । शोध विषय की इस विशेषता को ध्यान में रख कर ही कुछ नाटकेतर कृष्णाश्रित रूपकों को भी अध्ययन-परिधि में समाविष्ट कर दिया गया है ताकि कृष्ण-कथाश्रित रूपकों का प्रतिपाद्य वैशिष्ट्य,नाट्यशास्त्रीय स्वरूप,चरित्रचित्रण,रसचर्वणा तथा पात्रादि व्यवस्था की भलीभांति समीक्षा प्रस्तुत की जा सके ।

इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त कुछ और भी पुराणों का अध्ययन किया गया है,क्योंकि उन पुराणों में उपलब्ध कृष्णकथाओं का परवर्ती नाटकों से आधार-आधेय सम्बन्ध सिद्ध होता है । अत: निश्चित है कि श्रीमद्-भागवत में राधाकृष्ण की केलिक्रीडा का परवर्ती स्वरूप उपलब्ध नहीं होता परन्तु यह भी सच है कि राधा कृष्ण की परवर्ती कल्पना का मूल प्रांजल रूप ब्रह्मवैवर्त आदि कुछ पुराणों में मिलता है । ऐसी स्थिति में नाटकों में उपलब्ध कृष्णकथाओं का औचित्य सिद्ध करने के लिए तथा उनका सान्दर्भिक साम्य करने के लिए ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों का अध्ययन न केवल अपेक्षित बल्कि अनिवार्य था । इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त इन अन्य पुराणों का अध्ययन किया जाना विषयापदान नहीं है बल्कि शोधकार्य के सांगोपांग परिशीलन का ही एक विधात्मक प्रयास है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विषय प्रतिपादन पांच अध्यायों में विभक्त किया गया है पहले अध्याय में वैदिक वाङ्मय में कृष्णकथा के संकेतों का संभाव्य उपलब्ध आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है और दूसरे अध्याय में श्रीमद्भागवत में उपलब्ध कृष्णकथा का आधिकारिक रूप से तथा ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों में प्राप्त कृष्णकथाओं का प्रासंगिक रूप से शोधप्रबन्ध की भूमिका के अनुकूल विवेचन प्रस्तुत किया गया है । ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में कृष्णकथाश्रित नाटकों का प्रतिपाद्य विवेचन आलोचनात्मक दृष्टि से व्याख्या किया है । इस सन्दर्भ में कुछ कृष्णकथाश्रित नाटकेतर कृतियों का भी अनुशीलन किया गया है । यह कृतियां व्यायोग,नाटिका,ईहामृग,प्रेक्षणक,भाण तथा एकांकी हैं ।

शोधकर्त्री ने कुछ ऐसी भी नाट्यकृतियों का विवेचन किया है,जिनमें कृष्णचरित का प्रतिपादन आंशिक रूप से हुआ है ।

प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय का विषय है-- कृष्णकथाश्रित नाटकों का नाट्यशास्त्रीय अध्ययन । इस सन्दर्भ में वस्तु,नेता और रस विवेचन,अलंकार,वृत्ति,नायिकालंकार,नाट्यालंकार तथा सन्ध्यसन्ध्यंगादि नाट्यतत्वों का संक्षिप्त पारिभाषिक विश्लेषण करते हुए उन्हीं की पृष्ठभूमि में कृष्णकथाश्रित नाटकों का शास्त्रीय वैशिष्ट्य सोदाहरण व्याख्यात किया गया है ।

शोधप्रबन्ध के पांचवें अध्याय में विषयोपसंहार करते हुए कृष्णकथाश्रित नाटकों का साहित्यिक सौन्दर्य,उनके व्यक्ति और समाज का चित्रण,प्रकृति और प्रणय का चित्रण तथा लोकानुरारधन सरीखे मर्मस्पर्शी विषयों का यावच्छक्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

शोधकर्त्री ने अपनी बुद्धि एवं अध्यवसाय को साक्षी बनाकर इन पांच अध्यायों में शोधकार्य के विस्तृत कलेवर को समेटने का प्रयास किया है,फिर भी यह कहने का साहस नहीं किया जा सकता कि यह प्रयास सर्वथा निर्दोष एवं निर्भ्रम है ।

o . .

शोध कार्य को सम्पन्न कराने में सर्वाधिक सहायता मेरे निर्देशक,डा० राजेन्द्र मिश्र ने ही दी। वस्तुत: उनके कुशल निर्देशन के द्वारा ही यह शोध प्रबन्ध नियत अवधि में पूर्ण हो सका । यद्यपि विषय का विस्तार अधिक था,दुरधिगम्य भी था,फिर भी निर्देशक महोदय के स्नेहमय आश्वासन से कार्य करने की अमन्द प्रेरणा निरन्तर प्राप्त होती रही । इसी का परिणाम था कि मैं उत्साहपूर्वक अपने शोध कार्य में संलग्न रही । डा० मिश्र का पारदर्शी सुविस्तृत ज्ञान एवं अमृतमय स्वभाव मेरी अनुसंधान प्रवृत्ति को पद-पद पर प्रबोध देता रहा है । मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना चाहती हूं,क्योंकि यह भी एक औपचारिकता ही होगी । वस्तुत: शब्दों के माध्यम से उनके प्रति आभार प्रकट करना इस शोधकार्य के सन्दर्भ में उनके महत्त्व को कम करना ही है ।

संस्कृत विभागाध्यक्ष के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझती हूं,जिन्होंने विभागीय शोध-छात्रवृत्ति प्रदान कर मेरी अध्ययन-लिप्सा को,आर्थिक संकट से मुक्त कर,अनुकूल वातावरण प्रदान किया ।

प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के प्रवाचक,डा० राधेश्याम जी से सर्वाधिक पारिवारिक एवं आत्मीय स्नेह प्राप्त हुआ । छात्रावास में रहते हुए भी उन्होंने मुझे कभी

यह अनुभव नहीं होने दिया कि मैं अपने परिवार से अलग हूं। समय-समय पर उन्होंने अपनी शुभकामनाओं, आशीर्वादों एवं उत्साहवर्धनों से मुझे जितनी प्रेरणा प्रदान की, उसके लिए चन्द शब्दों में धन्यवाद देकर मैं अपनी आस्था को औपचारिक नहीं बनाना चाहती।

अपने विश्वविद्यालय के श्रद्धेय कुलपति महोदय (डा० पी०डी० हर्षेला) के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूं, जिन्होंने शोधकार्य की अवधि में उत्पन्न मेरी अनेकविध दुरूह समस्याओं का सहज समाधान किया। उनका स्नेहपूर्ण आश्वासन कार्य करने के लिए मुझे निरन्तर प्रेरित करता रहा है।

महिला छात्रावास की संरक्षिका, कु० प्रीति अदावल और अधीक्षिका श्रीमती जया-गुप्ता के प्रति भी मैं आभारी हूं, जिन्होंने अपने कृपापूर्ण संरक्षण में व्यक्तिगत सहयोग प्रदान किया। उनके अकृतक स्नेह को भूल सकना मेरे लिए सम्भव नहीं है।

अपने कुछ स्नेही मित्रों का सहज स्नेह भी मुझे शोधकार्य करने के लिए निरन्तर वाचिक प्रेरणा प्रदान करता रहा है, जिससे मेरी हताश मन:स्थिति को अनेक बार नया सर्वस्व प्राप्त हुआ है। इस संदर्भ में कुमारी रंजना कोछड़ एवं आरती श्रीवास्तव को विशेष रूप से धन्यवाद देना चाहती हूं।

विद्याप्रणयी अपने पूज्य पिता जी एवं स्नेहमयी मां के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूं जिनके अविरल स्नेह एवं वात्सल्यमयी प्रेरणा से ही यह शोधकार्य सम्पन्न करने में समर्थ हो सकी हूं। उनका वरदहस्त मेरे ऊपर सदैव बना रहा है और सच बात तो यह है कि माता-पिता के ऋण से कोई सन्तान कभी अनृण हो ही नहीं सकती है।

मैं अपने भाइयों तथा स्नेहमयी नीलिमा दीदी के स्नेह को भी विस्मृत नहीं कर सकती, क्योंकि मेरी इस सारस्वत यात्रा में यथाकिंचन सबका सहयोग है।

अन्त में टंकण कार्य के समर्थ सम्पादक श्री शिवशंकर मिश्र को विशेष धन्यवाद देती हूं, जिनकी सहायता से यह शोधप्रबन्ध अल्पावधि में ही टंकित हो सका। टंकणयन्त्र की तकनीकी कठिनाइयों के कारण संस्कृत के पंचमाक्षर अथवा कुछ संयुक्ताक्षर यथोचित रूप से टंकित नहीं किये जा सके हैं। एतदर्थ मैं विवश क्षमायाचना करना चाहती हूं।

इस शोधप्रबन्ध में निश्चय ही कुछ कमियों का होना स्वाभाविक है। कहीं-कहीं भाषा-सम्बन्धी अशुद्धियां होना भी संभव है। मैं इन सब के लिए विनीत भाव से क्षमा-

याचना करती हूं । वस्तुत: मेरी स्थिति तो कालिदास के शब्दों में--" प्रांशुलभ्ये फले मोहाद् उद्बाहुरिव वामन: " सरीखी है । फिर भी यदि मेरे इस सारस्वत प्रयत्न से संस्कृत जगत् का कुछ भी उपकार हुआ तो मैं इसे अपने विद्याव्यवसाय की सार्थकता ही समझूंगी ।

विनीत

रंजना प्रियदर्शिनी

(रंजना प्रियदर्शिनी)

सुपरिन्टेन्डेन्ट क्वार्टर्स,
सरोजिनी नायडू छात्रावास,
प्रयाग विश्वविद्यालय,
प्रयाग-२ ।

दिनांक :

विजयादशमी ,१९७७ ई०

प्रथम अध्याय

शोध विषय की पृष्ठभूमि एवं कृष्णकथा का मूल उद्गम

वैदिक वाङ्मय में कृष्णकथा का स्वरूप

वेदों के प्रति अटूट आस्था होने के कारण,वेदों के विस्तृत वाङ्मय में से ही कृष्णकथा रूपी तत्व का चयन करना मनीषियों का अभीप्सित ध्येय रहा है। यद्यपि 'वासुदेव' नाम किसी संहिता,ब्राह्मण एवम् प्राचीन उपनिषद् के अन्तर्गत नहीं आता,फिर भी वैष्णव विद्वान उसमें गूढ़ अन्तर्निहित तथ्य को अन्वेषण द्वारा, अथक प्रयत्न से युक्त होकर,कृष्णकथा का मूल उद्गम-स्थान ढूंढ निकालते ही हैं। विद्वान् कृष्ण-रस की मधुरवर्षिणरूपी माधुरी में निमग्न होकर सर्वप्रथम वेदों में ही उस रसरूप का आस्वादन करके उनका प्रत्यक्षीकरण करते हैं।[१] अन्यत्र गोपरूप विष्णु आदि के वर्णन में भी वह गोपरूपधारी कृष्ण का ही स्मरण करते हैं।[२] परन्तु यह विष्णु बहुत समय तक बाल्यरूप से ही वर्णित नहीं रहे,उनका युवारूप ही अधिकांशतः दृष्टिगोचर हुआ,क्योंकि उनको सर्वशक्तिमान्,सर्वविद्यमान सिद्ध करना ही मुख्य ध्येय था।[३]

कृष्णकथा का बीज मूलरूप से वेदों में विद्यमान तो है परन्तु जिस प्रकार बीज से वृक्ष का विकास,वर्द्धन और परिवर्द्धन होता रहता है उसी प्रकार कृष्ण और राधा की भावना का बीज वेदों,ब्राह्मणों तथा आरण्यकों,उपनिषदों में विद्यमान होते हुए भी उत्तरोत्तर स्फुटन,विकास की ओर अग्रसर होता रहा है।

ऋग्वेद के एक स्तोत्र में कृष्ण ऋषि के रूप में आये हैं।[४] बहुत से मन्त्रों के द्रष्टा एवं अष्टम मण्डल के रचयिता का नाम भी श्रीकृष्ण ही है।[५] परन्तु इतने ही कथनमात्र से वेद में उनका स्वरूप निर्धारित नहीं हो जाता। वेदों के आधार पर श्रीकृष्ण के

---

१. त्वं नृचक्षा वृषभानुपूर्वीः,कृष्णास्वग्ने अरुणो वि भाहि। --ऋक्संहिता ३।१५।३

२. विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथ प्रिया धामान्यमृतादधानः।
अग्निष्टा विश्वा भुवनानि वेद महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ --ऋक्संहिता ३।३।३६

३. त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन॥-- ऋग्वेद १।२२।१८

४. अयं वां कृष्णो अश्विना हवते वाजिनीवसू। मध्वः सोमस्य पीतये,शृणुतं जरितुर्हवं कृष्णस्य स्तुवतो नरा। मध्वः सोमस्य पीतये।--ऋग्वेद ८।८५।३-४

५. ऋग्वेद मण्डल ८ सूक्तसंख्या ८५,८६,८७ तथा मण्डल १०।४२-४३-४४। इन्हीं ऋषि कृष्ण के नाम पर कार्ष्णायन गोत्र चला था।

स्वरूप निर्धारण के सम्बन्ध में तर्क की कसौटी पर तपने वाले तार्किकों के मन में सन्देह का अंकुर जड़ जमा सकता है कि जब कृष्ण अनादि, अव्यय एवं अनन्त हैं तो वेदों के माध्यम से ही उनके अस्तित्व को कैसे अंगीकार करें ?

इस शंका का समाधान यही है कि रचनाओं में कृष्ण की अभिव्यक्ति होने के पहले वेद अस्तित्व में आ चुके थे। वेदों के पंक्तिबद्ध होने के बाद ही महाभारत में उन्हें वेदवेदांगवेत्ता कहा गया है।[१]

शंका का भयावह जंजाल केवल इतना ही कह देने से बाहर निकलने नहीं देता अपितु जंजाल में और फंसाता जाता है। इस भीषण अरण्य से निकलने का एकमात्र उपाय है तर्क द्वारा वेद में अन्यत्र अभीप्सित अर्थ निकाल कर मनीषियों की जिज्ञासा-वृत्ति को तृप्त किया जाये।

कृष्ण नाम का परिचय जब वेदों में पंक्तिबद्ध होने के बाद महाभारत में हुआ तो वैदिक साहित्य में प्रयुक्त शब्दों का क्या अर्थ था ? यह शंका जो पूर्ववर्ती आलोचकों के मन में जड़ जमाये हुए थी, इसका निराकरण करने के लिए यह समीचीन होगा कि वैदिक वाङ्मय का स्पष्ट रूप से मूल्यांकन करके, उसमें से कृष्णकथा को निर्गृहीत करके यह सिद्ध करना कि उस समय कृष्णकथा प्रचलित या प्रसिद्ध हो गयी थी या नहीं ?

वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करने पर कृष्णकथा के अनेक पात्रों का उल्लेख मिलता है, केवल इसके द्वारा ही इसकी वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्धि सिद्ध नहीं हो जाती वरन् उन कृष्णलीला-विषयक प्रसंगों से ही इस कथा का प्रमाण प्राप्त होता है।

---

१. वेदवेदांगविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ।।

--महाभारत, सभापर्व ३८वां अध्याय १९वां श्लोक

ऊखलधारण,पूतनाहरण,यमलार्जुन,गोवर्धनधारण लीलाएं आदि वेदमन्त्रों में प्राप्त हैं[१]।राय चौधरी ने भी कृष्ण की लीलाओं का बीज वैदिक मन्त्रों में सिद्ध किया है[२]।

राधा,गौ,व्रज,अहि,वृषभानु,रोहिणी,कृष्ण,अर्जुन आदि पात्रों की सूचना भी आस्थानिष्ठ मनीषियों को प्राप्त होती है । अन्य रूढ़िवादी विद्वानों की तरह इन्हीं शब्दों में कृष्णलीला का संकेत पाकर विद्वान इतिश्री नहीं समझता वरन् अपनी कुशाग्र बुद्धि के द्वारा वैदिक वाङ्मय में निहित कृष्ण-लीला-सम्बन्धी शब्दों का तत्कालीन प्रचलित अर्थ अन्वेषित कर लेता है ।

१, शकटभंजन--

"पृथु रथो दक्षिणाया अयोज्यैनं देवासो अमृतासो अस्थुः
कृष्णादुदस्थादर्या विहायाश्चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय ।"

-- ऋग्वेद १।१२३।१

पूतनावध--

उलूकः पक्षिणी न वधात्यरमानाक्षया पदं कृणुते अग्निधाने ।
शं नो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु मा नो हिंसादिह देवा कपोतः ।

--ऋग्वेद १०।१६५।३

यमलार्जुन--

यत्र मन्था विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव उलूखलसुतानामवेदिन्द्र जल्गुलः,
ता नो अद्य वनस्पती,ऋष्वावृष्वेभिः सोतृभिः । इन्द्राय मधुमत्सुतम् ।

--ऋग्वेद १।२८।४-८

२. In the Rigweda 1/22/18 and 1/155/6, Vishnu is called 'Gopa', herdsman, the protector of cows, and is described as a youth, a very young, who is no longer a child. These epithets of the Vedic Vishnu might have been suggestive of the puranic legend of the youthful herdsman of Vrandavan, the Yomuna reigion, the scene of Krishna's childhood was renowned for its cattle even in the early Vedic days- May I possess wealth of cows, renowned upon the banks of Yomuna (Rg.5/52/17). Krishna's connection with the cattle may, therefore, be an historical trait. The names of Radha, Vraja and Rohini occur in Rg.1/30/5, 1/10/7 and 8/93/13 respectively.

-- Early history of Vaishnava sect.
Ray chaudhary, Pages 28,45,89.

वैदिक मनीषी प्रतीकात्मक अर्थ लेने के अधिक पक्षपाती रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों का अर्थ प्रतीकात्मक ही बताया है। भारतीय प्रज्ञावानों की तरह वह साहित्यिक अर्थ लेने के पक्षपाती नहीं रहे। अजन्मा, शाश्वत, ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करना प्राकृत मानव के लिए असंभव है। वह अपने मानस पटल में अंकित मूर्ति का चित्रांकन इस नश्वर संसार में अवतरित होकर नहीं कर सकता। अतः वैदिक ऋषि यज्ञ, हवन आदि के द्वारा देवताओं का आवाहन करते थे और प्रतीकात्मक शैली में भगवान् के अलौकिक स्वरूप का वर्णन करते थे।

राधा, गौ, व्रज, अहि, वृषभानु, रोहिणी, कृष्ण, अर्जुन आदि शब्द विशिष्ट दैवी गुणों से सम्बन्धित व्यक्तित्व को व्यक्त नहीं करते वरन् अन्य अर्थ के प्रतिपादक हैं।[१] राधा शब्द धन, अन्न और नक्षत्र का बोधक है। गौ का अर्थ है किरण, व्रज को किरणों का स्थान " गौ " कहते हैं। कृष्ण रात्रि, अर्जुन दिन, कृष्ण, बलराम अर्थ को व्यक्त करते हैं। यह उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं है जिस अर्थ में

---

१. (अ) स्तोत्रं राधानां पते।-- ऋग्वेद १।३०।५
(ब) गवामप व्रजं वृधि। -- वही १।१०।७
(स) दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा।--वही, १।३२।११
(द) त्वं नृचक्षा वृषभानुपूर्वीः कृष्णास्वाग्ने अरुषो विभाहि -अथर्ववेद ३।१५।३
(क) त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च।--ऋग्वेद ८।९३।१३
या रोहिणीर्देवत्या गावो या उत रोहिणीः। अथर्ववेद १।२२।३
राधे। विशाखे। सुहवानुराधा।--अथर्ववेद १९।७।३
(ख) कृष्णा रूपाण्यर्जुना वि वो मदे।--ऋग्वेद १०।२१।३
(ग) कृष्णं त एम रुशतः। --ऋग्वेद ४।७।९
अपत्यवाचक के रूप में " कृष्णिय " शब्द का प्रयोग ऋग्वेद की २ ऋचाओं १।११६।२३ और १।११७।७ में मिलता है। ऋग्वेद के एक मंत्र में एक ही स्थान पर यमुना, गौओं और राधा का उल्लेख मिलता है जो कृष्ण साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण है।
(घ) यमुनायामधि श्रुतमुद्राधो गव्यं मृजे।-- ऋग्वेद ५।५२।१७

पुराणों में है। डा० शशिभूषणदास गुप्त के अनुसार भी कृष्ण, राधा, गोप, अर्जुन आदि नामों का सम्बन्ध कृष्णलीला से नहीं प्रत्युत ज्योतिष-सम्बन्धी नक्षत्रों आदि से है[1]। इसी प्रकार वेद में भी ज्योतिष तत्व ही प्रधान दिखायी पड़ता है।

वेद में पृथिवी को कृष्णा एवं सूर्यमण्डल को कृष्ण कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में चन्द्रमा को भी कृष्ण कहा गया है। वैदिक सिद्धान्त चन्द्रमा, सूर्य, पृथिवी तीनों मण्डलों को ही निरुक्त कृष्ण मानता है[2]। शतपथ ब्राह्मण में ही यज्ञ को भी कृष्ण कहा गया है[3]। पाश्चात्य आलोचक विद्वान् लैसन कृष्ण की सत्ता का ही निराकरण करते हुए कहते हैं कि अंधकार का नाम ही कृष्ण है, यह सब रूपक मात्र है[4]। श्रीकृष्ण तो वेद में सौरमण्डल से सम्बन्धित हो चुके हैं, ऐसी स्थिति में अंधकार का प्रश्न ही कहां? यह तो उनके समूचे व्यक्तित्व को तहस-नहस कर देने के लिए ही कहा गया है।

सूर्यप्रकाश की प्रतिमा राधा है। "राध" धातु का अर्थ है "सिद्धि"। सूर्यप्रकाश में भी व्यवहारिक सब कार्य सिद्ध होते हैं। अतएव कृष्ण श्यामतेज एवं राधा गौर तेज है।

---

१. श्री राधा का क्रमिक विकास--डॉ० शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १०१-१०२
२. चन्द्रमा वै ब्रह्म कृष्णः -- शतपथब्राह्मण १३।२।१।७
   आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
   हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्॥
३. यज्ञो हि कृष्णः -- शतपथ ब्राह्मण ३।२।१।२८
   इसी ब्राह्मण में वार्ष्णेय और सात्वत शब्दों के प्रयोग से भी कृष्ण-सम्बन्धी सूचना प्राप्त हो जाती है। -- शतपथब्राह्मण ३।१।१।४, १३।५।४।२१
४. कृष्णचरित्र -- श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी, पृ० ३८।

इस प्रकार आरंभ की गयी वैदिक व्याख्या का प्रचलित अर्थ शब्दों के सतत् प्रयोग द्वारा कालान्तर में अर्थ-परिवर्तन के कारण राधा कृष्ण से अभिन्न कर दिया गया । वेदों में निहित इन शब्दों का मूल अर्थ ऐतिहासिक प्रसिद्धि-प्राप्त कृष्ण को व्यक्त करना नहीं था, फिर भी हमारी धार्मिक भावनाएं वेदों में ही खोज करने में अभ्यस्त हो गयी हैं, बाद में अन्य किसी ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानों का अन्वेषण करती हैं ।

धार्मिक उपास्य के रूप में पूर्व प्रचलित सभी ईश्वर रूपों का अन्तर्भाव श्रीकृष्ण में हो गया । वेदों के प्रधान देवता विष्णु के गुणों से भी तादात्म्य स्थापित किया गया[१] ।

ए०एल० बाशम के अनुसार भी विष्णु ही वासुदेव कृष्ण के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं[२] । वेदों में विष्णु का सम्बन्ध गायों से विशेष रूप से दिखायी पड़ता है । काण्वमेधातिथि की आध्यात्मिक अनुभूति है कि विष्णु अजेय "गोप" हैं, जिनकी पराजय कथमपि नहीं हो सकती[३] । यहां पर भी "गोप" शब्द कृष्ण का विष्णु के साथ समन्वय करता है ।

---

१. देवदेवोऽह्यनन्तात्मा विष्णुः सुरगुरुः प्रभुः ।
प्रधान पुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्तिमान् ।।
स एवं भगवान् विष्णुः कृष्णेति परिकीर्त्यते ।
अनाद्यन्तमजं देवं प्रभुं लोकनमस्कृतम् ।।

-- महाभारत, वनपर्व २७२, ३१-७२

२. स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री आफ कल्चर--ए०एल० बाशम, पृ० १२३, कलकत्ता, १९६४

३. ऋग्वेद -- १।२२।१८

कीथ भी कृष्ण का विष्णु के साथ तादात्मीकरण करते हैं।[1] रिजवे-महोदय भी कृष्ण को विष्णु का आठवां अवतार मानते हैं। अमरसिंह के "नामलिंगानुशासन" में विष्णु को विभिन्न नामों से जाना जाता है।[2] विष्णु नारायण,कृष्ण आदि नामों से सम्बोधित किये गये हैं।

कीथ के अनुसार (वैदिक माइथोलाजी) में विष्णु ही सूर्य देवता थे, धीरे-धीरे प्रगति के पथ पर अग्रसर होकर दिव्य हो गये। बार्थ का कहना है कि कृष्ण सूर्य देवता हैं।[3] बार्थ के विचारों का खण्डन करते हुए कीथ ने सिद्ध किया है कि कृष्ण के मूल में सूर्य का कोई स्वरूप नहीं है,कृष्ण नाम ही इस धारणा के विरुद्ध है।[4] उनकी धारणा है कि कृष्ण उर्वरता के देवता हैं।[5] अतः कैनेडी भी

---

१. ज०रा०ए०सो० (१९०८) पृष्ठ १७० से १७५।

२. विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः।
दामोदरो हृषीकेशः केशवो माधवः स्वभूः ।।१८
दैत्यारिः पुण्डरीकाक्षो गोविन्दो गरुडध्वजः।
पीताम्बरो च्युतः शार्ङ्गी विष्वक्सेनो जनार्दनः ।।१९
उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः।
पद्मनाभो मधुरिपुर्वासुदेवस्त्रिविक्रमः ।। २०
देवकीनन्दन शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः।
वनमाली बलिध्वंसी कंसारातिरधोक्षजः ।।२१
विश्वम्भरः कैटभजिद् विधुः श्रीवत्सलांछनः ।।
वसुदेवोऽस्य जनकः स एवानकदुन्दुभिः ।।२२
--नामलिंगानुशासनम् -- अमरसिंह--त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ ३८ सम्पादनकर्ता टी० गणपति शास्त्री और डी०जी० पाढ्या (पूना १९४०) अध्याय प्रथम,पृ०२५

३. रेलिजन्स आफ इण्डिया--डॉ० ए०बी० बार्थ पृ० १६६

४. ज०रा०ए०सो० (१९०८) पृ० १७९

५. वही--पृ० १७९ और ज०रा०ए०सो (१९१५),पृ० ८४१

कृष्ण को वनस्पतियों की आत्मा कहते हैं[1]। कीथ अपने तर्कों के आधार पर भी कृष्ण का विष्णु से ही सम्बन्ध स्थापित करते हैं कि अगर कृष्ण अलग से पूर्ण रूप से देवत्व प्रकट करते हैं तब भी हम कह सकते हैं कि वह लोगों के मस्तिष्क से विष्णु से भिन्न नहीं हैं। अतएव विष्णु के सौर्य चरित्र गुणों से युक्त कृष्ण भी विष्णु में समाविष्ट हुए से प्रतीत होते हैं।

प्रकृति के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध स्थापित किया गया है,परन्तु इनके तर्कों में बल नहीं जान पड़ता। केवल कृष्ण का गौओं के साथ सम्बन्ध होने से उनको उर्वरता का देवता कहना युक्त नहीं है,लेकिन विष्णु का गौ से सम्बन्ध होने के कारण उनसे तादात्म्य स्थापित करता ही है। बाल्यावस्था में कृष्ण का सम्बन्ध गाय-बैलों से दिखाना कोई विशिष्ट बात नहीं थी,क्योंकि यमुना का क्षेत्र वैदिक समय के पूर्व भी गायों के समूह से युक्त जाना जाता था[2]। अतः विष्णु के बाद कृष्ण भी इस क्षेत्र की विशिष्टता से युक्त हो गये। विष्णु को सौर्यमण्डल से युक्त करने का कारण चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए विष्णु द्वारा दुःखों का उन्मूलन करना था।

आदित्य अन्धकार को प्रकाश द्वारा नष्ट करता है। तिमिराच्छादित पृथ्वी पर हेमन्त और शिशिर ऋतु की कड़कती ठण्ड में प्रकाश के कारण बसन्त आ जाता था। इसी दुःखमोचन के कारण विष्णु आदित्य का देवता माना जाने लगा। गीता में भी कृष्ण अपने को " आदित्यानामहं विष्णु" कहते हैं[3]। "गो" का अर्थ किरण लेने पर सूर्यरूप गोविन्द कहे जाते हैं।

---

१. ज०रा०ए०सो० (१६०७) पृ० ६६२

२. स्टडीज़ इन एपिक्स एण्ड पुरानाज़--प्रोफ़ेसर ए०डी० पुसालकर,पृ० ८१

३. श्रीमद्भागवत गीता-- १०।२१

सूर्य मार्तण्ड के रूप में अदिति के आठवें पुत्र हैं, जैसे पौराणिक कृष्ण देवकी की आठवीं सन्तान हैं। पौराणिक कृष्ण की तरह मां द्वारा निष्कासन का प्रसंग यहां पर भी है[1]। आदित्य का देवता माने जाने के कारण कृष्ण का सूर्यलोक से परे गोलोक में निवास स्थान माना जाने लगा।

श्रीकृष्ण में देवत्व की प्रतिष्ठापना विष्णु के मूलभूत गुणों के आधार पर विष्णु की सर्वोत्कृष्टता को ही सूचित करती है। ऋग्वेद में विष्णु एक महत्वपूर्ण देवता के रूप में प्रारंभ में परिगणित नहीं किये गये, परन्तु यजुर्वेद में यज्ञ की महत्ता के साथ विष्णु के महत्व का प्रतिपादन हुआ। विष्णु तीन डग में ब्रह्माण्ड का संक्रमण करने के कारण ऋग्वेद में आदित्यमात्र तो समझे जाते ही हैं एवं परमानन्द पर पहुंचते-पहुंचते अन्य देवताओं से प्रतिष्ठासूचक शब्द भी ग्रहीत करते हैं, जिनमें चक्रपाणि, कृष्ण जैसे शब्द वैदिक देवता सवितृ वाले वर्णनों से किसी न किसी प्रकार लिये गये हैं[2]। इसी प्रकार केशव, वासुदेव, वृष्णिपति, वृषण, वृषभ, वृत्रहन्ता जैसे नामादि इन्द्र के लिए जो उपयुक्त होते थे, वे धीरे-धीरे विष्णु के कई नामों एवं उपाधियों के आधार बन गये[3]।

बौधायन धर्मसूत्र में विष्णु, नारायण, माधव अन्य सब देवताओं सहित एक ही संदर्भ में प्रयुक्त हैं[4]।

---

१. रैलिजन्स आफ इन्डिया--डॉ० ए०बी० बार्थ--पृ० १७३

२. आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो कृष्णेन रजसा यामृणोति सविता कृष्णा रजांसिदधा
--ऋग्वेद १।३५।२

३. भक्ति कल्ट इन एन्शियेन्ट इन्डिया--बी०के० गोस्वामी, पृ०१०१-१०२

४. ओं केशवं तर्पयामि। नारायणं तर्पयामि। माधवं तर्पयामि। गोविन्दं तर्पयामि। विष्णुं तर्पयामि। मधुसूदनं तर्पयामि। त्रिविक्रम तर्पयामि। वामनं तर्पयामि। श्रीधरं तर्पयामि। हृषीकेशं तर्पयामि। पद्मनाभं तर्पयामि। दामोदरं तर्पयामि। श्रियं देवीं तर्पयामि। सरस्वतीदेवीं तर्पयामि। वैनतेयं तर्पयामि। विष्णु-पार्षदांस्तर्पयामि। तुष्टिं देवीं तर्पयामि। वैनतेयं तर्पयामि। विष्णुपार्षदांस्तर्पयामि। विष्णु पार्षदीश्च तर्पयामि।
--बौधायन धर्मसूत्र, द्वितीय ५,६,१०

ग्रियर्सन के द्वारा भागवत सम्प्रदाय सूर्य की उपासना का ही विकसित रूप है। उनकी दृष्टि में कृष्ण के धार्मिक विचारों और सूर्योपासना में घनिष्ट सम्बन्ध है। कृष्ण सूर्य के पुजारी थे[1] और उन्होंने दूसरों को आंगिरस के उपदेश दिये। कौशीतकी ब्राह्मण ३०-६ में कृष्ण आंगिरस का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार वे सूर्य के उपासक थे।

छान्दोग्योपनिषद् में देवकीपुत्र कृष्ण को घोर आंगिरस का शिष्य कहा गया है।[2] छान्दोग्य के कृष्ण मानव रूप से तो वर्णित हैं परन्तु वह प्रसिद्ध देव थे, जिनका तादात्म्य विष्णु के साथ होकर ही वैष्णव धर्म का विकास हुआ।[3]

देवकीपुत्र मातृसत्तात्मक समाज को द्योतित करता है जो वैदिक काल से पूर्व का है, जो कृष्ण को वैदिक काल से पहले का मानता है। परन्तु पौराणिक कृष्ण की माता के नाम का सादृश्य होने के कारण एवं छान्दोग्य में प्रतिपादित मत का भगवद्गीता में प्रतिपादित सिद्धान्तों के साथ साम्य को देख कर गार्बे, ग्रियर्सन, मजूमदार रायचौधरी, भाण्डारकर आदि विद्वानों की धारणा है कि दोनों एक ही व्यक्ति हैं।[4]

---

१. ग्रियर्सन (इंडियन एन्टीक्वैरी १९०८) पृ० २८३ इनसाइक्लोपीडिया आफ रैलिजन एण्ड एथिक्स (द्वितीय), पृष्ठ ५४० । अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सैक्ट--हैमचन्द्र राय चौधरी--पृष्ठ ५२-६१, ७८, ८३ । ज०रा०ए०सो०बाॅ०बं०(एच०सी०रे) १९२३, पृष्ठ ३७१ ।

२. छान्दोग्योपनिषद् तृतीय १७.६ ।

३. रैलिजन्स आफ इन्डिया--हापकिन्स--पृ० ४६६--लन्दन, १९०२
रैलिजन्स आफ इन्डिया--ए०बी०बार्थ-पृ० १६२--लन्दन, १९३६

४. हिन्दू गाड्स एन्ड हीरोज़--लन्दन १९२२--पृ० ८२, ८३
ज०रा०ए०सो०(१९२६) पृष्ठ १२३-१२६ ।
इनसाइक्लोपीडिया आफ रैलिजन्स एण्ड एथिक्स (भाग२) पृ० ५३५-५३८ ।
अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सैक्ट--हैमचन्द्र रायचौधरी, पृ० ७९ से ८३--द्वितीय संस्करण, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९३६ ।

मैक्समूलर, सुशील कुमार डे, मैक्डोनल और कीथ इस बात से सहमत नहीं हैं।[१] लोकमान्य तिलक भी "गीतारहस्य" में छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित कृष्ण को एवं गीता के कृष्ण को भिन्न मानते हैं।[२] भण्डारकर भी वैदिक ऋषि कृष्ण को महाभारत के वासुदेव कृष्ण से भिन्न बताते हैं किन्तु कालान्तर में वैदिक ऋषि कृष्ण नाम-साम्य एवं गुणमाहात्म्य के कारण महाभारत कृष्ण से अभिन्न हो गया। वासुदेव भी "अपत्यवाचक" संज्ञा न होकर देवतारूप था, बाद में कृष्ण से इसका अभेद हो गया। कालान्तर में उन्हें वृष्णिकुल के वंशवृक्ष में भी स्थान मिल गया।[३]

लोकमान्य तिलक के अनुसार श्रीकृष्ण चार-पांच नहीं हुए, एक ही ऐतिहासिक पुरुष थे जिन्होंने गीता के उपदेश दिये।[४]

वैदिक ऋषि कृष्ण एवं गीता के प्रणेता कृष्ण को अभिन्न मानने वाले एवम् तिलक, मैक्समूलर आदि के मत का निराकरण करने वाले विद्वान् काष्णायन गोत्र के आधार पर वसुदेव के पुत्र का नाम रखने का प्रमाण देते हैं।

भण्डारकर के अनुसार कृष्ण के ऋषि होने की परम्परा ऋग्वेद के समय से लेकर छान्दोग्योपनिषद् तक ही आयी, जबकि काष्णायन गोत्र था, जिसके मूल पुरुष कृष्ण थे।[५] अतएव प्रतीत होता है कि वैदिक वाङ्मय में कृष्ण देवकीपुत्र, घोर आंगिरस के शिष्य, ब्रह्मविद्या के ज्ञाता, मन्त्रद्रष्टा के रूप में थे। वेदों के कृष्ण न तो देवता थे और न अवतार ही। उनका तादात्म्य तो अन्य देवताओं के साथ स्थापित करने के लिए ही प्रयत्न किया गया।

---

१. सैक्रेड बुक आफ दि ईस्ट, भाग १--पृ० ५२ टिप्पणी १। गीतारहस्य--श्री बालगंगाधर तिलक, पृ० ५४८। इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग १८ दिसम्बर, १९४९ नं० ४--पृ० २९७। वैदिक कोश खण्ड १--पृ० १०८।

२. गीतारहस्य--बालगंगाधर तिलक--पृ० ५४८

३. वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर रैलिजस सैक्ट्स--डॉ० आर०जी०भंडारकर, पृ०१२-१३

४. गीतारहस्य--बालगंगाधर तिलक--पृ० ५५०

५. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर रैलिजस सैक्ट्स--डॉ०आर०जी०भंडारकर--पृ०१३।

तैत्तरीय आरण्यक के दसवें प्रपाठक के अनुसार नारायण ही वासुदेव हैं[1]। उसी आरण्यक में कूर्मावतार[2] और वासुदेव श्रीकृष्ण का वर्णन है। प्रारम्भिक समय में तो विष्णु,नारायण अलग-अलग थे,परमात्म स्वरूप में ही इनका प्रयोग होता था,फिर भी उनका एकीकरण तैत्तरीय आरण्यक की रचना के समय तक न हो सका[3]।

तैत्तरीय आरण्यक में वासुदेव कृष्ण विषयक छन्द मिलते हैं[4]। इस आधार पर ब्राह्मणकालीन विष्णु परम देवता कालान्तर में नारायण से अभिन्न हो गये। अवतार की कल्पना में ब्राह्मण और उपनिषद् में वर्णित नारायण को कृष्ण का अवतार बता कर विष्णु और कृष्ण का तादात्म्य स्थापित कर दिया गया[5]। दो ऋग्वैदिक मन्त्रों में सायण की टीका के अनुसार कृष्ण असुर थे[6]। कुछ लोग असुर कृष्ण से ही पौराणिक कृष्ण का विकास मानते हैं परन्तु सायणकृत भाष्य से जिन ऋचाओं में असुर कृष्ण की बात कही गयी है,उन मूल ऋचाओं को भलीभांति देखने से किसी

---

१. नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।--तैत्तरीय-आरण्यक,दसवां प्रपाठक। आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली १८६८ ई० अनुभाग १।
   आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
   अयनं तस्य ताः प्रोक्तास्तेन नारायणः स्मृतः।
   स च कृष्णावतारे वसुदेवस्य पुत्रत्वाद्वासुदेवः।
   स च स्वकीयेन वास्तवेन परब्रह्मरूपेण व्यापित्वाद्विष्णुः।
   --तैत्तरीय आरण्यक,नारायण उपनिषद्,प्रथम अनुभाग,पृ० ७००।

२. कूर्मावतार १।२३।१ और वासुदेव कृष्ण १०।१।६ का इसी आरण्यक में वर्णन है।

३. अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सैक्ट्स--हेमचन्द्र रायचौधरी,पृ० १८-१६।

४. तैत्तरीय आरण्यक-- १०।१।६

५. शतपथ ब्राह्मण-- १२।३।४

६. सायण की ऋग्वेद पर टीका--प्रथम ११६,२३ और प्रथम।

अनार्य कृष्ण की बात प्रकट नहीं होती । यदि भाष्य ठीक भी हो फिर भी असुर कृष्ण एवं पौराणिक कृष्ण का ऐकात्म्य सिद्ध नहीं हो सकता[1]। पौराणिक कृष्ण का सम्बन्ध न तो आंगिरस से है और न उन्हें किसी भी पुराण में मंत्रद्रष्टा कहा गया है । अतएव वैदिक कृष्ण तथा पौराणिक कृष्ण को अभिन्न बताना निराधार ही है । उत्तरकालीन साहित्य पर दृष्टिपात करने पर कृष्ण वृष्णियों के नेता ही दृष्टिगोचर होते हैं,सायण भाष्यानुसार असुर नहीं ।

कृष्ण हारीत भी ऐतरेय आरण्यक से जाने जाते थे[2]। इस प्रकार निस्सन्देह ही दो बिल्कुल भिन्न व्यक्तित्व से ही उस समय प्रकट होते थे[3]।

इसी प्रकार ब्राह्मणों द्वारा रचित कार्य न होने वाले औपनिषत्सूत्र की तरह वासुदेव कृष्ण तथा बलदेव आठ ब्राह्मण अध्येताओं में भी परिगणित किये जाते हैं, परन्तु गार्बे,ग्रियर्सन,कीथ उनको क्षत्रिय मानते हैं जो नैतिकता के अध्येता एवं ब्राह्मण धर्म के विरोधी थे[4]।

विष्णु से कृष्ण का तादात्म्य स्थापित हो जाने पर भी इन्द्र की जीवन-घटनाओं से कृष्ण का अधिक साम्य होने के कारण उनसे भी एकता स्थापित की गयी । विष्णु चरमोत्कर्ष पर पहुंच कर वैदिक देवता इन्द्र से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं,जिसके फलस्वरूप तद्गुणों से समन्वित कृष्ण भी उनसे सम्बन्धित हो जाते

---

१. हिन्दी साहित्य में कृष्ण--डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ--पृ० ४ और ५

२. ऐतरेय आरण्यक (३)-- २, ६

३. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली (भाग १८) पृ० २९७-३००
स्टडीज़ इन एपिक्स एण्ड पुरानाज़--प्रो० ए०डी० पुसालकर,पृ० ५६

४. कल्चरल हैरीटेज आफ़ इण्डिया (रामकृष्ण मिशन भाग ४)--पृष्ठ ११४ ।

हैं । कृष्ण की अलौकिक लीलाएं इन्द्र की लीलाओं से--जैसे गायों को घेरे से मुक्त करना एवं युद्धजयी होना कृष्ण के जीवन चरित्र से--साम्य रखती हैं । कृष्ण के जन्म के समय देवकी द्वारा भगवान् कृष्ण की स्तुति अदिति की स्तुति के तुल्य है । इन्द्र उत्पन्न होते ही जैसे परम देव बन जाते हैं उसी प्रकार कृष्ण भी जन्म प्राप्त कर विशिष्ट देवत्व से युक्त हो गये[१] । वृत्रासुर के वध का चिन्तन भी कंसवध के पूर्व कृष्ण के चिन्तन के समान है । यदि यह कहा जाये कि परवर्ती साहित्य के कृष्ण विष्णु एवं इन्द्र के प्रतिरूप हैं तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी । श्री कैनेडी महोदय[२] भी कृष्ण को झंझावात दैत्यों को नियन्त्रित करने वाला मेघ कहते हैं । उनके ज्येष्ठ भ्राता फसल का देवता एवं मां को अपने भाई कंस से सम्बद्ध होने के कारण असुर जाति का कहते हैं । कृष्ण को विशिष्ट गुणों से युक्त दिखा कर उनको दिव्य पुरुष कहा गया है । वज्रपात करना एवं गायों, बैलों एवं झंझावात

---

१. ऋग्वेद (इन्द्रसूक्त) चौथा मण्डल १८वां सूक्त--इसमें अदिति की स्तुति देवकी की स्तुति के तुल्य है । नारकीय स्थान से मुक्ति की प्रार्थना कृष्ण के कारागार में जन्म लेने से कितना साम्य रखती है ।
   अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे ।
   अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः ।। १
   सोम की चोरी में माखनचोरी का बीज द्रष्टव्य है ।
   परायतीं मातरमन्वचष्ट न नानु गान्यनु नू गमानि ।
   त्वष्टुर्गृहे अपिबत्सोममिन्द्रः शतधन्यं चम्वोः सुतस्य ।।--ऋग्वेद ४।१८।३
   ऋग्वेद २।१२।१-१५ में बहुत-सी समता मिल जाती है ।

२. ज०रा०ए०सो० (१९०८)--
   बाइल्ड कृष्ण एण्ड हिज़ क्रिटिक्स--जे० कैनेडी--पृ० ५२१ ।

के स्वामी होने के कारण इन्द्र को कृष्ण से समीकृत किया जा सकता है। भण्डारकर के अनुसार भी "गोविन्द" गोविद का परवर्ती रूप है जो ऋग्वेद में इन्द्र के लिए प्रयुक्त होता था। कैशिनिषूदन भी इन्द्र के लिए प्रयुक्त होने के कारण वासुदेव कृष्ण के लिए भी परवर्तित हो गया[१]।

श्री रैन्यू के अनुसार वासुदेव कृष्ण और इन्द्र यही केवल दो भारतीय देवता थे जो कि बाल्यावस्था रखते थे[२]। इसी कारण इन्द्र से कृष्ण का सम्बन्ध जोड़ना अधिक समीचीन लगता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर अंशुमती नदी के किनारे इन्द्र के साथ दस सहस्त्र योद्धाओं से युक्त कृष्ण के युद्ध का वर्णन है। इस पर दृष्टिपात करके इस तथ्य की भी सूचना मिल जाती है कि पहले जिस कृष्ण की इन्द्र के साथ समता स्वीकार की गयी थी, वह कृष्ण सर्वोत्कृष्ट होने पर इन्द्र का विरोध करने लगा। अतः ऋग्वेद में ही इन्द्र के विरोधी व्यक्तित्व वाले कृष्ण का नाम मिल जाता है[३]। यहां पर इन्द्र और कृष्ण--दोनों नामों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है और जिस अंशुमती नदी का वर्णन है वह संभवतः यमुना हो सकती है, क्योंकि यमुना भी अंशुमती (सूर्य की पुत्री) है[४]। पौराणिक काल में भी कृष्ण का इन्द्र से विरोध दिखाई पड़ने के कारण इन्हें विष्णु के समकक्ष मानना न्यायसङ्गत है।

---

१. वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड माइनर रैलिजस सैक्ट्स (हिन्दी अनुवाद)--डॉ० आर० जी० भण्डारकर--पृष्ठ ४२।

२. रैलिजन्स आफ एंशियन्ट इण्डिया --एल० रैन्यू, पृ० २२।

३. अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त ॥
द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ॥
--ऋग्वेद ८।९६।१३-१४

४. हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य की पृष्ठभूमि--डॉ० गिरिधारीलाल शास्त्री, पृ० २

इस प्रकार से समस्त उपास्य रूपों को अपने में गृहीत करते हुए कृष्ण परम दैवता और परब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित हुए । सात्वत पांचरात्र या भागवत मत के उपास्य श्रीकृष्ण ही थे,वही भागवत के संस्थापक थे।[1] 'भागवत' शब्द ही वह प्रमुख नाम था जो कि भागवतों द्वारा विशिष्ट दैव के लिए प्रयुक्त था।[2] वासुदेव कृष्ण ने ही भागवत पूजा की शिक्षा सात्वत एवं वृष्णियों को दी,बाद में यह दूसरों में विकसित हुई।[3]

कृष्ण के गोपजीवन सूचक कुछ प्रमाण उत्तरवैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करने पर प्राप्त होते हैं। समुद्रगुप्त के प्रयागस्तम्भ के लेख में 'विष्णु गोप' शब्द का उल्लेख है।[4] यह शब्द गोपालकृष्ण और विष्णु के सम्बन्ध को पुनः प्रमाणित करता है।

विष्णु का पद गोलोक कहलाता है।[5] निस्संदेह गोपवेशधारी श्रीकृष्ण ही हैं,यह तो पूर्ववर्ती प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेदीय विष्णु से तादात्म्य स्थापित हो जाने के उपरान्त ही निश्चित हो गया था।

---

१. इन्डियन एन्टीक्वैरी (१९०८)--ग्रियर्सन,पृ० २५३ ।

२. ज०रा०ए०सो० (१९१०),पृ० १५६ --ग्रियर्सन ।

३. हिस्ट्री आफ रैलिजन्स,भाग १--जी०एफ० मूरे,पृ० ३३१ (एडिनबर्ग १९१४)
   अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सैक्ट्स (प्रथम संस्करण)--हेमचन्द्र राय चौधरी,पृ०५५
   इनसाइक्लोपीडिया आफ रैलिजन्स एण्ड एथिक्स,भाग २,पृ० ५४० ।
   इंडियन एन्टीक्वैरी (१९०८)--ग्रियर्सन,पृ० २५३ ।

४. अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सैक्ट्स--डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी,पृ०४७ ।

५. ब्रह्म संहिता ३।२

"नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्" का अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि उसमें भी भगवान् को महाविष्णु ही कहा गया है। यह भगवान सोलह कलाओं से युक्त होकर तीन प्रकार के तेजों से व्याप्त रहते हैं। यही विष्णु पुरुषोत्तम वासुदेव और देवकीपुत्र भी हो जाते हैं।

गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् में भी भगवान् को परम देवता और गोपीजन-वल्लभ इस विशेषण से विभूषित किया गया है।[1] इस उपनिषद् में भगवान् के रूप का सुन्दर विशद वर्णन है।[2] गोपालतापिनी उपनिषद् के उत्तरभाग में भी प्रारम्भ में ही कामयुक्त व्रज स्त्रियाँ और सर्वेश्वर गोपालकृष्ण का उल्लेख मिलता है।[3] सर्वश्रेष्ठ गोपी को "गान्धर्वी" कहा गया है।[4]

कृष्णोपनिषद्[5] और गोपालोत्तरतापिनी में तो अधिक विस्तार के साथ अध्यात्म रूपकों का वर्णन किया गया है। यह शरीर व्रजभूमि है, इन्द्रियाँ गोएं हैं। नारायणोपनिषद् में नारायण को हरि, ब्रह्म और विष्णु भी कहा गया है तथा समस्त चराचर जगत् को नारायण रूप कहा गया है।[6] इस उपनिषद् में देवकीपुत्र

---

१. कृष्णो वै परमं दैवतम् । गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति । गोपीजनवल्लभज्ञानेनैतद्विज्ञातं भवति ।--गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्--पृ० ४६४ ।

२. गोपालतापिनी उपनिषद् पूर्वभाग, पृ० ४६४

३. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद: के अन्तर्गत गोपालतापिनी उपनिषद्, उत्तरभाग, पृ-४६६

४. तासां मध्ये हि श्रेष्ठा गांधर्वी -- वही, पृ० ४६७ ।

५. देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते ।
निगमो वासुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः ।।--कृष्णोपनिषद् (६)
गोप्यो गाः ऋचस्तस्य --कृष्णोपनिषद् (८)
द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः । दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः ।।-- वही (१४)
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै । अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः ।।-- वही (१५)

६. नारायणोपनिषद्-- श्लोक (१३)

का उल्लेख है और उसे मधुसूदन, पुण्डरीकाक्ष, विष्णु और अच्युत कहा गया है।[1] "वासुदेवोपनिषद्" में भी वासुदेव ने भक्त के लिए शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी, द्वारिकावासी, गोविन्द, पुण्डरीकाक्ष, अच्युत श्रीकृष्ण का ध्यान आवश्यक बताया है।[2] "राधोपनिषद्" में भी राधा जी के स्वरूप वर्णन के साथ कृष्ण को परमदेव बताया गया है। राधा आह्लादिनी शक्ति है।[3]

वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् श्रीकृष्ण के जीवनवृत्त का चित्रण करने वाला ग्रन्थ महाभारत है। इसमें भी एक स्थान पर नारायण एवं हरि को एकरूप बताया गया है, जो नर तथा हरि है, वही नारायण है।[4] कृष्ण को ही इस चराचर जगत् का उत्पत्ति स्थान कहा गया है।[5] महाभारत के आदि पर्व में भी श्रीकृष्ण को परब्रह्म परमात्मा का अवतार माना गया है।[6] शान्तिपर्व में अपने को वासुदेव कहने का कारण भी बताया है।[7] इससे प्रतीत होता है कि नारायण वासुदेव रूप से

---

१. ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः। ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः। -- नारायणोपनिषद्, श्लोक १४।

२. वासुदेवोपनिषद् -- श्लोक १-२०

३. राधोपनिषद्। (कल्याण का उपनिषद् अंक) -- पृ० ६६२।

४. नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्। काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी। अनन्यः पार्थमत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च। नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ। -- महाभारत ३।१२।४६-४७

५. कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः। कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥ एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः। परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः॥ -- महाभारत २।३८।२३-२४।

६. अनुग्रहार्थं लोकानां विष्णुर्लोकनमस्कृतः।
वासुदेवात् तु देवक्यां प्रादुर्भूतो महायशाः॥ -महाभारत, आदिपर्व ६३, श्लोक ९९
अनादिनिधनो देवः स कर्ता जगतः प्रभुः।
अव्यक्तमक्षरं ब्रह्म प्रधानं त्रिगुणात्मकम्॥ -वही-- १।६३।१००
आत्मानमव्ययं चैव प्रकृतिं प्रभवं प्रभुम्।
पुरुषं विश्वकर्माणि सत्त्वयोगं ध्रुवाक्षरम्॥ -- वही १।६३।१०१
-- महाभारत १।६३।१०१ से १०३ तक।

७. सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वर्यं विधिमास्थितः।
सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते। -- शांतिपर्व ३३५।८७

कालान्तर में परिगणित हो गये तभी तो वासुदेव कहने का कारण बताया गया है। "कृष्ण" नाम पृथ्वी के सुख पहुंचाने के अर्थ में भी व्यवहृत होता है।[1]

महाभारत में विष्णु को कृष्णरूप ही माना गया है। वनपर्व में मार्कण्डेय प्रलयकाल में जगत् को आत्मसात् करके वटवृक्ष के पत्र पर शयन करने वाले विष्णु को कृष्ण रूप बतलाते हैं।[2] शान्तिपर्व में भी भीष्मस्तवराज के अन्तर्गत कृष्ण के विष्णु स्वरूप की स्तुति की गयी है।[3] सभापर्व में भी शिशुपाल आदि राजाओं के विरोध करने पर भी भीम कृष्ण के विष्णु स्वरूप पर ही प्रकाश डालते हैं।[4]

महाभारत के कुछ स्थल कृष्ण के दैवत्व-भिन्न मानव रूप को प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। आश्वमेधिक पर्व के अनुगीता भाग में उत्तंक ऋषि का कृष्ण को शाप देने को उद्यत होना कृष्ण के मानव चरित्र की ओर संकेत करता है।[5] सभापर्व में गोपाल स्वरूप वाला वृत्तान्त प्राप्त है।[6] इस पर्व में (अध्याय ३८) में भीष्म कृष्ण

---

१. कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः ।।
--महाभारत,उद्योग पर्व ७० अध्याय ,श्लोक ५

२. यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः ।
स एष पुरुषव्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः ।।--महाभारत ३।१८९।५२

३. विश्वकर्मन्नमस्तेस्तु विश्वात्मन्विश्वसंभव: ।
विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ।।-- महाभारत १२।४३।५

४. महाभारत २।३८ अध्याय ।

५. महाभारत १४।५४।१०-२७

६. वही--२।२२।४-३६,३६-४४

के बाल स्वरूप का वर्णन करते हैं,परन्तु यह दक्षिण संस्करण है । शिशुपाल गोकुल में कृष्ण द्वारा किये गये कर्मों का वर्णन करता है,भीष्म प्रशंसा करते हैं[1]। भीष्मपर्व (अध्याय ३८) ने कृष्ण की जो स्तुति की है,उसमें इन कर्मों का उल्लेख नहीं है । अतः प्रकरण प्रक्षिप्त है[2]। वनपर्व तथा शान्तिपर्व में[3] कृष्ण के बाल-स्वरूप का वृत्तान्त है । अर्वाचीन होने के कारण यह महत्व नहीं रखता । कुछ विद्वानों द्वारा महाभारत में बालस्वरूप कृष्ण का निर्धारण न किये जाने पर चिन्तामणि विनायक वैद्य का कहना है कि वैसे तो महाभारत में कृष्ण की युवावस्था एवं उसके बाद का रूप है,परन्तु कुछ संकेत द्रौपदी द्वारा प्रयुक्त विशेषण "गोपीजन-प्रियजन" इस दिशा की ओर संकेत देता है[4]। सामवेद में हरिकी वामनलीला,गोपाल-लीला के बीज विद्यमान हैं[5]।

---

१. महाभारत २।४१।४,७,११, ५।१३०।४६-५०

२. वैष्णविज़्म,शैविज़्म एण्ड अदर रैलिजस सैक्ट्स--डॉ० आर०जी०भंडारकर,पृ० ४१

३. नैवं परे नापरे वा करिष्यन्ति कृतानि वा ।
   यानि कर्माणि देव त्वं बाल एव महाबलः ।।
   कृतवान् पुण्डरीकाक्ष बलदेवसहायवान् ।
   महाभारत ३।१२।४२-४३
   ,, १२।१६४।६६-६७

४. एपिक इन्डिया--प्रो० सी०वी० वैद्य--पृ० ३६६ ।

५. शिशु जज्ञानं हरिं मृजन्ति ।
   -- सामवेद--मंत्रसंख्या १३३४

अतः गोपालकृष्ण की संस्कृति को विदेशी बताने वाले डा० भण्डारकर, कैनेडी तथा वेबर का कथन अनुचित प्रतीत होता है[१]। ये विद्वान् बालकथा से परिवेष्टित ईसाईयत "जीसस" से ही कृष्ण का सम्बन्ध जोड़ते हैं। ईसा का रूपान्तरमात्र मानकर कृष्ण की सत्ता का निराकरण पाश्चात्य विद्वानों ने किया है। ख्रिष्ट का असली नाम येशुआ (हिब्रू या जीसस) था। अंग्रेजी क्राइस्ट शब्द बना ग्रीक क्राइस्टस से। यह एक उपाधि विशेष है,अर्थ है मसीहा या अभिषिक्त। यूनानी "क्राइस्ट" शब्द को किसी कारीगरी से कृष्ण में परिणत नहीं किया जा सकता ,क्योंकि कृष्ण शब्द के साथ यूनानी क्राइस्ट शब्द का कोई साम्य नहीं है।

भण्डारकर का अनुमान है कि आभीर "क्राइस्ट" शब्द अपने साथ लाये हों और यही नाम वासुदेव कृष्ण के साथ भारत में बालदेवता के एकीकरण का कारण हुआ हो। इससे प्रतीत होता है कि आभीरों का "क्राइस्ट" शब्द संस्कृत भाषा में कृष्ण हो गया[२]। परन्तु स्वयं महाभारत में कृष्ण की बाललीला का अभाव नहीं है तो उपर्युक्त विदेशी दृष्टिकोण पर आस्था रखने का क्या मूल्य हो सकता है ?

श्रीकृष्ण का नाम सर्वप्रथम आदिपर्व के अन्तर्गत द्रौपदी स्वयंवर में आया है। बलराम,कृष्ण आदि यदुवंशियों के वहां पहुंचने की बात कही गयी है[३]।

अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों प्रिय सखा पूर्व जन्म में नर-नारायण नाम के ऋषि थे[४]। यहां पर श्रीकृष्ण को वेद में उल्लिखित ऋषि परम्परा में माना गया है।

---

१. ज०रा०ए०सो (१९०८)--चाइल्ड कृष्ण एन्ड हिज़ क्रिटिक्स --जे० कैनेडी।

२. कलेक्टेड वर्क्स आफ़ भंडारकर,भाग ४,पृ० ५३।

३. महाभारत १।१९० अध्याय।

४. आस्तां प्रियसखायौ तौ नरनारायणवृषी -- महाभारत,आदिपर्व २२०।५
पूर्वदेवौ महात्मानौ नरनारायणावुभौ -- द्रोणपर्व, ११-४९।

कनपर्व अध्याय १२ में श्लोक ११ से २० तक तथा श्लोक २५,२८ और ४२ से ४४ तक कृष्ण के विविध योनियों में जन्म लेने,असुरों का वध करने और दान,यज्ञ एवं तप करने का भी वर्णन पाया जाता है। यहां पर कृष्ण ऐतिहासिक प्रसिद्धि प्राप्त मानव रूप से ही विशिष्ट बल का आधान किये हुए से ही जन्मग्रहण करते हैं। अतएव महाभारत के अनुसार कृष्ण एक परम योद्धा,महायोगी ही सिद्ध होते हैं।

'वासुदेव' शब्द की विस्तृत व्याख्या भी महाभारत में मिलती है।[1] उसमें वासुदेव को वसुदेव का पुत्र कहा गया है।[2] भीष्मपर्व के पैंसठवें अध्याय में ब्रह्मदेव द्वारा की गयी परमेश्वर स्तुति में 'वासुदेव' शब्द आया है। वसुदेव-पुत्र यहां आराध्य बन गये हैं। इसी पर्व के अध्याय ६६ में प्रजापति ने परमेश्वर से वासुदेव का अवतार मानव-योनि में धारण करने की प्रार्थना की। इस प्रकार इस पर्व में परमात्मा को नारायण एवं विष्णु कहा गया है तथा वासुदेव से उसका एकत्व प्रतिपादित किया गया है।[3]

शान्तिपर्व का नारायणीय उपपर्व कृष्ण के परब्रह्म स्वरूप को सर्वाधिक प्रकाशित करने वाला है।[4] इसमें नर-नारायण,कृष्ण और हरि को सनातन नारायण के चार अवतार कहा गया है।[5] यहां पर भी वासुदेव कृष्ण स्वयं को सूर्य से सम्बन्धित करते हैं।[6] यह वैदिक वाङ्मय के सौर्यमण्डल रूप कृष्ण के प्रतिफलन का परिणाम स्वरूप ही है।

वेदों तथा महाभारत में उपलब्ध सूर्य के प्रति कृष्ण की उपास्य भावना अत्यन्त स्पष्ट रूप से श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में भी वर्णित की गयी है। सत्यजित यादव

---

१. श्रुतं मे वासुदेवस्य नामनिर्वचनं शुभम्।
 यावत् तत्राभिजानेऽहमप्रमेयो हि केशवः ।।-- महाभारत ५।७०।२
 वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः।
 वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्वाद् विष्णुरुच्यते ।।--वही-- ५।७०।३

२. उक्तवांश्च महाबाहो व्यासो वृष्णिकुलाधमः।
 वासुदेवः स मन्दात्मा वसुदेवसुतो गतः ।। -- महाभारत ३।१४।८

३. वैष्णविज्म शैविज्म एन्ड अदर रैलिजस सैक्ट्स--डा० आर०जी० भंडारकर,पृ०३६

४. महाभारत १२।३२६।३९,१२।३३६।८२,१२।३३८।१४

५. महाभारत १२।३२१।८-१०

६. छादयामि जगद् विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः।
 सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ।।-- महाभारत १२।३४१।४१

सूर्य द्वारा प्राप्त स्यमन्तक मणि पहनकर जब सुधर्मा सभा में आता है तो सभासद यही समझते हैं कि सूर्य देवता स्वयं श्रीकृष्ण से मिलने आये हैं । इस प्रसंग के अनुसार यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य प्रायः कृष्ण से मिलने को आया करते थे ।

शान्तिपर्व के अध्याय ४३ में युधिष्ठिर कृष्ण की स्तुति में एक श्लोक का गान करते हैं जिसमें कृष्ण को विष्णु माना गया है ।

महाभारत के उपरान्त विष्णु के साथ कृष्ण का तादात्म्य स्थापित करनेवाला ग्रन्थ पतंजलि का महाभाष्य भी है । पतंजलि के "शिव भागवत" शैवभक्त का उल्लेख भागवत धर्म के उदय को प्रकट करता है ।

"भागवत" शब्द विष्णु के भक्त की संज्ञा है । अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु के लब्धप्रतिष्ठ होने के उपरान्त पतंजलि की अष्टाध्यायी टीका में भगवन्त के लिए प्रयुक्त "वासुदेव" संज्ञा विष्णु से संयुक्त कर दी हो । यह दृष्टान्त भी विष्णु से कृष्ण का तादात्म्य स्थापित कराने में सहायक है ।

पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में "वासुदेव" शब्द आया है[1] । कीथ अपने लेख में भगवान् के लिए प्रयुक्त वासुदेव संज्ञा का ही समर्थन करते हैं । परन्तु कीलहोर्न कीथ के इस वक्तव्य का जोरदार खण्डन करते हैं एवं इसका एवं इसका कारण महाभाष्य के बनारस संस्करण का त्रुटिपूर्ण अध्ययन बता देते हैं[2] । महाभाष्य की कई प्रतियों में "संज्ञैषा तत्रभगवत:" के स्थान पर "संज्ञैषा तत्रभवत:" मिलता है । "तत्रभवान्" शब्द तो आदरणीय देवताओं के लिए प्रयुक्त होता था, मनुष्य के लिए ही नहीं । परन्तु कीलहोर्न के अनुसार तो "तत्रभवत:" संज्ञा विशिष्ट नामवाले दैवी पुरुष को ही इंगित करती है ।

---

१. वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् --पाणिनिकृत अष्टाध्यायी - ४।३।९८

२. ज०रा०ए०सो० (१९०८-९३)--श्री के०बी० पाठक--पृ० ९६ से १०३

"वासुदेव संज्ञा" देवता विशेष" को मानने के पक्ष में जयादित्य जैनेन्द्र एवं कैयट हैं,जो विशिष्ट देवता वासुदेव को ही घोतित करते हैं,क्षत्रिय को नहीं [१]। परन्तु तार्किक बुद्धि किसी भी तथ्य का निराकरण करने में अपनी सफलता समझती है। अत: इस देवता विशेष" वासुदेव" को क्षत्रिय से सम्बन्धित करके नागोजिभट्ट अपने" कैयटप्रदीप" की व्याख्या में कहते हैं कि क्षत्रिय नाम का देवता विशेष होने के कारण बहुव्रीहि का प्रयोग किया है। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार भी" सब जगह विद्यमान वासुदेव विद्वानों द्वारा प्रार्थनीय हैं [२]। अतएव इन सब प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विशिष्ट देवता वासुदेव ही क्षत्रिय से ऐकात्म्य स्थापित करके अभिन्न हो गया।

पतंजलि के महाभारत में" कंसवध" तथा" बलिबन्धन" नामक दो नाटकों के अभिनय का उल्लेख किया गया है। इसमें वासुदेव द्वारा कंस के मारे जाने का उल्लेख है। पतंजलि ने वासुदेव और कृष्ण दोनों नामों का दो भिन्न स्थलों पर कृष्ण के लिए प्रयोग किया है,जिससे विदित होता है कि पतंजलि के युग में कृष्ण और वासुदेव दो भिन्न व्यक्ति नहीं माने जाते थे [३]। परन्तु कई विद्वान् ऐसे भी थे जो वासुदेव कृष्ण को दो भिन्न व्यक्ति मानने में हिचकते न थे। उनके मतानुसार विष्णु,नारायण की भांति ही वासुदेव कृष्ण का एकीकरण हुआ [४]।

पतंजलि ने अपने भाष्य में विष्णु और वासुदेव कृष्ण में कोई अन्तर नहीं रखा है। अतएव पतंजलि के समय १५० शताब्दी ई०पूर्व से पहले ही विष्णु की भावना वासुदेव कृष्ण में मिल गयी होगी [५]। पतंजलि ने वासुदेव को वृष्णि ही माना है [६]।

---

१. ज०रा०ए०सो० (१६०८-१३)--लेख--कै०बी० पाठक--पृ० ६६-२०३

२. सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यत: ।

तत: स वासुदेवेति विद्वद्भि: परिज्ञायते ।।

इति स्मृते: वासुदेव: परमात्मा एव । -- प्रौढमनोरमा भाग १,पृ० ४२६--

बनारस संस्करण ।

३. श्रीकृष्ण हिज़ लाइफ़ एन्ड टीचिंग्स--धीरेन्द्रनाथ पाल (भूमिका)

४. वैष्णवधर्म--परशुराम चतुर्वेदी--पृ० २५ । आस्पेक्ट्स ऑफ् अर्ली विष्णुइज्म - जे० गोंडा, पृ० १६ तथा वैष्णविज्म शैविज्म एन्ड अदर रिलीजस सेक्ट्स - भंडारकर

५. ज०रा०ए०सो० (१६०८)--पृ० १७२ ।

६. अर्ली हिस्ट्री आफ़ वैष्णव सेक्ट्स--डॉ० हेमचन्द्रराय चौधरी,पृ० १०४ ।

यदि पतंजलि के "कृष्णवध" नाटक का दूरदर्शिता के आधार पर मूल्यांकन करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी कंस का वध करने वाले क्षत्रिय वासुदेव को ऐतिहासिक मानते थे जो भिन्न स्थलों पर वासुदेव-कृष्ण प्रयुक्त किये गये --उसका एकमात्र अभिप्राय तो सर्वविद्यमान वासुदेव,जो कि न देवकीपुत्र हैं,न क्षत्रिय,उसी को व्यक्त करना था --दूसरा ऐतिहासिक प्रसिद्धि प्राप्त वासुदेव को । अतः पतंजलि के पूर्ववर्ती मत का उसी भाष्य में निराकरण भी हो जाता है ।

परन्तु इतना तो है कि शौभिक आदि के द्वारा अभिनीत करने के कारण ऐतिहासिक प्रसिद्धि प्राप्त वासुदेव अपने साहसिक कृत्यों के कारण ही ऐतिहासिक कोटि हैं क्योंकि" कंसं जघान किल वासुदेवः" में लिट् लकार का विधान व्यवहार प्रासामान्य होने के कारण पतंजलि के द्वारा वर्तमानकालिक ही था[1] ।वही सर्वविद्यमान वासुदेव रूप ही पतंजलि द्वारा अभीष्ट प्रतीत होता है । इसी स्थल को छोड़ कर अधिकांशतः वासुदेव कृष्ण अभिन्न ही हैं[2] । कैनेडी भी वासुदेव का समीकरण शौर्य-चरित्र के कारण मानते हैं[3] ।

अतएव यह तो स्पष्ट है ही कि पाणिनि से भी पूर्ववर्ती वासुदेव वास्तव में कृष्ण ही हैं,परन्तु वसुदेव के पुत्र होने के कारण तथा ब्राह्मण युग के बहुदेवतावाद के विरुद्ध क्षत्रियों द्वारा एकेश्वरवाद की स्थापना के महत्व के दिग्दर्शनार्थ ही महा-भारतकाल से पूर्व समन्वयवादी काल में उनका वासुदेव नाम ही अधिक प्रचार में आया । परन्तु इतना तो निश्चित है कि महाभारत से पहले से ही कृष्ण और वासुदेव एक ही व्यक्ति माने जाते थे । अतः उन्हें भिन्न व्यक्ति मानना संगत नहीं है ।

अब कतिपय शिलालेखों परभी दृष्टिपात कर लेना उचित होगा कि कहां पर "वासुदेव" नाम आया है ।

---

१. संस्कृत नाटक--श्री ए०बी० कीथ,भाषान्तरकार श्री उदयभानु सिंह--पृ० २२ ।
२. अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सैक्ट्स-हेमचन्द्रराय चौधरी--पृ० २२ ।
३. ज०रा०ए०सो० (१९०७) --जे० कैनेडी--पृ० ९६२ ।

सर्वप्रथम (ई०पूर्व प्रथम शताब्दी के) दक्षिण में पाये जाने वाले नानाघाट शिलालेख संख्या १ में संकर्षण तथा वासुदेव का नाम आया है[१]। इसी प्रकार बेसनगर के शिलालेख पर गरुड़ध्वज की मूर्ति अंकित की गयी है। ग्रीक "हेलियोडर" अपने को "भागवत" कहता है। अतएव हेलियोडर का समय ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी होने के अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय वासुदेव पूजा सुदूर पश्चिम (यूनान) में भी प्रचलित थी[२]।

इस प्रकार पाणिनि,पतंजलि,महाभारत एवं प्राचीन शिलालेखों के आधार पर ही विद्वानों ने प्राचीनकाल में वासुदेव का अस्तित्व एवं उनका भागवत धर्म से सम्बन्ध माना है।

" घटजातक" नामक बौद्ध जातक साहित्य में भी वासुदेव शब्द आया है। इस जातक में वासुदेव को मथुरा-प्रदेश के उत्तरी भाग में रहने वाले किसी राजवंश की सन्तति कहा है[३]। भंडारकर के अनुसार भी " वासुदेव" की व्यक्तिवाचक संज्ञा और कृष्ण का गोत्र नाम होना बौद्धों के" घटजातक" से ही सिद्ध होता है[४]। एक अन्य बौद्धग्रन्थ "ललितविस्तर" में भी (११ वें अध्याय में) कृष्ण नाम आया है।

महाभाग जातक में कान्हा कृष्णायन गोत्रोत्पन्न हैं और पाणिनि रचित अष्टाध्यायी[५] में इसी कृष्णायन को कृष्ण गोत्र से सम्बद्ध माना है।

पालिग्रन्थ" निदेश" से भी ज्ञात होता है कि ईसा के चार सौ वर्ष पहले समाज में वासुदेव की स्थिति थी। जैन ग्रन्थकार कृष्ण को नेमिनाथ के समकालीन

---

१. भागवत सम्प्रदाय--बलदेव उपाध्याय--पृ०८६।

२. वही।

३. जातक-४ (कावेल) पृ० ५०,५४।

४. वैष्णविज्म,शैविज्म एन्ड अदर रिलीजस सेक्ट्स--डॉ० आर०जी०भंडारकर,पृ०१४-१५।

५. अष्टाध्यायी--पाणिनि--४।१।९६-९९।

महापुरुष मानते हैं । परन्तु बूलर महोदय के मतानुसार जैनधर्म के बहुत पहले ही इस धर्म का उदय हो चुका था । पाश्चात्य विद्वान् कैनेडी महोदय कृष्ण को प्राचीन सिद्ध करने के अभिप्राय से कहते हैं कि द्वारका के कृष्ण ईषत् आदिवासी थे जिनकी पूजा सिन्धु-घाटी की सभ्यता में होती थी[१] । उन्होंने विष्णु को भी आदिवासी बताया है तथा अन्त में दोनों को एकेश्वरवाद के पद पर (२०० ई०पूर्व से १०० ईसा बाद)तक पहुंचाया है । प्रगति की अन्तिम अवस्था में राम,कृष्ण के साथ विष्णु का तादात्म्य हुआ ।

कैनेडी महोदय मैकडोनियन डायोनिसस (यूनानी देवता) के साथ भी कृष्ण का सम्बन्ध जोड़ते हैं । डायोनिसस के साथ कृष्ण का सम्बन्ध जोड़ने का कारण कृष्ण का मूलभूत गोचारण रूप था । उपर्युक्त यूनानी देवता भी पशुरूप सहित अवतरित होकर दिव्य हो जाता था ।

ऐतिहासिक दृष्टि से गोपालकृष्ण का मूल भी विद्वानों के लिए विवाद का विषय रहा है । परन्तु भण्डारकर श्रीकृष्ण को आभीरों का बालदेवता पहले कह ही चुके हैं । आभीरों के बालदेवता श्रीकृष्ण की कथा का उल्लेख हरिवंश में भी आगे चल कर मिलता है[२] । इस प्रकार पद्मपुराण में विष्णु कहते हैं कि वह आठवें अवतार में आभीर होंगे ।

श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति प्रमाणित करने के लिए मैगस्थनीज़[३] उनका सम्बन्ध हेराक्लीज से जोड़ते हैं,जो श्रीकृष्ण की तरह ही शारीरिक एवं आत्मिक बल में सबसे बढ़ा चढ़ा था । भारतवर्ष की शौरसेनी (यादव) जाति के लोग उस हेराक्लीज़ की विशेष रूप से पूजा करते हैं ।

---

१. ज०रा०ए०सो० (१६०८)--बाइल्ड कृष्ण एण्ड हिज़ क्रिटिक्स--जे०कैनेडी ,पृ०५०६-५२८।

२. हरिवंश (२) ७,२८-- बालचरित--पृ० ८ में कहा है कि कृष्ण का पालन पोषण घोष में हुआ । यह भासरचित नाटक है । अमरकोश (२) २-२१--सर देसाई का सम्पादन पृ० ७८ में आभीरपल्ली घोष का पर्याय है ।

३. मैगस्थनीज़--इण्डिका--पृ० १३५ ।

भारतीय हरक्यूलीज़ के सम्बन्ध में कप्तान विलफर्ड ने लिखा है--"सिसरो नामक यूनानी इतिहास लेखक के मत में भारतीय हरक्यूलीज़ का नाम "बलस" था। यही श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम थे। उन दोनों भाइयों की पूजा मथुरा में साथ ही की जाती है। यही नहीं प्रत्युत इन दोनों को मिलाकर ही भगवान् विष्णु का अवतार मानते हैं। विष्णु अथवा हरि के अवतार होने से वे सचमुच हरिकुल अर्थात् हरिक्यूलीज थे[१]।

मेगस्थनीज के अनुसार कृष्ण की पूजा बुद्ध के पहले से होती थी। वह मथुरा के आस पास भगवान् बन गये थे।

इस प्रकार से अगर हम कृष्णकथा के कथानकों का साम्य अन्यआख्यानों में देखें तो हम जैन आख्यान "अन्तगदादासो" को सबसे पहले देखते हैं, जिसकी कथा कृष्ण-कथा से साम्य रखती है[२]।

अतः सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय, महाभारत, व्याकरण ग्रन्थ जैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतंजलि के महाभाष्य, बौद्ध, जैन ग्रन्थों के पर्यालोचन करने के पश्चात् हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि वैदिक विष्णु ही कृष्ण के रूप में चरमावस्था पर पहुंच कर भागवतों का उपास्य बन गया था। परन्तु श्री एस०के० डे विद्वान् के अनुसार कृष्ण स्वयं दिव्यरूपधारी थे, वह किसी के अवतार नहीं थे। उसका पूर्णरूप जैसा कि भागवत में निर्धारित है, वही मान्य है[३]।

इस प्रकार से कृष्ण को किसी अन्य देवता या दिव्यपुरुष का अवतार घोषित न करने का कारण तो यह प्रतीत होता है कि वह अन्य समस्त देवों से विशिष्ट रूप से प्रदर्शित किये गये हैं[४]। वैसे कृष्ण वेद में तो निश्चित रूप से अज्ञात

---

१. कल्याण-- श्रीकृष्णांक-- पृ० ३५३।

२. ज०रा०ए०सो० (१६०८)--जे० कैनेडी--पृ० ५०५-५२८॥
'Devai (Devaki) the wife of Vasudeva had born seven sons, of whom Kanhe (Krishna) was the last, but she was not allowed the pleasure of rearing them. Devai's eighth son was born who became Jaina monk.'

३. अर्ली हिस्ट्री आफ़ वैष्णव फैथ एन्ड मूवमेन्ट इन बंगाल--एस०के०डे, पृ० ३१४।

४. मध्ययुगीन चैतन्य और वल्लभ सम्प्रदाय--डॉ० मीरा श्रीवास्तव--पृ० ६।
(शोधग्रन्थ)

ही हैं ,टीका-टिप्पणी से उन्हें सर्वोपरि प्रदर्शित करने हेतु सिद्ध करने से कोई लाभ नहीं । परन्तु वैष्णव प्रेमी इसी में सिद्ध करके अपनी तुष्टि समझ लेता है । इतना तो सिद्ध हो ही चुका है कि वैदिक विष्णु द्वारा ही कृष्ण सर्वोत्कृष्ट देवता के पद पर प्रतिष्ठित हुए । वैदिक द्रष्टाओं की विष्णु,इन्द्र,वायु,वरुण आदि देवताओं को एक देवता की विभिन्न अभिव्यक्ति मानने वाली व्यापक दृष्टि पौराणिक काल में लुप्त हो चुकी थी । यहां तक कि ब्रह्मा भी जो सृष्टि के सर्जक समझे जाते थे,कृष्ण के एक रोम की तुलना में खड़े न हो सके । ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण की सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए ही वेद की उदात्त विचारधारा जिसमें कृष्ण विष्णु के प्रतिरूप थे, उसे विस्मरणीय बना दिया गया ।

सच बात तो यह है कि भारतीय संस्कृति का विकास इण्डोनेशिया प्रभृति सुदूर पूर्वी देशों में तथा अपरान्तक (अफगानिस्तान) एवम् यूनान आदि सुदूर पश्चिमी देशों में होने के साथ-साथ राम और कृष्ण की कथाएं भी उन देशों में व्याप्त हो गई । बालिद्वीप में राममंदिर की व्यवस्था,इण्डोनेशिया में अयोध्या की स्थिति, अपरान्तक प्रदेश में गरुड़ध्वज का मिलना और तुर्किस्तान में मित्रावरुण तथानसित्यौ सरीके वैदिक देवों का परिचय भारतीय संस्कृति के वृहत्तम स्वरूप को सिद्ध करता है । उपर्युक्त अनुच्छेदों में विविध प्रमाणों द्वारा इसी तथ्य की सिद्धि की गयी है फिर भी शोधकर्ता के इस विवेचन को अन्तिम नहीं कहा जा सकता । अन्वेषण करने पर और भी अनेक महत्वपूर्ण प्रमाण कृष्णकथा की ऐतिहासिकता,व्यापकता और माहात्म्य के सम्बन्ध में प्राप्त हो सकते हैं ।

प्रस्तुत अध्याय में मुख्यत: वैदिक वाङ्मय के चारों अंगों (संहिता,ब्राह्मण, आरण्यक,उपनिषद्) में कृष्णकथा का व्यापक स्वरूप सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है । वैदिक वाङ्मय में कृष्णकथा के विवेचन को और भी अधिक प्रतिष्ठित करने के ध्येय से ही मैगस्थनीज़ आदि पाश्चात्य इतिहासकारों के भी दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गये हैं । परन्तु इतने भर से ही कृष्णकथा का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता । वस्तुत: कृष्णकथा का लोकानुरंजनकारी तथा सर्वजनप्रिय स्वरूप तो पौराणिक वाङ्मय में मिलता है । जहां श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं,एक महान् योद्धा हैं,एक महान्

शरणागतवत्सल जनसेवक हैं, एक लीलाविहारी प्रणयी हैं और शास्त्रसम्मत धर्म का पालन करनेवाले सद्गृहस्थ हैं । कृष्ण के इन्हीं उदात्त स्वरूपों की स्थापना मुख्यतः श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में मिलती है । अगले अध्याय में इस विषय का सविस्तार व्याख्यान किया जा रहा है ।

---o---

द्वितीय अध्याय

पौराणिक वाङ्मय में कृष्णकथा का स्वरूप

पौराणिक वाङ्मय में कृष्णकथा का स्वरूप

पुराणान्तर्गत श्रीकृष्णकथाविषयक अगाध जलधि में,दैदीप्यमान माणिक्य का अन्वेषण करते समय,पूर्व पुराणों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सकल प्रमाणों का आश्रय गृहीत करना चाहिए,जिससे पुराणों की प्राचीनता संशयापन्न न रहे । वेदों में ही प्रामाणिकता का आश्रय लेने वाली परम्परागत बुद्धि,वेदों पर ही दृष्टि-पात करके,मस्तिष्क में यह अंकुर प्रस्फुटित करती है कि अपौरुषेय वैदिक साहित्य में पुराणों की चर्चा है या नहीं ?

अनुशीलन करने पर पता चलता है कि पुराणों की प्राचीनता के विषय में मत्स्यपुराण का कथन है कि " पुराण सब शास्त्रों में पुराना है । ब्रह्मा ने सबसे पहले उसका स्मरण किया । इसके बाद उनके मुख से वेद प्रकट हुए ।[१]" वेदों की ही भांति पुराणों को भी नित्य सिद्ध एवं प्रमाणभूत बताया गया है । यह पुराण के द्वारा ही वेदों से इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है, फिर भी पुराण वेदों के तुल्य किसी सीमा तक प्रामाणिक तो है ही । शतपथ ब्राह्मण में पुराणों की गणना वेदों में की गयी है ।[२]

अतः सर्वप्रथम कृष्णकथा का पुराणों में,जिह्वाग्र से मुख तक,अभीप्सित कथा का आस्वादन करके ही ब्रह्म स्वरूप रूपी रत्नराशि को संग्रहीत करना चाहिए ।

पुराणों में श्रीकृष्ण का ब्रह्म-रूप ही अभीष्ट है या मानवीय रूप,इस शंका का निवारण शुष्क तर्क जंजाल के धरातल पर न करके समतल क्षेत्र में करना चाहिए, जहां उनका अभीप्सित रूप ही प्रत्यक्ष उपस्थित हो ।

"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्[३]" श्रीकृष्ण साक्षात् परमेश्वर,परब्रह्म हैं । यह आर्यजाति का अटल विश्वास है । कृष्णलीला तो भक्तजनों का सर्वस्व है,इस आनन्दमयी निर्झरणी में तर्क-वितर्क के तिनकों की कोई कीमत नहीं है । आध्यात्मिक चाशनी में पगी हुई

---

१. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरंचवक्त्रेभ्यो वेदास्तस्यविनिर्गताः ।। -- मत्स्यपुराण ५३।३।

२. शतपथ ब्राह्मण १३।४।३।१३, १५।६।१०।६ ।

३. श्रीमद्भागवत-- १।३।२८

बात को भक्त सम्प्रदाय रुचिपूर्वक ग्रहण करता है। मन, बुद्धि से अगम्य, निरीह, निर्विकार, ब्रह्म में बुद्धि का प्रवेश कराने के लिए जितने उपाय शास्त्र में निर्धारित हुए हैं, उनमें अवतारवाद श्रेष्ठ है।

क्षरपुरुष में अव्यय पुरुष की जो-जो कलाएं परिचित होती हैं, वे ही अवतार हैं। उनके द्वारा अव्यय पुरुष ही उपास्य होता है। इसी कारण अवतार का वाचक श्रीमद्भागवतादि में "आविर्भाव" शब्द आया है।[1] जगत् में जो परमात्मा आविर्भूत होता है, वह अपने स्वरूप तथा स्वधाम से जगत् में अवतरित होता है।

श्रीकृष्ण अपनी स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति के साथ अन्तरंग लीला एवं दिव्य-क्रीड़न करते हैं।[2] यह परम प्रेममय लीला है। इसी आनन्द में सब जीव उत्पन्न होते हैं। आनन्दमय भगवान् के अनुभवानन्द में जब एक प्रकार की गतिशीलता उत्पन्न होती है, उसी क्रियाविशेष को भक्तिजगत् में "लीला" नाम दिया गया है।[3] आनन्द बिना रस के संभव नहीं होता। अतएव वह रसस्वरूप भी है।[4] स्वामी वल्लभाचार्य ने अपनी "सुबोधिनी" (भागवत टीका--तृतीय स्कन्ध) में लीला की व्याख्या दी है--" लीला विलास की इच्छा का ही दूसरा नाम है। शाश्वत लीला में जो नित्य है, उसको लौकिक प्राणी अपने मायावृत नेत्रयुग्मों से नहीं देख सकता, क्योंकि वह सांसारिकता के भार से आक्रान्त है।[5]

वैष्णव देवता विलासेच्छा से अपने भक्त प्रेमियों को उस लीला का आस्वादन कराने के लिए उनके मायिक बन्धनों को निरावृत कर देता है और उन बन्धनों से ही अपनी प्रकट लीला का प्रदर्शन मथुरा और द्वारका में करा देता है। परवर्ती वैष्णव सम्प्रदायों का यह विश्वास है कि भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा से ही अपनी लीला

---

१. एतान्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।-- भागवत १।३।५

२. अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट इन बंगाल (भागवत संदर्भ) -- प्रोफेसर सुशीलकुमार डे, पृ० २८ ।

३. हिन्दी कृष्णभक्ति साहित्य में मधुरभाव की उपासना--डा० पूर्णमासी राय, पृ०३३ ।

४. रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।--तैत्तिरीय उपनिषद् २।७ (ब्रह्मानंदवल्ली) ।

५. लीलानाम विलासेच्छा कार्यव्यतिरेकेणैव कृतिमात्रं मतया कृत्वा बहिः कार्यं जन्यते ।
--वल्लभाचार्य, सुबोधिनी भाष्य, तृतीय स्कन्ध, अध्याय ७ ।

का विस्तार करने के उद्देश्य से, देवता प्रकट होते हैं। यही प्रकट होने का उत्तम हेतु है[1]।

वस्तुतः भगवान में "रिरंसा वृत्ति" के साथ ही साथ "सिसृक्षावृत्ति" और "युयुत्सावृत्ति" भी रहती है। परन्तु ये परवर्ती दोनों वृत्तियां सामयिक होती हैं। रिरंसा वृत्ति ही नित्य होती है। रिरंसा वृत्ति उस शक्ति का परिणाम है, जिसे "पराशक्ति" कहते हैं। भगवान् की नित्य रिरंसावृत्ति ही सच्चिदानन्दमयी लीला के रूप में सदा अभिव्यक्त होती रहती है। यह नित्य लीला गोलोक में है। लीला नित्य है। अथर्ववेद की पिप्पलादशाखा में "एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्त-हृदयन्तरात्मा"[2] से तथा रूपगोस्वामीपाद के भागवत "जयति जननिवासो" आदि श्लोक में वर्तमानकालिक क्रिया से लीला की नित्यता सूचित होती है[3]।

पुराणों में लीला की नित्यता के प्रतिपादक प्रसंग स्कन्दपुराण (मथुराखण्ड एवं वैष्णव खण्ड) और पद्मपुराण (पातालखण्ड) हैं। जिस तरह ईश्वर की लीला नित्य है, उसी तरह उनका स्वरूप भी चिन्मय और नित्य है। गोलोक की महिमा अनिर्वचनीय है। गोलोक की नित्य लीला प्रपंचगोचर न होने के कारण "अप्रकट" लीला कही जाती है। गोलोक की महिमा का वर्णन पद्मपुराण (पातालखण्ड, अध्याय ७४) गर्गसंहिता, बृहद्ब्रह्मसंहिता, नारद पांचरात्र तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी मिलता है। स्कन्दपुराण के "वैष्णव खण्ड" के अन्तर्गत वासुदेव-माहात्म्य में गोलोक की यात्रा का विशद वर्णन है। नारदीयपुराण के उत्तर अध्याय ५६ में एवं देवीभागवतपुराण, नवम् स्कन्ध अध्याय २ में "गोलोक" को विश्व का मध्य गोलक बताया गया है।

श्रीकृष्ण की पार्थिव लीला का प्रधान धाम वृन्दावन है। गोलोक, गोकुल, द्वारका तथा ब्रज का परम ऐश्वर्य सब वृन्दावन पर आश्रित है[4]। यह गोलोक के ऊपर

---

१. स्वलीलाकीर्तिविस्ताराद् लोकेष्वनुजिघृक्षुता।
अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः ॥--लघुभागवतामृत, २४३ ॥

२. हिन्दी कृष्णभक्ति साहित्य में मधुरभाव की उपासना--डा० पूर्णमासी राय, पृ०३६।

३. जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन ब्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम् ॥
--रूपगोस्वामी (भागवत १०।९०।४८)

४. सात्वतां स्थानमूर्धन्यं विष्णोरत्यन्तवल्लभम्।
नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरि संस्थितम् ॥
पूर्णब्रह्मसुखैश्वर्यं नित्यमानन्दमव्ययम्।
वैकुण्ठादि तदंशांशं स्वयं वृन्दावनं भुवि ॥--पद्मपुराण (पाताल खण्ड) अ०७९, श्लो०

रासरसोत्सव सम्पन्न है[1]।

वृन्दावन--नित्य तथा अनित्य--दो प्रकार का है। नित्य वृन्दावन सर्वव्यापक और अदृश्य है। अपार ब्रज के हृदय में स्थित है। प्रकृति के स्पर्श से रहित है। नित्य वृन्दावन की लीला प्रातिभासिकी तथा ब्रजभूमिवाली लीला व्यावहारिकी कही जाती है[2]।

जीवगोस्वामी ने "भागवतसन्दर्भ" के सारे विवेचनों के अन्त में भगवान् का एक सुन्दर एवं संक्षिप्त वर्णन किया है जो सच्चिदानन्दैकरूप, स्वरूपभूत, अचिन्त्य, विचित्र, अनन्तशक्तियुक्त है, धर्म होकर धर्मी है, निर्भेद होकर भी भेदयुक्त है, व्यापक होकर भी परिच्छन्न है, परस्परविरोधी अनन्तगुणों के निधि हैं, जो स्थूलसूक्ष्म-विलक्षण, स्वप्रकाशाखंडस्वरूपभूत, श्रीविग्रह एवं स्वानुरूपा स्वशक्ति की आविर्भावलक्षणा लक्ष्मी द्वारा जिनका वामांश रंजित है, जो स्वप्रभाविशेषाकार रूप-परिच्छद और परिकरसहित निज धाम में वर्तमान है, वही सामान्य प्रकाशाकार में ब्रह्मतत्व के रूप में अवस्थित है[3]।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी श्रीकृष्ण में परस्पर विरोधी गुणों का आश्रय है। जहाँ एक ओर अद्वितीय तत्व की स्थापना करके अद्वैत की प्रतिष्ठा की गयी है, साथ ही साथ उसमें एक और अद्वितीय स्वरूप स्वीकार किया गया है जिसमें भक्ति की सुकोमल भावनाओं के साथ सुकुमार एवं कोमल भावनाओं के लिए पूर्ण अवकाश है। इसी पुराण के अन्तर्गत "कृष्णजन्मखण्ड" में अवलोकन करने पर यही भाव दृष्टिगत होते हैं[4]।

---

१. ततश्च तद्रूपादिष्टो गोलोकादुपरिस्थितम् ।
   स्थिरं वायुधृतं नित्यं सत्यं सर्वसुखास्पदम् ॥
   नित्यं वृन्दावनं नाम नित्यरासमहोत्सवम् ।
   अपश्यत्परमं गुह्यं पूर्णप्रेमरसात्मकम् ॥
   -- पद्मपुराण (पातालखण्ड) अध्याय ७४, श्लोक ५०-५१ ।

२. वास्तवी तत्स्वरूपैषा जीवानां व्यावहारिकी ।
   -- श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, अध्याय प्रथम, श्लोक २६ ।

३. अर्ली हिस्ट्री आफ़ वैष्णव फैथ एन्ड मूवमेन्ट इन बंगाल--प्रो० सुशीलकुमार डे, पृ० २८६-२८७ ।

४. ब्रह्मवैवर्तपुराण--श्रीकृष्णजन्मखण्ड-- १।२६।३७

विष्णुपुराण के षष्ट अंश के अध्याय पंचम में भी अध्यात्मरूपकों का विशद विवेचन है । परम धाम से विख्यात परब्रह्म की अपर संज्ञा "भगवान्" है[१] । वही "वासुदेव" नाम से अभिहित किया जाता है[२] ।

पूर्णब्रह्म सनातन श्रीकृष्ण के रूप में परमतत्व प्रथम अवस्थान है । पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूपभूत विभिन्न अवतारादि और शुद्ध सत्वमय वैकुण्ठादिधाम और उस धाम में भगवान् के नित्य परिकरगण--ये ही सब परमतत्व के द्वितीय रूप में अवस्थान हैं । जिस प्रकार अपनी अचिन्त्य शक्ति के बल पर वह अपने नित्य स्वरूप में रहते हैं, उसी प्रकार उसी शक्ति के बल पर ही अपने को विभिन्न प्रकार के अवतार के रूप में प्रकट करते हैं[३] । भगवान् की स्वरूप शक्ति के अन्दर स्वप्रकाशतया लक्ष्यवृत्ति विशेष है, वही विशुद्ध सत्व है और उसी से कृष्ण के धाम परिकर, सेवकादि रूप वैभव का विकास होता है ।

सांख्य के दर्शन का अनुसरण करने वाले "भविष्यपुराण" ने श्रीकृष्ण को पुरुष एवं सृष्टि के लिए अपनी स्वरूपभूता चित्शक्ति प्रकृति के तीनों गुणों का आश्रय लेकर दिव्यलीला के लिए सत्व, रजस् एवं तमस् का आश्रय लेकर लीला के आश्रयीभूत परिकरों को उत्पन्न करने की बात कही है । राधा ही उनकी ह्लादिनी शक्ति है । कौन-कौन से परिकर सत्व तथा रजस्, तमस से उत्पन्न हैं, वह उनके गुणों से ही दृष्टिगत है[४] ।

---

१. विष्णु पुराण-- ६।५।६८,६९ ।

२. सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि ।
   भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः ।।--विष्णुपुराण ६।५।८०

३. श्रीराधा का क्रमिक विकास--डा० शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १८३ ।

४. कंसाद्यास्तामसा जाता दिव्यलीलाप्रकारिणः ।
   राधांगदुद्भवा गोप्यश्चित्रम: कोट्यस्तथाक्रमात् ।।१६७
   ललिताद्याः सात्त्विकाश्च कुब्जाद्या राजसास्तथा।
   तामसाः पूतनाद्याश्च नानालीलाचरित्रकाः ।।१६८
   द्विधा जातः स वै कृष्णो राधादेवी तथा द्विधा ।
   सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।। १७०
   पूर्वार्द्धात्सा तु वै जाता राधा देवी परार्द्धतः ।
   पुरुषः प्रकृतिश्चोभौ तेपतुः परमं तपः ।। १७२
   -- भविष्य पुराण, प्रतिसर्ग पर्व, अध्याय २५, चतुर्थ खण्ड ।

अखण्ड,अंश श्रीकृष्ण की कला है,अंश के भी अंश हैं। इन सब के रहने पर भी वह निष्कल,निरंश,समरस,निर्गुण एवं निष्क्रिय हैं। श्रीकृष्ण को निष्क्रिय ब्रह्म के तुल्य कहने का तात्पर्य केवल निर्गुण परस्वरूप कृष्ण को प्रदर्शित करना ही नहीं था वरन् इन सब के विद्यमान रहने पर भी सतत् क्रियाशील,सतत जागरूक,सदा आनन्दमय,साकार विग्रह प्रस्तुत करना था,जिनमें सूक्ष्म से सूक्ष्म मानवीय वेदनाएँ एवं भावनाएं निहित हैं। विशुद्ध सत्व भगवदिच्छा से जब परिणाम प्राप्त करता है तो विशुद्ध सत्वमय जगतादि का ही आविर्भाव होता है। अतः वह गुणातीतभी नहीं है। यह विशुद्ध सत्व भी भगवान् के अभिन्न अंश के रूप में नित्य ही विराजते हैं। प्राकृतजन ऊर्ध्वलोक के पृथवी पर नित्य अवतरण होने पर इन सब स्थानों का वैशिष्ट्य या माहात्म्य बाह्य दृष्टि से अनुभव नहीं कर पाता है।

ब्रह्म में स्वरूपशक्ति की अभिव्यक्ति नहीं है,इसलिए वह निष्क्रिय एवं उदासीन है। भगवान् वह है--जिसमें स्वरूपशक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति है। स्वरूप की जिस अवस्था में चित्कला पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं रहती,वह भगवद्भाव भी नहीं है। ब्रह्मभाव भी नहीं है। वही परमात्मभाव है। परमात्मा एवं भगवान् एक ही प्रकाश की पूर्ण एवं आंशिक इन दोनों ही अवस्थाओं के नाम से ही परिगणित किये गये हैं।

विष्णुपुराण में कहा गया है कि जिस प्रकार अभिन्न रूप से व्याप्त एक ही वायु के,बांसुरी के छिद्र के भेद से षड्ज आदि भेद होते हैं,उसी प्रकार (शरीर आदि उपाधियों के कारण) एक ही परमात्मा (देवता,मनुष्य आदि) अनेक भेद प्रतीत होते हैं।[१]

जहां भगवान् कृष्ण में ऐश्वर्य रूपी विद्युतचपला द्वारा चकाचौंध करने वाली जगमगाहट है,वहीं माधुर्य की मनमोहिनी इन्द्रधनुषी छटा भी,जो उस समय ऐश्वर्य-

---

१. वेणुरन्ध्रप्रभेदेन भेदः षड्जादिसंज्ञितः।
अभेदव्यापिनो वायोस्तथास्य परमात्मनः।।
एकस्वरूपभेदश्च बाह्यकर्मप्रवृत्तिजः।
देवादिभेदेऽपध्वस्ते नास्त्येवावरणे हि सः।।

--विष्णुपुराण २।१४।३२-३३

रूपी विद्युत के गर्जन के साथ ही साथ भयभीत हृदय को तृप्त करने के लिए मधुररस-वर्षण रूप निर्झरणी को प्रवाहित करने माधुर्य रस से हृदय को सिक्त कर देती है। अंग-अंग प्रेमरस की भीनी छटा से भींग जाता है। परन्तु कहीं-कहीं विशुद्ध माधुर्य स्वयंहीं भगवान् का श्रेष्ठतम अन्तरतम रूप अभिव्यक्त करता है,जो ईश्वर के हृदयरूपी दर्पण में विशुद्ध रूप से प्रतिबिम्बित होता रहता है। विशुद्ध माधुर्य में निस्वार्थ भाव की भीनी महक से सुरभित ज्ञाता एवं ज्ञेय तद्रूप हो जाते हैं,उनमें भेद की,किंचित मात्रा में भी गुंजाइश नहीं रहती।

श्रीकृष्ण अपने परतर स्वरूप में मनुष्य के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसकी गतिविधियों का अनुकरण करते हुए ज्ञान,ऐश्वर्य आदि को अपने अन्तस्तल में गुह्य रूप से स्थापित करके मानवीय गुणों एवं आध्यात्मिकता की बानगी ही बना देते हैं। ऐश्वर्य एवं सौन्दर्य के साथ मानवीय आकृति गृहीत करके भगवान सान्त एवं अनन्त, जागतिक अपूर्णत्व तथा पूर्णत्व के बीच की खाई अथवा गर्त को भी पुरुषाकार रूपी माटी से पाट देते हैं।

सबसे उत्कृष्ट अव्यय ब्रह्म आनन्द है। वही ब्रह्म का मुख्य स्वरूप बताया गया है। इसका पूर्ण विकास अन्य अवतारों में अधिकांशतः दृष्टिगोचर नहीं होता है। श्रीकृष्ण में आनन्द के सब रूपों का पूर्ण विकास है। आनन्दांश के तिरोहित हो जाने पर ही जीवभाव होता है एवं ऐश्वर्य,वीर्य,यश,श्री,ज्ञान,वैराग्य इन छह दैवीगुणों का भी तिरोभाव हो जाता है। इन छह दैवीगुणों के नियमन में भगवदिच्छा ही नियामक है। भागवत सम्प्रदाय में इन छह दैवीगुणों से अभीप्सित भक्ति के चरम रूप में भगवान् वासुदेव परब्रह्म हैं। उन्होंने स्वयं से व्यूह संकर्षण और प्रकृति को उत्पन्न किया। संकर्षण और प्रकृति के संयोग से व्यूह प्रद्युम्न एवं मन (बुद्धि) उत्पन्न हुए। प्रद्युम्न और मन के संयोग से व्यूह अनिरुद्ध और अहंकार उत्पन्न हुए। अनिरुद्ध और अहंकार से महाभूत और ब्रह्मा हुए। "व्यूहवाद" की इस दार्शनिक व्याख्या में वसुदेव को प्रधान और उनके भाई संकर्षण को गौण स्थान दिया गया है।[१] व्यूहवाद के इस रूप का

---

१. हिन्दी साहित्य में कृष्ण--डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ,पृ० ५।

प्राचीनतम उल्लेख ब्रह्मसूत्र में मिलता है।[1]

श्रीमद्भागवत में भी नागपत्नियों की श्रीकृष्ण के चतुर्व्यूह रूप की स्तुति में व्यूहवाद की झलक दिखायी पड़ती है।[2] विष्णुस्मृति में भी चारव्यूह कहे गये हैं।[3]

श्रीकृष्ण परमानन्द रूप हैं। समग्र सृष्टि ही परमानन्द के विशिष्ट दैवी गुणों से आबद्ध होकर उसी ब्रह्म के आकर्षण पाश में बंधी है। वही आनन्द श्रीकृष्ण के विग्रह में घनीभूत होकर प्रकट हुआ है। श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं एवं सारी सृष्टि उन्हीं की आनन्दक्रीड़ा है,[4] उन्हीं की आत्माभिव्यक्ति है। अत: समग्र सृष्टि में आनन्द की कल्लोलिनी ही प्रवाहित रहती होती है। इस तटिनी के सीमातट भी उन्मुक्त प्रवाह में डूब जाते हैं। श्रीकृष्ण के परब्रह्मत्व का पुराणों में अनेकश: प्रतिपादन हुआ है।

स्कन्दपुराण में उन्हें परब्रह्म-पुरुषोत्तम कहा गया है।[5]

ब्रह्मपुराण अध्याय १८० में कृष्णावतार के पहले व्यास द्वारा विष्णु-स्तुति में चतुर्व्यूहात्मक, निर्गुण, शाश्वत एवं पुराण विष्णु की स्तुति है।[6] ब्रह्मपुराण अध्याय १८१।२७ श्लोक में पृथ्वी की करुण पुकार सुन कर विष्णु अपने सिर से एक काला एवं सफेद बाल निकाल कर डाल देते हैं। ये केश राम और कृष्ण के रूप में अवतरित होते हैं।

---

१. ब्रह्मसूत्र--२।२।४२

२. नम: कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नम: ।।--श्रीमद्भागवत १०।१६।४५,१०।४०।२१

३. विष्णुस्मृति--६७।२

४. क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यत: ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यत: ।। --श्रीमद्भागवत,३।७।३

५. वासुदेव: परंब्रह्म श्रीकृष्ण: पुरुषोत्तम: ।
देवोऽकामै: सकामैश्च पूज्यो मुक्तिनरैरपि ।।-- स्कन्दपुराण,वैष्णवखण्ड,वासुदेव-माहात्म्य,द्वितीय अध्याय,श्लोक ११ ।

६. नमस्कृत्वा सुरेशाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाव्ययस्य च ।
चतुर्व्यूहात्मने तस्मै निर्गुणाय गुणाय च ।
वरिष्ठाय गरिष्ठाय वरेण्यायामिताय च।।--ब्रह्मपुराण,अध्याय १८०,श्लोक १,२ ।

"विष्णुपुराण" में भी भगवान् परमेश्वर के द्वारा दो केशों के पृथ्वी पर अवतरित होने की बात कही गयी है[1]। यहां पर श्वेत एवं कृष्ण केश के बलराम और कृष्ण के रूप में अवतरित होने की भावी सूचना मिलती है। कृष्णकेश असुरों के विनाश में सहायक होगा, जो देवकी के आठवें गर्भ से उत्पन्न होकर पूर्वजन्म के असुर कालनेमि कंस का वध करेगा। देवकी को देवी तुल्य ही बताया है। परमात्मा के लिए पृथिवी का भार उतारना मामूली होने के कारण उनके अंगभूत केश से ही इस कार्य को संभव बताया गया है। अतः इसका साहित्यिक अर्थ लेना उचित प्रतीत नहीं होता है[2]।

ब्रह्मपुराण अध्याय १८२,७-८ में कृष्ण के जन्म के पूर्व देवताओं द्वारा देवकी की स्तुति का वर्णन है। अध्याय १८२ में (श्लोक १४-१७ तक) वसुदेव तथा देवकी नवजात शिशु की स्तुति करते हैं। गोकुल छोड़ कर वृन्दावन में जाने का कारण गोकुल में होने वाला शकटभंग,पूतनावध (अध्याय १८४) तथा यमलार्जुन का पतन आदि बताया गया है। गोकुल से ग्वालों को हटाने का प्रस्ताव कृष्ण नहीं वरन् गोपाल तथा गोकुल वृद्धजन करते हैं। "भागवत" में कहा गया है कि--" उपनन्द" नामक बुद्धिमान वृद्ध गोप ने वृन्दावन जाने की सलाह दी[3]। विष्णुपुराण तथा हरिवंशपुराण में यह नाम नहीं आया है।

ब्रह्मपुराण,अध्याय १८५ (श्लोक ३६-४२ तक) में कालिय नाग के प्रसंग में नागपत्नियों द्वारा कृष्ण की स्तुति का वर्णन है। भागवत,१०।१६।२५,विष्णुपुराण, पंचम अंश,अध्याय ७,ब्रह्मवैवर्तपुराण (श्रीकृष्णजन्मखण्ड) अध्याय १७ में भी इस कथा का वृत्तान्त है परन्तु हरिवंश में नागपत्नियों की स्तुति का उल्लेख नहीं है।

---

१. उवाच च सुरानेतौ मत्केशौ वसुधातले।
अवतीर्य भुवो भारक्लेशहानिं करिष्यतः।।--विष्णुपुराण (पंचम अंश)१अध्याय,६० वां श्लोक।

२. हिन्दू माइथोलोजी (वैदिक)--डब्लू०जे० बुलकिन्स,पृ० १६८

३. श्रीमद्भागवत--१०।११।२२

ब्रह्मपुराण अध्याय १८६ में गोपिकाओं के साथ कृष्ण की रासक्रीडा का वर्णन भी प्राप्त होता है। इसी पुराण के अन्तर्गत अध्याय १६२ में श्रीकृष्ण एवं बलराम के मथुरागमन के अवसर पर गोपियां विलाप करती हुई चित्रित की गयी हैं। ब्रह्मपुराण के अध्याय १६२ के (४८-५८ संख्यक) श्लोकों में जल के भीतर अक्रूर द्वारा चतुर्व्यूहात्मक वासुदेव की स्तुति का उल्लेख है।

हरिवंशपुराण २.२६ में एवं विष्णुपुराण (पंचम अंश) अध्याय १८ में अक्रूर द्वारा जल के अन्तर्गत कृष्ण और अनन्त के ध्यान का उल्लेख है,उनकी स्तुति का नहीं। भागवत (दशम स्कन्ध,अध्याय ४० तथा गर्गसंहिता (मथुरा खण्ड)पंचम अध्याय में भी इस वृत्तान्त का उल्लेख है परन्तु कृष्ण को ब्रह्म जानकर ही उनकी स्तुति का उल्लेख है। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें अक्रूर के रथ का भंजन है परन्तु अक्रूर के यमुना स्नान का वर्णन नहीं है। कृष्ण की स्तुति करते समय श्रीकृष्णजन्मखण्ड के उत्तरार्द्ध में अक्रूर परात्पर निर्गुण, साकार,सर्वेश्वर,विश्व के आदि कारण कह कर नमस्कार करते हैं।

भागवत पर समीक्षा लिखने वाले वैष्णव विद्वान् कहते हैं कि पूर्णावतार देवकी के गर्भ से उत्पन्न नहीं हो सकता। जब वसुदेव कृष्ण को लेकर नन्द के पास जा रहे थे तो वह गोद से जल में गिर गये। वसुदेव ने शीघ्र उठाया परन्तु वह वही रहे। भगवान् विष्णु वसुदेव की गोद में आ गये। देवकीपुत्र कृष्ण जो वास्तव में भगवान् के पूर्ण अवतार थे वह वहीं रहे। विष्णु गोकुल नहीं छोड़ते हैं,कृष्ण जो जल में थे और देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे,वही रथ में बैठ कर अक्रूर के साथ मथुरा गये।[1]

ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार बैकुण्ठ में निवास करने वाले भगवान् पुरुषोत्तम, श्वेतद्वीपवासी नारायण ही श्रीकृष्ण हैं।[2] राधा ही नित्य कृष्णात्मिका एवं कृष्ण राधात्मक हैं। दोनों में अभेद सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

भविष्यपुराण में भी राधा को निराकार ब्रह्म की विलासिनी शक्ति कहा गया है। कृष्ण विलासी स्वरूप है और राधा उनकी सहचरी है। राधा-कृष्ण दोनों अंग

---

१. श्रीकृष्ण हिज़ लाइफ़ एन्ड टीचिंग्स--श्री धीरेन्द्रनाथ पाल,अध्याय १३।

२. देवदेवो महातेजा: पूर्वं कृष्ण: प्रजापति:। विहारार्थं मनुष्येषु जज्ञे नारायण: प्रभु:।
--ब्रह्माण्डपुराण,मध्यभाग,उपोद्घातपाद,अध्याय ७१,श्लोक १९६।

एकीभूत होकर अव्यय से समुद्भूत हुए[1]।

मत्स्यपुराण एवं पद्मपुराण में राधा को भी रुक्मिणी के साथ श्रीकृष्ण की परिणीता माना गया है[2]।

इसके बाद विष्णुपुराण की कृष्णकथा पर दृष्टिपात करना भी अपेक्षित है। विष्णुपुराण, पंचम अंश, अध्याय एक में कृष्णावतार के पूर्व का वृत्तान्त तो ब्रह्मपुराण अध्याय १८२ से समानता रखता है। विष्णुपुराण, पंचम अंश, अध्याय २-३ में देवताओं द्वारा देवकी की स्तुति का वर्णन है। भागवत तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण में देवताओं द्वारा प्रभु की स्तुति का वर्णन है। विष्णु पुराण, पंचम अंश, अध्याय ५ में पूतना को राक्षस स्त्री के वेश में प्रस्तुत किया गया है। पंचम अंश अध्याय १३ में रासलीला का वर्णन है परन्तु राधा इसमें विशिष्ट गोपी के रूप में ही उल्लिखित है, उसका नाम नहीं आया है। कृष्ण के अन्तर्धान होने पर किसी विशेष गोपी के चरणचिह्नों में मिले हुए कृष्ण के चरणचिह्नों का दर्शन गोपियों को होता है।

कंसवध का प्रसंग विष्णुपुराण, पंचम अंश अध्याय २० ब्रह्मपुराण से समानता रखता है। इसी तरह विष्णुपुराण, पंचम अंश, अध्याय २५ में उल्लिखित वारुणी, बलराम वृत्तान्त एवं शम्बर द्वारा प्रद्युम्नहरण वृत्तान्त ब्रह्मपुराण अध्याय २०० से समानता रखता है। विष्णुपुराण ५ अध्याय ३७ में द्वारका नगरी के जलमग्न होने तथा कृष्ण के मानवदेह का त्याग वृत्तान्त ब्रह्मपुराण अध्याय २१०-२१२ से समानता रखता है।

अतः विष्णुपुराण में श्रीकृष्ण ही परब्रह्म रूप से चित्रित हैं। इसके पश्चात् हरिवंश जो कि महाभारत का खिलपर्व माना जाता है, उस पर भी दृष्टिपात करना चाहिए कि वह ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, भागवतपुराण एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण से कितनी समानता रखता है।

---

१. तदव्ययात्समुद्भूतौ राधाकृष्णः सनातनः। एकीभूतं द्वयोरंगं राधाकृष्णौ बुधैःस्मृतः।। सहस्रयुगपर्यन्तं यतेपि परमं तपः। तदा च द्विधा जातौ राधाकृष्णः पृथक्पृथक्।। द्विधाजातः स वै कृष्णो राधादेवी तथा द्विधा। सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः-सहस्रपात्।।

--भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व चतुर्थखण्ड, अध्याय २५, श्लोक १५६, १५७, १७०।

२. रुक्मिणी द्वारवत्यान्तु राधा वृन्दावने वने।
--मत्स्यपुराण (आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज़) १३।३८, पद्मपुराण ७७।३७।

इस पुराण में भी ब्रह्मा जी भाराक्रान्त वसुंधरा की व्यथा समूल नष्ट करने के लिए नारायणाश्रम में प्रवेश करते हैं।[१] ब्रह्माजी खण्ड १ अध्याय ४१ में पृथ्वी की व्यथा विष्णु जी से कहते हैं। खण्ड १ अध्याय ४२ में पृथ्वी भी विष्णु से (श्लोक १०-१६ तक) व्यथा कहती है। ब्रह्मा की स्तुति द्वारा विष्णु "योगनिद्रा" का परित्याग करके पृथ्वी की व्यथा का श्रवण करते हैं।[२] "योगनिद्रा से प्रतीत होता है कि विष्णु योगी के रूप में समाधिस्थ हैं[३]।

ब्रह्मा विष्णु को वसुदेव के घर में अवतरित होने की सलाह देते हैं।[४]

हरिवंशपुराण अध्याय ५६ खण्ड १ में कालियदमन का वृत्तान्त है, किन्तु नाग-पत्नियों की स्तुति का उल्लेख नहीं है।

हरिवंशपुराण २।२०-२१ में रासलीला का भी वर्णन है और "हल्लीसक" शब्द खण्ड १ अध्याय ६३ में भी आया है। इसी तरह रासमण्डल के और भी उद्धरण प्राप्त होते हैं जो कि इसी पुराण के विष्णुपर्व के २१ श्लोकों में वर्णित हैं।[५]

ब्रह्मपुराण में भी ३२ श्लोकों में चित्ताकर्षक वर्णन रास का किया गया है।[६] हरिवंश पुराण में भी राधा का अभाव है। "ब्रह्मपुराण" में राधा का संकेत ही प्राप्त होता है जो कि गोपी के रूप में कथित है। गुरुजनों के सामीप्य से कृष्ण की सन्निधि से वंचित रह जाती है और नेत्रोन्मीलित करके तन्मय सी ध्यानपरायणा हो जाती है।[७] विष्णुपुराण[८] एवं श्रीमद्भागवत[९] में इसका विस्तार के साथ वर्णन प्राप्त होता है।

---

१. हरिवंशपुराण, खण्ड १, हरिवंश पर्व, अध्याय ४० ।

२. वही--अध्याय ४०, श्लोक ४२ ।

३. विष्णुं निद्रामयं योगं प्रविष्टं तमसावृतम् ।--हरिवंशपुराण (खण्ड १), अ०४०, श्लोक १५, संदर्भ

४. हरिवंशपुराण, खण्ड १, अध्याय ४५, श्लोक ४८ ।

५. उद्धर्वां गोपीसम्पर्कं विना तस्थौ ।--हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, २०, १५-३५
हरिवंशपुराण अध्याय ६३ श्लोक १५, ३५ में भी रासवर्णन है ।
हल्लीसकक्रीडनं एकस्यैव पुंसः बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रासक्रीडा ।
--हरिवंश पुराण २, २०।३५ नीलकंठ

६. ब्रह्मपुराण--अध्याय १८९, श्लोक १४ से ४४ तक ।

७. वही -- -- श्लोक २० ।

८. विष्णुपुराण ५ वां अंश १३।२०, ३२-४९ श्लोक ।

९. भागवत, दशम स्कन्ध--२९।६-११ श्लोक ।

वायुपुराण में श्रीकृष्ण की सोलह हज़ार पत्नियों का उल्लेख है परन्तु राधा नाम की गोपी का उल्लेख नहीं है। राधा यहां पर श्रीकृष्ण की परिणीता नहीं है परन्तु कृष्ण राधाविलासरसिक हैं।[1] गरुड़ पुराण के आचारकाण्ड में श्रीकृष्ण की कथा को विस्तार दिया गया है। पूतनावध,यमलार्जुनकथा,गोवर्द्धनधारण, केशी,चाणूर वध,कालिय दमन,यमलार्जुनकथा,शकटासुरप्रसंग,सान्दीपनी के द्वारा शिक्षा की प्राप्ति और श्रीकृष्ण की आठ पत्नियों का उल्लेख है। अग्निपुराण में भी कृष्णावतार की कथा है।

देवीभागवतपुराण (४.२१) में प्रथम पुत्र के जन्म होने पर देवकी के द्वारा उस बालक को कंस को न देने की प्रार्थना है। कर्मों की गति पर विश्वास रखने वाले वसुदेव उस बालक को कंस को देते हैं। कंस उसको नहीं मारता है परन्तु नारद जी की प्रेरणा से वह प्रथम पुत्र को मार डालता है।

देवीभागवतपुराण (४.२३) में बड़े संक्षिप्त रूप से कृष्णजन्म,कृष्ण के गोकुल-गमन तथा गोकुल में विविध असुरों का वध करते हुए कृष्ण की बाललीलाओं का उल्लेख है। इस पुराण में भगवती राधा ही प्रकृति अथवा कुलकुण्डलिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्ण परमात्मा अथवा पुरुष हैं। वृन्दावन सहस्रदलकमल एवं गोप सुन्दरियां अन्त:करण की वृत्तियां हैं। श्रीकृष्ण नन्दनन्दन के रूप में वर्णित नहीं हैं,परब्रह्म के रूप में वर्णित हैं।[2] परब्रह्म रूप में ही श्रीकृष्ण अपनी चिद्रूपिणी प्रकृति के साथ विहार करते हैं,वही रास है। अपनी चित्शक्ति को प्रकट करने के लिए ही सृष्टि करते हैं।[3]

पद्मपुराण में वल्लवीकान्त श्रीकृष्ण देवता कहे गये हैं।[4] पद्मपुराण (द्वितीय-भाग) चतुर्थ पातालखण्ड में पूतनादि वध एवं यमलार्जुन भंजन की कथा का संकेत प्राप्त होता है।[5]

---

१. राधाविलासरसिकं कृष्णाख्यं पुरुषं परम्।
 श्रुतवानस्मि देवेभ्यः यतस्तद्गोचरो भवत् ।।-- वायुपुराण--आनन्दाश्रम संस्कृत-सीरीज़-- १०४।५२

२. स चात्मा स परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।--देवीभागवत पुराण,९.२.२४ ।

३. स कृष्णः सर्वसृष्ट्यादौ सिसृक्षन्नेक एव च ।-- वही-- ९.२.२६ ।

४. ऋषिश्चैवाहमेवास्य गायत्री छन्द उच्यते ।।
 देवता वल्लवीकान्तो मन्त्रस्य परिकीर्तितः ।
 सप्रियस्य हरेर्दास्ये विनियोग उदाहृतः ।।--पद्मपुराण (पातालखण्ड)८२।२८-२९ ।

५. भाण्डीरं द्वादशं वनं रम्यं मनोहरम् ।कृष्णः क्रीडारतस्तत्र श्रीदामादिभिरावृतः ।।
 -- पद्मपुराण,पातालखण्ड,अध्याय ६९,श्लोक ४८ तथा ५० और ५२ भी ।

कुछ लोग कृष्ण को चित्,अरूप,अव्यय ब्रह्म का अंश कहते हैं । उनके अंश के भी अंश महाविष्णु विद्वानों द्वारा कहे गये हैं । इस पुराण में श्रीकृष्ण का नन्दगोपात्मज रूप होते हुए भी ऐश्वर्य वर्णित किया गया है[1]। मूलप्रकृति राधा ही हैं[2]। ललिता,चन्द्रावली,षोडश प्रधान प्रकृति की ही अंशभूता हैं।

इसमें राधा को अन्य पुराणों की तरह वृषभानु की कन्या नहीं बताया गया है । वह तो वृषभानु राजा को यज्ञ के लिए भूमि शुद्ध करते समय मिलती है और वृषभानु उसका लालन-पालन अपनी कन्या समझ कर करते हैं ।

पद्मपुराण,पातालखण्ड (अध्याय ६९,८३) में रासलीला का विशद वर्णन है । रासलीला के समस्त उपादानों को आध्यात्मिक आवरण का चोला पहनाया गया है । गोपियों को योगिनी,कालिन्दी को अमृतवाहिनी सुषुम्ना,श्रीकृष्ण को सर्वव्यापक परमात्मा और वृन्दावन को चर्मचक्षुओं से अदृश्य तेजोमय स्थान के रूप में अभिव्यक्त किया गया है[3]।

पद्मपुराण,उत्तरखण्ड,अध्याय २७२ में वसुदेव और देवकी की कृष्ण के प्रति स्तुति तथा वर्षा में वसुदेव के गोकुलगमन का वृत्तान्त भागवत से समानता रखता है । भागवत की तरह ही अलौकिक घटनाएं यथा नवनीतहरण एवं असुरवध वर्णित है । इसी अध्याय में अक्रूर,नन्द,यशोदा वहां के निवासियों को कृष्ण के विष्णु रूप से परिचित कराते हैं । द्वारकागमन का भी प्रसंग है ।

पारिजात का वृत्तान्त पद्मपुराण,उत्तर०(अध्याय २७६) ब्रह्मपुराण,विष्णु-पुराण भागवत से भिन्न रूप में मिलता है ।

---

१. दिव्यव्रजवयोरूपं कृष्णं वृन्दावनेश्वरम् । व्रजेन्द्रं सततैश्वर्यं व्रजबालकवल्लभम् ।।
यौवनोद्भिन्नकैशोरं वयसाऽद्भुतविग्रहम् । अनादिमादिं सर्वेषां नन्दगोपप्रियात्मजम्।।
श्रुतिमृग्यमजं नित्यं गोपीजनमनोहरम् । परं धाम परं रूपं द्विभुजं गोकुलेश्वरम् ।।
-- पद्मपुराण,६९,अध्याय, श्लोक ८४,८५,८६ ।

२. तत्प्रिया प्रकृतिस्त्वाद्या राधिका कृष्णवल्लभा । तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिका । तस्या अंघ्रिरजः स्पर्शात्कोटिविष्णुः प्रजायते ।।
-- वही,अध्याय ६९, श्लोक ११८ ।

३. योगिन्यस्तास्तु एव हि मम देवाः परायणाः । कालिन्दीयं सुषुम्नाख्या परमामृतवाहिनी ।। सर्वतो व्यापकश्चाहं न त्यजामि कदाचन ।तेजोमयमिदं स्थानमदृश्यं चर्मचक्षुषाम् ।।
-- वही (पातालखण्ड) अध्याय ७५,१०-१३ ।

ब्रह्मवैवर्तपुराण को अधिकांश विद्वान् अर्वाचीन मानते हैं फिर भी इसका अनुशीलन करना आवश्यक है । इसके भी प्रमुख प्रतिपाद्य देवता विष्णु, श्रीकृष्ण ही हैं । इसमें परब्रह्म या परमात्मा नाम से श्रीकृष्ण का प्रतिपादन हुआ है । प्रकृति, ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि का आविर्भाव श्रीकृष्ण से हुआ है ।

इस प्रसंग में चार खण्ड हैं । ब्रह्मखण्ड, प्रकृतिखण्ड, गणपतिखण्ड तथा कृष्णजन्मखण्ड। इसमें गोलोक का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है । परमपवित्रमय दिव्यातिदिव्य चिन्मय नित्य गोलोक ही लीलाभूमि है, जहां निर्गुण ब्रह्मरूप तेजोमण्डल में परमप्रकाशमय पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण नित्य विद्यमान हैं ।

राधा और कृष्ण के अवतार लेने का कारण श्रीदामा और राधा का परस्पर शाप बतलाया गया है।[1]

"कृष्" सर्वार्थवाचक है, "न" से बीज अर्थ की उपलब्धि होती है । अतएव सर्वबीज-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को कृष्ण कहते हैं।[2] प्रकृति राधा है, जो ब्रह्मस्वरूपा नित्य और सनातनी है ।

प्रोफ़ेसर. विल्सन ने तो राधा स्वरूप का निर्धारण ही ब्रह्मवैवर्त का आश्रय लेकर राधा की शक्ति को कृष्ण निष्ठ सिद्ध करके किया है । उनकी दृष्टि में राधा कृष्ण की प्रेयसी हैं।[3]

---

१. ब्रह्मवैवर्तपुराण--कृष्णजन्मखण्ड पूर्वार्द्ध, तृतीय अध्याय, श्लोक ११६ ।

२. कृष्णजन्मखण्ड के तेरहवें अध्याय में (श्लोक ५५ से ६८ तक) "कृष्ण" शब्द की व्याख्या की गयी है । "कृष्ण" शब्द का "क" अकार ब्रह्मवाचक, "ऋ" अनन्तवाचक, "ष्" शिववाचक, "न" --धर्मवाचक, "अ" विष्णुवाचक और विसर्ग नरनारायण अर्थ का वाचक है ।

३. 'Radha is the favourite mistress of Krishna worship that deity and, not unfrequently obtains degree of preference that almost throws the charecter from whom she derives her importance in to shade.
— Hindu Religion, By H. H. Wilson, Page 113

राधा कृष्ण के साथ गोलोक में ही स्थित रही, वहीं उसके रोमकूपों से गोपियां प्रादुर्भूत हुईं[1]। राधा भी रासमण्डल में कृष्ण के वामपार्श्व से प्रकट हुई[2]।

प्रोफ़ेसर विल्सन के अनुसार पौराणिक काल की राधा, जिसका नाम "भागवत" में नहीं है, वह बाद में निर्मित ब्रह्मवैवर्तपुराण की देन है[3]। यह पुराण अर्वाचीन होने के कारण प्रामाणिक तो नहीं माना जाता फिर भी राधास्वरूप निर्धारण में इस पुराण का ही बहुत बड़ा श्रेय है।

इसी प्रकार गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद्[4] एवं नारद पांचरात्र भी परवर्ती रचनाएं होने के कारण राधा को प्रामाणिक सिद्ध करने में सफल नहीं हुई हैं।

---

१. राधांगलोमकूपेभ्यो बभूवुर्गोपकन्यकाः ।
राधातुल्याश्च सर्वास्ता नान्यतुल्याः प्रियंवदा ।।
--ब्रह्मवैवर्तपुराण", प्रकृतिखण्ड, अध्याय २, श्लोक ६४ ।

२. आविर्बभूव कन्यैका कृष्णस्य वामपार्श्वतः ।
धावित्वा पुष्पमानीय ददावर्घ्यं प्रभोः पदे ।।
रासे संभूय गोलोके सा दधाव हरेः पुरः ।
तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिर्द्विजोत्तम ।।
--ब्रह्मवैवर्तपुराण", ब्रह्मखण्ड, अध्याय ५, श्लोक २५, २६ ।।

३. The adoration of Radha is most undoubted innovation in the hindu creed, and one of very recent origin.... Even the Bhagvat makes no particular mention of her amongst the gopies of Vrandavana and we must look to the Brahmvaivarta as the chief authority of a classical charecter on which the presentation of Radha are founded.
— Hindu Religion, By H. H. Wilson, Page 113.

४. गोपालोत्तरतापन्यां यद् गान्धर्वेति विश्रुता ।
राधेत्यृक्परिशिष्टे च माधवेन सहोदिता ।।
-- उज्ज्वलनीलमणि', राधाप्रकरणम् ४।
तासां मध्ये हि श्रेष्ठा गान्धर्वी — गोपालतापिनीउपनिषद्, उत्तरभाग, पृ. ४६

इस पुराण में भी श्रीकृष्ण विष्णु के समकक्ष तो हैं ही । गोलोक में द्विभुज एवं चतुर्भुज वैकुण्ठ में हैं । इसका तात्पर्य यही है कि श्रीकृष्ण में एकमात्र परमसत्य तत्व भगवान् का तथा श्री राधा के रूप में एकमात्र परमसत्य तत्वमयी भगवती का प्रतिपादन किया गया है ।

ब्रह्मवैवर्त श्रीकृष्णजन्मखण्ड,अध्याय २८ में रासलीला का वर्णन भागवत से समानता रखता है,परन्तु अर्वाचीन होने के कारण रासलीला का श्रृंगारिक विस्तृत विवेचन रखता है ।

यह पुराण राधा जी के विवाह का वृत्तान्त "कृष्णजन्मखण्ड" पूर्वार्द्ध अध्याय १५ में प्रस्तुत करता है,जो ब्रह्मा द्वारा सम्पन्न होता है । वे भूतल पर वह रायणपत्नी के रूप में विद्यमान है।

गर्गसंहिता के "गोलोकखण्ड" अध्याय १६ में राधा का श्रीकृष्ण के साथ विवाह ब्रह्मा द्वारा ही सम्पन्न होता है । यहां पर राधा और कृष्ण के लौकिक विवाह का उल्लेख नहीं किया गया है,केवल वर-वरण का उल्लेख है । वह भी नन्द के प्रतिद्वन्द्वी वृषभानु को बहलाकर उनके वैभव की परीक्षा के लिए ही ऐसा किया गया है । ब्रह्मा द्वारा तो लोकोत्तर विवाह का अभिनय किया गया है[1] ।

इसी पुराण के "कृष्णजन्मखण्ड" अध्याय १२७ में (श्लोक ६१-८२ तक) कृष्ण गोकुल में रासमण्डल की अक्षयता को सिद्ध करके देहत्याग करते हैं,वे राधा कृष्ण अयोनिसंभव तो थे ही[2] ।

गर्गसंहिता के "गोलोकखण्ड" के "द्वितीय अध्याय" में भी श्रीकृष्ण परमेश्वर, अखण्डस्वरूप तथा देवातीत हैं । उनकी लीलाएं अनन्त एवं अनिर्वचनीय हैं । इसका प्रमाण तो ब्रह्मा एवं देवताओं सहित दुःखी पृथ्वी का विष्णु के समीप जाने पर विष्णु के कथन से मिल जाता है[3] ।

---

१. यदि नन्दसुतः साक्षात् परिपूर्णतमो हरिः ।
   सर्वेषां पश्यतां नस्तत्परीक्षां कारय प्रभो । -- गर्गसंहिता, गिरिराज खण्ड, अ० ६ श्लोक ८

२. ब्रह्मवैवर्तपुराण,कृष्णजन्मखण्ड,सप्तम अध्याय,श्लोक २८ ।

३. कृष्णं स्वयं त्विगणिताण्डपतिं परेशं साक्षादखण्डमतीदेवमतीवलीलम् ।
   कार्यं कदापि न भविष्यति यं विना हि गच्छाशु तस्य विशदं पदमव्ययं त्वम् ।।
   -- गर्गसंहिता (गोलोक खण्ड) अध्याय २,श्लोक ७ ।

इस संहिता में ब्रह्मानन्द के असीमित शाश्वत आनन्द की निर्झरिणी प्रवाहित होती रहती है। गोलोकखण्ड के प्रारंभिक पांच अध्यायों में श्रीकृष्ण के अवतरण का अभिप्राय बताया गया है।

श्रीकृष्ण का ब्रह्मस्वरूप नन्दनन्दनस्तोत्र (गोलोकखण्ड, अध्याय २०) ब्रह्माण्डदर्शन, गोलोकखण्ड अध्याय १८, विश्वरूपदर्शन गो०अ० १५, ब्रह्मस्तुति, वृन्दावनखण्ड, अ०२, कृष्णरूप-दर्शन (वृ०अ० ८) राधारूपदर्शन द्वारकाखण्ड अध्याय १६ में मिलता है। गोलोकखण्ड के १६वें अध्याय में भी चन्द्रावती राधा का प्रसंग आया है, जहां पर दोनों में एकरूपता है, सपत्नीभाव नहीं है।

"गोलोकखण्ड" द्वितीय अध्याय में देवताओं की स्तुति के समय श्रीकृष्ण को शुद्ध अन्त:करण, लीलाविग्रह धारण करने वाले, अवतारीपुरुष के रूप में माना गया है। देवता उन्हें अद्वैत एवं अभिन्न कहते हैं। इस संहिता में भी श्रीकृष्ण मानवरूप से पृथिवी पर जन्म नहीं लेते हैं, यह "प्रकट" शब्द से अनुमानित है। भगवान् का जन्म, कर्म दिव्य होने के कारण वह उत्पन्न नहीं होते वरन् संसार में प्रकट होते हैं।

इसी प्रकार परवर्ती पौराणिक साहित्य में श्रीकृष्ण के ईश्वर रूप का ही अधिक विकास हुआ है।

अतएवअधिकांशत: श्रीकृष्णकथाविषयक पुराणों के अध्ययन के पश्चात् श्रीमद्भागवत के विस्तृत कलेवर पर ही दृष्टि टिक जाती है क्योंकि वह इन समस्त पुराणों से प्राचीन है और श्रीकृष्णकथा के सम्बन्ध में उचित न्याय करता है। श्रीकृष्ण को अन्य पुराणों की तरह शृंगारिक पुरुष मात्र नहीं बतलाता वरन् अलौकिक ब्रह्म के दिव्य प्रकाश में श्रीकृष्ण को भी स्वर्ण के समान खरा बना देता है। इस पुराण में कृष्ण सर्वत्र ब्रह्मरूप से वर्णित हैं और उनकी लीलाओं की भी दार्शनिक व्याख्या की गयी है।

श्रीमद्भागवत को "व्यासरचित" वेद की व्याख्या कहा गया है। अत: कृष्णविषयक आख्यान अन्य पुराणों में विद्यमान होते हुए भी इस पर दृष्टिपात करना अपेक्षित हो जाता है। आध्यात्मिक आवरण में विद्यमान श्रीकृष्ण की मानवीय लीलाएं, ब्रह्म की मानवीय लीला, यहां तक कि शृंगारपरक लीला का भी रोचक वृत्तान्त उपलब्ध है। भागवत धर्म के उपास्य वृष्णियों के नायक श्रीकृष्ण थे और

भागवत का सिद्धान्त नारायण के उपासकों द्वारा ही परिवर्धित हुआ[1]।

श्रीमद्भागवत पुराण में परब्रह्म की तीन स्थितियां हैं। ब्रह्म विशुद्ध ज्ञानमय है। ज्ञानमार्गियों के लिए तो कृष्ण ब्रह्मरूप से ही अपनी मनमोहिनी छवि का दर्शन कराते हैं। साधक योगियों के लिए वह परमात्मा रूप से एवं भक्तों के लिए भगवान् रूप से दृष्टव्य हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण में इन तीनों स्वरूपों का ही समाहार हो जाता है[2]।

श्रीकृष्ण स्वयं अवतारी हैं, पूर्णब्रह्म हैं। वह अवतरित रूप में भी अवतारी ही रहते हैं, उनकी पूर्णता में कोई हानि नहीं होती। तत्वतः वह परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं। अवतरित दशा में वह मनुजाकार यशोदानन्दन, गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण हैं[3]। अन्य अवतार इनके अंश-कला आदि हैं।

इस पुराण में एक स्थल पर श्रीकृष्ण एवं बलराम को नारायण के दो रूप कहा गया है, जो असुरों के संहार के लिए अवतरित होते हैं[4]। ब्रह्मा भी स्तुति के अवसर पर प्रश्न करते हैं कि क्या आप नारायण नहीं हैं?[5]

---

१. Bhagvat was originally designation of the worshippers of the Narayan.
-- इन्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, भाग ६--श्री मृणालदास गुप्ता, पृ० ६६५।

२. वदन्ति तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति, भगवानिति शब्द्यते ॥
--श्रीमद्भागवतमहापुराण--१।२।११

३. मध्ययुगीन कृष्णभक्ति धारा और चैतन्य सम्प्रदाय--डॉ० मीरा श्रीवास्तव, पृ०३७ (शोध ग्रन्थ)

४. श्रीमद्भागवतमहापुराण--२।७।२६

५. वही--१०।१४।१४

इस प्रसंग में श्रीकृष्ण अपने को उपादान कारण,सर्वात्मा ईश्वर,साक्षी स्वयं प्रकाश एवं उपाधिशून्य परब्रह्म कहते हैं।[1] अखिलात्मा श्रीकृष्ण जगत् के हित के लिए ही माया द्वारा पुरुष रूप में प्रकट होते हैं।[2] "प्रकट" शब्द से यह प्रतीत होता है कि उनका जन्म-कर्म दिव्य होने के कारण लौकिक प्राणियों की तरह उत्पन्न नहीं होते हैं।[3] इसमें श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य और माधुर्य समन्वित रूप वर्णित है। वसुदेव जी भी कहते हैं कि राम,कृष्ण उनके पुत्र नहीं हैं,अपितु प्रकृति और पुरुष के भी ईश्वर हैं।[4]

यहां पर भी सांख्य का प्रधान दृष्टिकोण प्रतिपादित किया गया है। जिस प्रकार ईश्वर शक्ति प्रकृति पुरुष से परे है,वैसे ही राधा,कृष्ण भी सांख्य प्रतिपादित जड़ प्रकृति तथा साक्षी पुरुष से परे हैं। इस प्रकार महिम में राधा,कृष्ण,ब्रह्मा, विष्णु,महेश एवं उनकी शक्तियों की त्रयी से भी परे हैं। यह त्रयी भी श्रीकृष्ण की गुणावतार है।[5]

वेदान्तियों के परम साध्य ब्रह्म की उपमा कृष्णभक्त श्रीकृष्ण की अंगछटा से देते हैं। जिस प्रकार से सूर्य केन्द्र स्थानीय है एवं उसका मण्डल उसकी प्रतिच्छाया है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण केन्द्र हैं एवं ब्रह्म उनकी अंग:ज्योति है,केन्द्रस्थ भगवान् की निराकार ज्योति।[6]

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--४।७।५२-५६

२. कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया।।--श्रीमद्भागवतमहापुराण १०।१४।५५

३. देहीव देहस्थ इव अमेति क्रीडति,इव सर्वेदना श्रीकृष्णस्य तु नजीवक्त् पृथग् देहम् प्रविष्टवान् इति गम्यते।--अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट इन - बंगाल (भागवत संदर्भ)--प्रो० सुशीलकुमार डे,पृ० २८५।
न यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते।
आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः ।।--श्रीमद्भागवत ६।२४।५७
न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ।।--वही--१०।४६।३८

४. युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ-- वही--१०।८५।१८

५. मध्ययुगीन हिन्दी कृष्णभक्तिधारा और चैतन्य सम्प्रदाय--डॉ०मीरा श्रीवास्तव,पृ-४५

६. वही--पृ० ३४।

ब्रह्मसंहिता में कहा गया है कि कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, क्षिति आदि पृथक्-पृथक् भूतों में जो अधिष्ठित है, उस निष्कल अनन्त एवं अशेष स्वरूप ब्रह्म की, जो प्रभावशाली गोविन्द की देहप्रभा है, हम उसकी आराधना करते हैं।[1]

कृष्ण साक्षी हैं।[2] संविद हैं।[3] आत्मा हैं,[4] श्रेष्ठ हैं,[5] सर्गादि के हेतु हैं।[6] सत्वादि गुणों के द्वारा उन्हें विष्णु आदि, वसुदेव के यहां जन्म लेने से उन्हें वसुदेवादि गोवर्द्धनधारिणादि लीला से गिरिधरादि नामों से श्रीकृष्ण के स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता।[7] यह सब जन्मकर्मादि साधक दृष्टि से ही सत्य हैं, वस्तुतः नहीं अतएव देवकी भी कृष्ण के गर्भवास को "नृलोकस्यविडम्बनम्" कहती हैं।[8]

भागवतकार श्रीकृष्ण को अद्वयज्ञानतत्व कहते हैं।[9] अतएव अद्वयज्ञानतत्व वसुदेव तत्व का कहीं खण्डन नहीं है, अपितु प्रतिष्ठा ही है।

---

१. यस्य प्रभाप्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम् ।
तद्ब्रह्मनिष्कलमनन्तमशेषभूतम् ।
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।-- ब्रह्म संहिता--५।४६

२. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।२।३६

३. वही-- १०।१६।४६

४. वही-- १०।१४।५५

५. वही-- १०।१४।५०

६. वही-- १०।४७।३०

७. न नामरूपे गुणजन्मकर्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो देवक्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ।।
--श्रीमद्भागवत १०।४७।३०

८. श्रीमद्भागवतमहापुराण-- १०।३।३१

९. ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यं ।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ।।--भागवत ५।२।११
सत्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।
सत्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो ह्यधोक्षजो मे नमसा ।।--वही ५।३।२३

"इदानीं कृष्णतां गतः"[1] व्युत्पत्ति के अनुसार कृष्णवर्ण वाले,वसुदेवसुत नन्दनन्दन कृष्ण जो गोप जाति के हैं,नराकार हैं,वह वास्तव में कृष्ण नहीं हैं। श्यामवर्ण के कारण जो कृष्णत्व है वह तो कालपरिच्छिन्न है,नित्यत्व नहीं है। कदाचित् यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही लगता है कि सत्वगुण के अधिष्ठाता राम, कृष्ण,कृष्ण वर्ण के क्यों हैं ? जबकि सत्व का रूप शास्त्रों में श्वेत है। श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार होने के कारण उन्हीं के वर्ण के तुल्य होने पर विष्णु के विषय में भी यही शंका प्रस्फुटित होती है क्योंकि वह भी सत्वगुण के अधिष्ठाता हैं। कृष्ण वर्ण तीन प्रकार का होता है । अनुपाख्य कृष्ण,अनिरुक्त कृष्ण और निरुक्त कृष्ण । सृष्टि की पहलेकी अवस्था "आसीदिदं तमोभूतम्" (मनुस्मृति) यह "अनुपाख्य" कृष्ण है। इसलिए कार्यकारणभाव सम्बन्ध से कार्य की अपेक्षा से कारणावस्था को कृष्ण एवं कार्योत्पत्ति दशा को शुक्ल कहते हैं। परमब्रह्म के पर्याय रूप विष्णु या कृष्ण हैं। उनका प्रवचन भागवत है एवं भागवत का भी अपौरुषेयत्व सिद्ध है[2]। भागवत में कृष्ण का नराकार चतुर्भुजरूप और ब्रह्मरूप दोनों ही प्रतिपादित हैं[3],तो नराकार चतुर्भुजरूप कोही भागवतसम्मत समझना चाहिए परन्तु अधिकांश भागवत का साध्यपक्ष ब्रह्म को बतलाते हैं,क्योंकि उसमें नराकार सगुण रूप का समाधि में स्पष्टतः त्याग बताया गया है[4]। नन्दनन्दनत्व अथवा वसुदेवसुतत्व का स्पष्टतः खंडन है[5]। दोनों रूपों को खण्डित करके परमाद्य रूपकी ही प्रतिष्ठा है।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।८।१३

२. श्रीमद्भागवत में प्रेमतत्व--श्रीरामचन्द्र तिवारी (अप्रकाशित शोधग्रन्थ),पृ० ७।

३. त्वं ब्रह्म परमं साक्षाद्--श्रीमद्भागवत--१०।२३।११

विदितोऽसि भवान् साक्षाद् पुरुषः प्रकृतेः परः--वही-१०।३।१३ एवं १०।१।२०

४. श्रीमद्भागवत ३।२८।३४,३५,१०।१४।४३-४६

५. वही-- १०।८।४२,१०।४६।३८-४२,१०।८५।८६

अद्वयरूप जब सत्वगुण रूपी उपाधि के द्वारा अविच्छिन्न नहीं होता तब वह अव्यक्त और निराकार भाव में विद्यमान रहता है, इसी को निर्गुण ब्रह्म कहते हैं।[1] जब वह सत्व से अविच्छिन्न रहता है तब वह सगुण या साकार है। साकार निराकार एक ही वस्तु है।

कृष्ण अवतारी पुरुष न होकर विशिष्ट देव थे। परन्तु ऐसा कहने में विरोध उपस्थित होता है कि यदि पृथ्वी का भार हटाना ही पुरुषावतार के लिए मुख्य है, फिर उसका सम्बन्ध विशिष्ट दिव्य कृष्ण के साथ क्यों निर्धारित किया गया। इसका कारण भागवत कृष्ण का अवतार सूची में निर्देश होना उनके मुख्य चरित्र (स्वरूपस्थापन) को सूचित करता है। श्रीकृष्ण कभी कभी तो समस्त लोक के लिए दृश्य अवतार की तरह ही दिखायी पड़ते हैं, जो कि परिजनों के लिए विशेष आनंदकारी हैं। यहां पर भागवत कृष्ण एवं अवतारी कृष्ण में भिन्नता प्रदर्शित की गयी है।

भागवत कृष्ण विशिष्ट दैवीगुणों से ओतप्रोत हैं एवं प्रकटीभूत कृष्ण अंश अवतार हैं। भागवत श्रुति कृष्ण को "अंशेनावतार:" भी बहुधा कहती है।[2] एक स्थान पर भगवान पुरुषोत्तम का प्रकट होना भी वर्णित है।[3] वेदान्त का पूर्ण ईश्वर ही नराकार रूप में अवतीर्ण है, यही भागवत में "कृष्णास्तु भगवान्स्वयं" से अभिप्राय है।[4] यह अभिप्राय नहीं है कि जो अद्वयज्ञान तत्त्व है वही नराकार में माया से परिच्छिन्न हो गया।[5]

---

१. ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं।
--श्रीमद्भागवतमहापुराण १०।३।२४

२. तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस: न: ।--श्रीमद्भागवत १०।१।२
अथाहमंशभागेन देवक्या: पुत्रतां शुभे ।-- वही--१०।२।९
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभे: ।-- वही--१०।२।१६
ततो जगन्मंगलमच्युतांशं । -- वही--१०।२।१८
अवतीर्णोंऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ,,--१०।१०।३५
मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम्--१०।२६।२३
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वर: । वही-१०।३३।२७
अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ । वही १०।३८।३२
अवतीर्णो विहारेण क्षेमाय च भवाय च । वही १०।४२।४६
ततोजगन्मंगलमच्युतांशं । वही १०।२।१८

३. वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुष: पर: ।जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रिय: ।
४. श्रीमद्भागवत में प्रेमतत्व--श्रीरामचन्द्र तिवारी, पृ०७३ ।श्री,१०।१।२३,१०।३।२४
५. श्रीमद्भागवतमहापुराण १।३।११

अवतार शरीरों का भगवान् अपनी माया से ग्रहण करते हैं।[1] आविर्भाव या अवतार सत्वगुण के प्रतीक हैं,गुणातीत अक्षय ज्ञानतत्त्व ब्रह्म के नहीं। इतने सारे अवतार एक ही परमतत्त्व के नित्य स्वरूप नहीं हो सकते।

भगवान् ने अपना शरीर शब्द ब्रह्म एवं परब्रह्म बतलाया[2] है,न कि अवतार या आविर्भाव विशेष को। इन अवतार जन्मादि को तो भगवान् अपनी माया से ग्रहण करते हैं,स्वरूप से नहीं। वस्तुत: वह उनके जन्मादि नहीं हैं।

महाभारत एवं विष्णुपुराण में यह किंवदन्ती है कि कृष्ण और बलराम नारायण के कृष्ण एवं श्वेत केश हैं। इस किंवदन्ती का साहित्यिक रूप से मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है क्योंकि ईश्वर तो जरावस्था का विषय नहीं है। वह जरा-मरण से परे है तो फिर श्वेत केश क्यों धारण किये हुए है। इसका प्रतीकात्मक अर्थ लेने पर प्रतीत होता है कि 'केश' शब्द ज्योतिर्मय अंश को द्योतित करने के लिए ही प्रयुक्त है। श्वेत और ज्योतिर्मय पुंज वासुदेव और संकर्षण को विशिष्ट देव से निसृत सूचित करने के लिए प्रयुक्त हैं। नारायण भी भागवत कृष्ण के अंश हैं और कृष्ण पर यह दीप्ति उनको ईश्वर बना देती है[3]।

भागवतपुराण कृष्ण को परब्रह्म के रूप में ही प्रतिष्ठित करता है। 'वासुदेव' पद को अपत्यार्थ प्रयुक्त नहीं करता। अपत्यार्थ प्रयुक्त करने पर अन्य रामादि अवतार के साथ उनकी संगति नहीं बैठती,क्योंकि वह वसुदेवपुत्र नहीं हैं[4]। पुत्रभाव का निषेध तो 'भागवत' में ही है। अवताररूप वर्णन में 'माया मनुष्यत्वादि--आया है[5]।

---

१. अवतीर्णं स्वमायया-- श्रीमद्भागवत-- ३।२४।१६

२. शब्द ब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू --श्रीमद्भागवतपुराण--६।१६।५१

३. अर्ली हिस्ट्री आफ् वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट इन बंगाल(कृष्ण संदर्भ)--प्रोफेसर-सुशीलकुमार डे,पृ० ३२३।

४. श्रीमद्भागवत महापुराण--५।१६।५

५. मापत्यबुद्धिमकृथा कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये ।।--

--श्रीमद्भागवतमहापुराण ११।५।४६

नटनाट्यत्वादि भी कृष्ण के नन्दनन्दनत्व को खण्डित करने में प्रमाणभूत हैं[1]। जिस प्रकार नट अनेक प्रकार का स्वांग बना कर भी उससे निर्लेप रहता है, ठीक उसी प्रकार भगवान् का भी मनुष्यों के समान जन्म लेना, लीला करना, संवरण करना आदि उनकी माया का ही विलास है।

श्रीकृष्ण माया से पुत्रभाव का स्नेहासक्त वातावरण तो उपस्थित करते हैं, परन्तु विद्युतंत्री की भांति अपने ब्रह्मत्व को भी प्रदर्शित कर देते हैं। जब हम श्रीमद्-भागवत के दशमस्कन्ध पर दृष्टिपात करते हैं तो उनकी लीलाओं का मूल्यांकन करके हम प्रतीत करते हैं कि पुत्रभाव की स्नेहिल झांकी प्रदर्शित करते-करते किस तरह किसी भी पात्र द्वारा श्रीकृष्ण अपने परब्रह्म का स्मरण दिला देते हैं। उनकी अलौकिक लीलाओं को देखकर गोपजन दिव्य प्रकाश से चकाचौंध हो जाते हैं। श्रीकृष्ण उन लोगों के वात्सल्य को देख कर वात्सल्य की निर्झरणी प्रवाहित कर देते हैं।

वात्सल्यादि प्रेम में देवकी, वसुदेव उन्नीस ही रहे एवं नन्द-यशोदा इक्कीस रहे। यह श्रीकृष्ण में ईश्वर की गन्धमात्र भी नहीं देखते हैं परन्तु देवकी, वसुदेव में वात्सल्य का विरोधी ऐश्वर्य ज्ञान मिश्रित है।

श्रीमद्भागवत के अन्तरंग रूप पर दृष्टिपात करने से पहले उसकी बहिरंग परीक्षा करना भी नितान्त आवश्यक है। परीक्षण के पश्चात् इसकी महापुराणता तो सिद्ध हो जाती है। अब यह विचारणीय है कि इस पुराण का पुराणत्व क्या है? भगवान् ने अपने तत्व का विवेचन ब्रह्मा से किस प्रकार किया है[2]।

ब्रह्मा ने भी अपनी स्तुति में यही समर्थन किया है कि आपके नाभिरूप भवन से मेरा जन्म हुआ है[3]। स्वयं सर्वातीत सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि जगत् का कारण मैं ही हूं। मैं ब्रह्मा, महादेव, सर्वात्मा, ईश्वर और साक्षी हूं तथा स्वयंप्रकाश

---

१. मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य।--श्रीमद्भागवतमहापुराण-११।३१।११, १०।८४।२२

२. अहमेवासमेवाऽग्रे नाऽन्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥--भागवत--२।९।३२

३. भागवत-- ३।९।२१

और उपाधिशून्य,भेदरहित विशुद्ध परब्रह्म स्वरूप मैं हूं[1]। स्वयं श्रीकृष्ण ने एकादश स्कन्ध में (अध्याय १६,श्लोक ६-२४ तक) अपने को उत्पत्ति,स्थिति,प्रलय का कारण,सर्वविद्यमान,वेदों का अभिव्यक्तिस्थान,हिरण्यगर्भ एवं तीन मात्राओं वाला ओंकार,द्वादश आदित्यों में विष्णु कहा है। इससे प्रतीत होता है कि विष्णु ही परमशक्तिवान् कृष्ण के रूप में दशम स्कन्ध के प्रारंभ में आविर्भूत होते हैं।

शंका का अंकुर मन में प्रस्फुटित होता है कि जब कृष्ण अशेषदृश्यादृश्य चराचर के स्वामी हैं एवं अखिलात्माओं के आत्मा,संकल्पमात्र से सृष्टि करने में समर्थ हैं,तो फिर परब्रह्म श्रीकृष्ण का जगत् में अवतरण करने का क्या अभिप्राय था ? श्रीमद्भागवत में तो ब्रह्मा की स्तुति से गौ रूप पृथ्वी की प्रार्थना पर भगवान् ने अवतार लिया था[2]।

भागवत में तो श्रीकृष्ण को दिव्य ब्रह्म के रूप में उपस्थित किया गया है। श्रीकृष्ण न तो अवतारी थे,परन्तु अवतार लिये-से प्रदर्शित होते थे। उनके लिए पृथ्वी का भार हटाना --यह बात उनसे सम्बन्धित नहीं करनी चाहिए थी। यह तो अवतारी पुरुष का काम है। इस शंका का निवारण तो इस बात से हो जाता है कि वह स्वस्वरूप में स्थित होकर भी अवतार लिये-से प्रतीत होते हैं। अवतार के समय श्रीकृष्ण दिव्य चरमावस्था रूप से ही दैत्यों के विनाश हेतु अवतरित होते हैं। यही पृथ्वी का भार है[3]। पृथ्वी का भार उतारने में प्रधान कारण श्रीकृष्ण का स्वलीला प्रदर्शन करना था।

---

१. भागवत ४।७।५१-५२

२. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।१।१७
   ब्रह्मवैवर्तपुराण (श्रीकृष्णजन्मखण्ड पूर्वार्द्ध) अध्याय ४।
   गर्गसंहिता--२।७
   हरिवंशपुराण--१।५१,१-३३
   विष्णुपुराण (पंचम अंश) अध्याय प्रथम।
   पद्मपुराण,षष्ठ उत्तरखण्ड,अध्याय २४५।
   अग्निपुराण--अध्याय १२,श्लोक ४।

३. इनसाइक्लोपीडिया आफ रैलिजन एन्ड एथिक्स--भाग २,पृ० ५३६।

श्रीकृष्ण गुणों से अतीत होने पर भी लीला के लिए खेल-खेल में सत्त्व,रजस्,तमस् इन गुणों को स्वीकार कर लेते हैं एवं जगत की रचना और संहार करते हैं।[1] जीव ब्रह्म में समाविष्ट होने की आकांक्षा करता है। उसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए जीव,ब्रह्म में तिलतण्डुल मात्र भी भेद न प्रदर्शित होने के लिए,वात्सल्यादिक गुणों का आधान करके,भक्तजनों के लिए परमसाधना का मार्ग प्रशस्त करके पृथ्वीतल पर श्रीकृष्ण अवतरित होते हैं।

वसुदेव,देवकी,नन्द-यशोदा,गोप-गोपियाँ आन्तरिक परिकर के रूप में उपस्थित होते हैं। समस्त देवगण गोप के रूप में,श्रुतियाँ,ऋषि तथा अन्य अभिलाषी भक्तगण गोपियों के रूप में उपस्थित होकर भगवान् की लीला में सहायक होते हैं। लीला में भाग लेने वाले गो-गोपी पात्र हैं। 'गो' का अर्थ इन्द्रियवाचक अर्थ लेने पर जिज्ञासु की वृत्ति तृप्त नहीं होती। क्या परमानन्द की प्राप्ति चेतना की निम्न अभिव्यक्ति इन्द्रिय से होती है? कदापि नहीं। ऋग्वेद में प्रकाश,ज्योति के अर्थ में 'गो' शब्द व्यवहृत हुआ है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि गोप-गोपी चेतना को धारण करने वाले व्यक्ति हैं।[2] श्रीकृष्ण प्राकृतजन के लिए दुर्लभ दिव्यलीलारूप निर्झरणी में निमग्न करके भक्तों को चरमावस्था में आसीन कर देते हैं। दिव्यक्रीडा में नीरक्षीर की भाँति भेद प्रदर्शित नहीं होता। साधक और साध्य में भेद नहीं रह जाता।

श्रीकृष्ण न तो यशोदा के गर्भ से और न देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे,परन्तु प्रवेश किये बिना ही उन दोनों के पुत्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। इसका कारण जान लेने पर पता चलता है कि श्रीकृष्ण भक्तवसुदेव,देवकी के कृष्णरूप पुत्रप्राप्ति का अभिप्राय जानकर सत्,चित्,आनन्द विग्रह को धारण करके,वसुदेव के पुत्र के रूप में भौतिक जगत् में अवतरित नहीं होते परन्तु उनके मस्तिष्क में प्रवेश किये हुए-से प्रतीत होते हैं। मनुष्य के रूप में वास्तव में उनका जन्म नहीं होता।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।४६।३९-४०

२. मध्ययुगीन कृष्णभक्तिधारा और चैतन्य सम्प्रदाय (शोधग्रन्थ)--डॉ० मीरा श्रीवास्तव, पृष्ठ १७५।

वसुदेव,देवकी के पुत्र के रूप में कृष्ण का रूप असाधारण है । एक ओर तो उनका ऐश्वर्यप्रधानरूप एवं दूसरी ओर बालसुलभ अल्हड़ अठखेलियों से भरा जीवन ।

कृष्ण के प्रति भक्ति में तन्मयता की चरमावस्था वसुदेव,देवकी में नन्द-यशोदा से निम्न दिखायी देती है । वसुदेव-देवकी में ब्रह्मरूप ही ग्राह्य है जो चिरकाल तक वात्सल्य की निर्झरणी में अवगाहन नहीं कर पाता । नन्द-यशोदा प्राकृत लीला में अतिशय वात्सल्यानुराग एवं मातृपितृक भावनाओं के कारण भगवान् के सर्वाधिक अंश के अधिकारी हैं । अप्राकृत लीला में माता,पिता,पुत्र का सम्बन्ध वात्सल्य द्वारा प्रकट पुष्ट हो जाता है । श्रीकृष्ण वसुदेव और देवकी के द्वारा ब्रह्मरूप ग्राह्य होने के कारण उनके समक्ष अपना मधुर मुग्धकृत शिशुज गोपरूप उपस्थित नहीं करते वरन् विस्मयकारी, प्रभावित करनेवाला चतुर्भुज रूप उपस्थित करते हैं[1] । इसके पश्चात् भयभीत देवकी उस रूप को अन्तर्निहित होने के लिए कहती है,क्योंकि वह ध्यान की वस्तु है[2] । नन्द-यशोदा का अतिशयानुराग उनके ब्रह्मरूप को एक किनारे रख देता है । यद्यपि ब्रह्म का स्मरण नन्द-यशोदा भी करते हैं परन्तु उनको पीताम्बरधारी,वेणुधारी श्याम मोहन की मूर्ति ही अत्यधिक प्रिय प्रतीत होती है ।

जब श्रीकृष्ण अपने तीन जन्मों में वसुदेव,देवकी का पुत्र पृश्निगर्भ,उपेन्द्र और कृष्ण नाम से बताते हैं तो साथ ही साथ वह इस बात का भी स्मरण दोनों को करा देते हैं कि पुत्रभाव रख कर भी निरन्तर ब्रह्मभाव ही रहे,इसी वात्सल्य स्नेह से परम पद की प्राप्ति होगी[3] । वात्सल्यभाव की प्रतिष्ठापना वह स्वयं करते हैं । उसकी पुष्टि के लिए साधारण शिशु के रूप में हो जाते हैं[4] । माया मनुज से प्रतीत होता है कि जन्म,कर्म मायिक हैं[5] ।

---

१. अर्ली हिस्ट्री आफ़ वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट इन बंगाल--प्रो०सुशीलकुमार डे,पृ-३४१

२. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।३।२८-३०

३. वही-- -- --१०।३।४५

४. बभूव प्राकृतः शिशुः (१०।३।४६),गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा(१०।६।१४), अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा (१०।११।४०) ।

५. वही--१०।२३।३६

भागवत में परम् ब्रह्म की नित्यसहचरी की कल्पना करना भी असंगत है,क्योंकि वह भगवान के साथ अवतरित नहीं होती । ह्लादिनीशक्ति या स्वरूपशक्ति जिसको आध्यात्मिक भाषा में भगवान् की आन्तरिक लीला या दिव्यक्रीडा कहते हैं,जिसमें भगवान् भक्तगणों के साथ आनन्दित होते हैं--यह लीला ही नित्य सहचरी के साथ होती है । ह्लादिनी शक्ति में सत्,चित्,आनन्द भी है । राधा ही ह्लादिनी शक्ति है । ह्लादिनी में प्रतिभासित गुण पूर्ण सौन्दर्य के साथ मग्न हो जाते हैं ।

भागवत में किसी भी नित्य सहचरी का सहाकार नहीं है । कुछ अनुभवी टीकाकारों ने दूध में घृत[1] की भांति राधा को अप्रकट होने पर भी भागवत में उसका साक्षात्कार किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि राधावादी भक्तों ने भागवत में भी राधावाद की स्थापना करने के लिए खींचतान कर उनको सिद्ध करने का प्रयास किया है ।

योगमाया का यशोदा की कन्या के रूप में वर्णन तो हुआ[2] है परन्तु बाद में वह अम्बिका,कृष्णा नाम से प्रसिद्ध हुई है । वह नन्दजा है,वृषभानुजा नहीं है । ईश्वर की यह योगमाया उनकी लीला के कार्य सम्पन्न करने के लिए अंश रूप से अवतार ग्रहण करती है[3] । भागवत के दशम स्कन्ध में जब ब्रह्मा उस प्रियतमा की सेवा के लिए देवांगनाओं को जन्म ग्रहण करने का आदेश देते हैं तो यह बात भी ध्वनित होती है कि श्रीकृष्ण के साथ उनकी प्रिया का भी सहाकार है । यह प्रियतमा राधा हो सकती है[4] । यह कथन उपर्युक्त कथन को सिद्ध करने के अभिप्राय से कहा गया है,परन्तु

---

१. नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ।--श्रीमद्भागवतमहापुराण २।४।१४

२. वही--१०।२।६

३. आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति ।।--श्रीमद्भागवत १०।१।२५

४. वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ।। --वही,१०।१।२३

प्रारंभ में तो नित्य सहचरी के साक्षात्कार के सम्बन्ध में निराकरण ही किया गया है ।

इस प्रकार कृष्णकथाविषयक पुराणों के अनुशीलन करने के पश्चात् यदि उनमें से कृष्ण-सम्बन्धी वृत्तों से कल्पनात्मक,प्रतीकात्मक,उपमात्मक और धार्मिक आवरण को अलग कर दिया जावे तो वह पूर्ण मानव एवं ऐतिहासिक पुरुष दृष्टिगोचर होते हैं।[१] उसमें पूर्ण ब्रह्म एवं नित्य सहचरी की गुंजाइश नहीं रहती ।

ब्रह्माण्डपुराण में तो कृष्ण के मानवीय रूप से जन्म लेने की बात कही गयी है । यद्यपि इनमें भी प्रभु नारायण ही मनुष्य योनि में वसुदेव की तपस्या के फलस्वरूप देवकी के गर्भ में उत्पन्न हुए[२] । भागवत में भी सांकेतिक रूप से यह बात कही गयी है[३] । वसुदेव जी के मन में वह अपनी समस्त कलाओं के साथ प्रकट हो जाते हैं[४] । उसमें विद्यमान होने पर भी श्रीकृष्ण ने अपने को अव्यक्त से व्यक्त कर दिया । प्रविष्ट न होने पर प्रविष्ट-से जान पड़ते हैं[५] ।

वसुदेव जी श्रीकृष्ण को प्रकृति से अतीत साक्षात् पुरुषोत्तम कहते हैं[६] । देवकी-स्तुति के समय श्रीकृष्ण को निर्विकार ब्रह्म के रूप में एवं विष्णु के रूप में ही प्रदर्शित करती हैं[७] ।

---

१. हिन्दी साहित्य में कृष्ण--डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ,पृ० ५ ।

२. देवक्यां वसुदेवेन तपसा पुष्करेक्षणः । चतुर्बाहुस्तु संजज्ञे दिव्यरूपश्रियाऽन्वितः ।
   प्रकाश्यो भगवान्योगी कृष्णो मानुषतां गतः ।
   अव्यक्तो व्यक्तलिंगश्च स एव भगवान्प्रभुः ।।--ब्रह्माण्डपुराण ३।७१।१९७-१९८

३. श्रीमद्भागवतमहापुराण १०।२।६,१०।३८।१०,१०।२।१८,१०।१०।३५,१०।३३।२६,
   १०।४३।२३,१०।४८।२४.

४. वही--१२।२।१६

५. वही--१०।३।१४

६. वही--१०।३।१३

७. वही १० ।३।२४

वायुपुराण में भी इसी तरह का उल्लेख है[१]।

श्रीकृष्ण लीला के परिकर श्रीकृष्ण के अंशावतार बलराम भी देवकी के गर्भ में स्थित प्रदर्शित किये गये हैं[२]। प्रभु द्वारा आदिष्ट योगमाया के द्वारा उन्हें वसुदेव पत्नी रोहिणी के गर्भ में स्थित कराया जाता है। अतएव उन्हें संकर्षण एवं लोक-रंजन होने के कारण "राम" कहा जाता है[३]। संकर्षण बलदेव भी नागपूजा के बहुत से रूपों को प्रकट करते हैं। यद्यपि संकर्षण बलराम वैष्णवों के लिए दिव्यरूप से युक्त होकर महाभारत और पुराणों में अलौकिक रूप से अपना ~~निकटत्व~~ निकटतम सम्बन्ध रुद्र एवं शिव से जोड़ते हैं।

पांचरात्र संहिता में भी संकर्षण का रुद्र एवं शिव के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है[४]। ब्रह्माण्ड पुराण में भी रुद्र को हलायुध के रूप में हलरूपी आयुध लिये हुए ही प्रदर्शित किया गया है[५]।यही संकर्षण रुद्र हैं,जो शेषनाग के मुख से निकले हैं। प्रत्येक कल्प के अन्त में ही इस तरह की घटना होती है[६]। हरिवंश के अनुसार भी शेष का दूसरा नाम अनन्त है,जो शिव से उत्पन्न होकर संकर्षण से तादात्म्य स्थापित करता है[७]।

---

१. यदा चन्द्रेन वांशेन कृष्णः पुरुषसत्तमः ।
वासुदेवाणदुश्रेष्ठो वासुदेवोभविष्यति ।-- वायुपुराण--३१।२०६

२. देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम् ।-- भागवत-१०।२।८

३. वही--१०।२।१३

४. इन्ट्रोडक्शन आफ पांचरात्र संहिता एन्ड अहिर्बुधन्य संहिता--थान श्रेडर,पृ०३६ ।

५. ब्रह्माण्डपुराण--२३।३२

६. विष्णुपुराण (द्वितीयभाग) पंचम अंश,श्लोक १८

७. एपिक माइथालॉजी--हॉपकिन्स,पृ० २४ ।

संकर्षण द्वारा हलायुध लेने के कारण उनका सम्बन्ध कृषि से ही अत्यधिक जोड़ा जा सकता है। परम्परागतरूप से शेष संकर्षण अपने आपको महान योगी कहते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के अध्येता, जिन्होंने सात्वतशास्त्र में वर्णित भागवत नाटक की शिक्षा दी[1]। महाभारत ने भी संकर्षण की सात्वत विधि की पूजा की। द्वापर के अन्त में एवं कलियुग के पहले व्याख्या की है[2]।

'भागवत' में तो बलराम या बलदेव ब्रह्माण्ड नाग जो कि शेषनाग ही है, उसी रूप से वर्णित हैं। यह कृष्ण एवं बलराम के मथुरागमन पर ही प्रकट होता है, जब अक्रूर यमुना में स्नान के लिए जाते हैं। वहां अक्रूरको दोनों भाई शेष एवं कृष्ण के रूप में दिखायी देते हैं जबकि वह लोगरथ में ही बैठे थे[3]। इसी कथा को दृष्टिगत करके वसुदेव का शेषनाग के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाने लगा, जो विष्णु के लिए शय्या निर्मित करता है।

पुराणों के अनुसार कृष्ण के वंश के विषय में अभीतक पूर्ण निश्चित नहीं हो सका। वैसे कृष्ण यदुवंश के सात्वत कुल के थे। उन्हें चन्द्रवंशी और मनु की ६४वीं पीढ़ी में बताया गया है। यह तो पार्जिटर का अनुमान है[4]।

कुछ पुराणों के अनुसार श्रीकृष्ण को सूर्यवंशी भी कहा जाता है[5]। उनका यदुवंश में जन्मग्रहण करना तो सर्वविदित है[6]।

---

१. श्रीमद्भागवतपुराण-- ६।१६।३३-४६

२. महाभारत--६।६२।४२

३. भागवतपुराण--१०।३६।३८-४६

४. एन्शियेन्ट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन--पार्जिटर, पृ० १०२-११७

'Krsna the other great incarnation was descended from the moon branch of lunar race to which he belonged ceased to exit.

--इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलीजन एन्ड एथिक्स--जेम्स हेस्टिंग्स, भाग २, पृ०५४०

५. एवमीक्ष्वाकु वंशान्तु यदुवंशो विनिःसृतः--हरिवंशपुराण २।३८।३५

६. यनोः कुले यादवाश्च वासुदेवस्ततुत्तमः।--अग्निपुराण, अध्याय २, श्लोक ३।

पाश्चात्य विद्वान् भगवान के जन्मग्रहण के पूर्व समय में उनको सृष्टि का सर्वविधनियन्ता,न्याय को ही माध्यम बनाने वाले एवं कसौटी पर कसने वाले न्यायाधीश के रूप में एवं मित्र के रूप में ही देखना पसन्द करते हैं। परन्तु हिन्दू लोगों का मस्तिष्क भगवान् को बालरूप में अवतरित होते हुए देखना ही अधिक पसन्द करता है जो उनकी बालसुलभ क्रीडाओं के सहित कैशोरावस्था में प्रेमी के रूप में,नायक के रूप में, न्याय के लिए उचित सलाह का निर्देशन करने वाला है। यही कृष्णावतार की विशेष लावण्यमयता का रहस्य है,जहां पर भक्तों के लिए बलिदान है। इन सब के साथ ही साथ दार्शनिकता की गूढ़ छाप भी है एवं धर्म के महानतम सत्य का प्रतिपादन भागवत में है।

अतएव श्रीकृष्ण की बालसुलभ क्रीडाएं भी अविकसित मस्तिष्क वालों के लिए आनन्दकारी न होकर एक बुद्धिजीवी के मस्तिष्क को भी भकझोड़ डालती हैं।जिसकी बुद्धि का जहांतक प्रवेश है,वह उसमें वहां तक ही आध्यात्मिक तत्व ढूढने का प्रयास करता है। अतः दिव्य मनुष्य को कभी भी साधारण मनुष्य की लीलाओं से आलोचन करना उचित प्रतीत नहीं होता है। भक्त आध्यात्मिक विचारधारा की तह में उस चासनी को ढूंढ निकालता है जो गूंगे के अन्तस्तल को लुभानेवाले मीठे फल के समान है। आश्चर्य तो इस बात का है कि भक्त की साथ गूंगे के आनन्द को व्यक्त करने वाली कृष्णलीला में पूर्ण हो जाती है।

मन,वाणी से अगम्य,अगोचर उस निर्विशेष ब्रह्मतत्व में अपनी तार्किक बुद्धि का प्रवेश कराने,गुणातीत ब्रह्म की अविकल अनुभूति देह,मन,प्राण की ज्वर-चेतनाओं में आबद्ध प्राकृत व्यक्ति के लिए असंभव थी। उसे तो ऐसे आराध्य की आवश्यकता थी जो उसकी सीमित क्षमताओं की परिधि में आ सके और उसे पंकिल जीवन को दिव्यस्पर्श से सैवापयुक्त कर सके। पुराणों के अवतारवाद ने उसे ऐसा ही आराध्य प्रदान किया जो स्वयं असीम होकर भी कल्याण के लिए ससीम बनने को प्रस्तुत है।[१]

---

१. आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोधग्रंथ)-- डॉ० राजलक्ष्मी वर्मा,पृ० ३३।

श्रीकृष्ण के अवतारविग्रह भगवान् के वास्तविक रूप से तो सिद्ध नहीं होते। ये अवतार रूप तो उसी प्रकार के हैं जैसे खिलाड़ी के खेल के पोशाक[1]। कार्य विशेष के लिए अवतार प्रयोजन काल विशेष में गृहीत है[2]। जिस प्रकार पात्र विशेष के अनुरूप वेष विशेष से सुसज्जित नट के वास्तविक स्वरूप की अभिज्ञा सामान्य लोक को नहीं हो पाती है उसी प्रकार से मानुषादि वेषाच्छन्नता से भगवान् को लोग नहीं जान पाते हैं[3]। इसीलिए भगवान प्रसूतिगृह में वसुदेव देवकी को चतुर्भुज रूप दिखाते हैं ताकि वह लोग जान लें कि आठवां शिशु शरीरतः मानव होते हुए भी तत्वतः परमतत्व है[4]।

नेत्रों पर अज्ञानान्धकार का तिमिर आवरण आच्छादित होने पर भी अत्याचारी, अन्यायी कंस के लिए अपना मनोहारी चतुर्भुज विष्णुरूप दिखाने के पक्षपाती न होने पर भगवान् कृष्ण ने उसके हृदय पर अटूट विश्वास की तह जमा ही दी थी कि देवकी के गर्भ से विष्णु भगवान ही मुझको मारने के लिए पैदा होने वाले हैं[5]। तभी वह वसुदेव एवं देवकी से उत्पन्न जो-जो पुत्र होते गये उन सब को मारता ही गया। सर्वात्मा, आत्मस्वरूप भगवान् का देवकी द्वारा आधान किये जाने पर कंस भी सद्-विचारवान् हो गया क्योंकि उस देवकी के अन्तरंग में भगवान् का निवास था[6]।

---

१. श्रीमद्भागवत में प्रेमतत्व (अप्रकाशित शोधग्रन्थ)--डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृ०५४

२. श्रीमद्भागवतपुराण--८।२४।५,६,२४।५६

३. श्रीमद्भागवत में प्रेमतत्व--(शोधग्रन्थ)--डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृ० ५६

४. एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे
   नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिंगेन जायते ।--श्रीमद्भागवतपुराण- १०।३।४४

५. वही-- १०।१।६५

६. वही-- १०।२।२०

जैसे अन्त:करण शुद्ध होने पर भगवान् का अवतार होता है,उसी प्रकार कृष्णावतार के समय समष्टि की शुद्धि का वर्णन किया गया है । इसमें काल-दिशा, पृथ्वी ,जल,अग्नि,वायु,आकाश,मन,आत्मा सभ भगवान् के शुभागमन के अवसर पर मंगलाधान-सी लिये प्रतीत होते हैं ।

कृष्णपक्ष कृष्ण से सम्बद्ध होने के कारण श्रीकृष्ण भाद्रपद कृष्णपक्ष की अष्टमी को तमोमय काल में कर्म करने वाले क्रूर हृदय कंस के कारागार में ही आविर्भूत हुए हैं[1] । वसुदेव-देवकी जब मन-प्राण,बुद्धि,आत्मा की सारी स्थूल,सूक्ष्म शक्तियों से शून्य होकर क्रूर कंस के कारागार में शृंखलाबद्ध पड़े हुए थे,तभी अज्ञान के घोर अंधकार में दिव्य प्रकाश हुआ । उनका अद्भुत चतुर्भुज रूप ही विभिन्न आभूषणों से भूषित था ।

आकाशवाणी के द्वारा ही वसुदेव,देवकी की आंठवीं सन्तान द्वारा अपना विनाश कंस ने जाना था[2],परन्तु हरिवंश में नारद द्वारा ही कंस ने इस सूचना की प्राप्ति की थी[3] । जब यह भविष्यवाणी सर्वविदित थी तो अन्य यदु लोगों को देवकी के बालकों को एवं विशेष रूप से आठवीं सन्तान की रक्षा के लिए यत्न तो करना चाहिए था । परन्तु इस तरह का प्रसंग न तो विष्णुपुराण,हरिवंशपुराण और न भागवतपुराण,ब्रह्माण्डपुराण में ही मिलता है जिसमें देवकी की सन्तान की रक्षा एवं कंस की मृत्यु के विषय में कोई षड्यंत्र रचने की बात कही गयी हो । यदि हम प्रसंगों का यथोचित रूप से मूल्यांकन करें एवं प्रत्येक अंशों का भलीभांति मापन करें तब भी हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते,सिवाय इसके कि बालक

---

१. कल्याण,भाग ४४ (१९७०)--श्रीकृष्णमहिमा स्मरण--हनुमानप्रसाद पोद्दार ।
२. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।१।३४
३. हरिवंशपुराण (विष्णुपर्व) भाग १--अध्याय ५६ ।

गूढ़ षड्यंत्र रचयिताओं द्वारा बचाया गया जिसमें अधिकांशतः मथुरा के निवासी गोकुल के ग्वालों एवं अरण्य के नागाओं को छोड़ कर सम्मिलित थे[1]। परन्तु महाभारत में यह कथा आयी है कि कंस सब वृष्णियों के संयुक्त प्रयत्नों के फलस्वरूप ही मारा गया[2]।

वायुपुराण में भी आया है कि कंस को मारने के लिए षड्यन्त्र था जो कि रहस्यात्मक था[3]। इसमें बहुत से यदु प्रधानों ने रहस्यात्मक ढंग से गोपों के प्रधान नन्द नन्द से सम्पर्क स्थापित किया।

नन्द वासुदेव के चाचा के पुत्र वैश्य स्त्री से उत्पन्न कहे गये हैं। कुछ पुराणों में भी गोप आर्यों के वैश्य वर्ग में आते हैं। अगर नन्द एवं उनका वंश वृष्णि था तो वह मथुरा केआर्य होंगे परन्तु इसका तथ्य ऐसा नहीं है। विदुर दासीपुत्र होने पर भी कुरुवंश में ही थे। अतः इन सब कारणों से हम विश्वास करते हैं कि गोप अंमर जाति के थे जो आर्यों का धर्म स्वीकार करके खानाबदोशों का जीवन यापन करते थे[4]।

कंस को षड्यन्त्र द्वारा मारने के सम्बन्ध में यदुप्रधानों ने नागाओं से भी सम्पर्क स्थापित किया। इस प्रकार से दो शक्तिशाली व्यक्तियों की सहायता से उन्होंने कंस को मारने की आशा की। देवकी की संतान को बचाने के लिए यदुप्रधानों ने कोई कसर नहीं छोड़ी। उनकी असहनशीलता एवं अधीरता का परिचय तो तभी मिल जाता है,जब रोहिणी को रहस्यात्मक ढंग से हटाकर चरागाह के व्यवस्थापन के लिए नन्द के घर में छिपाकर रखा गया,क्योंकि रोहिणी से होने वाले बालक के विषय में आकाशवाणी द्वारा कहे कथन से समानता थी।

---

१. श्रीकृष्ण हिज़ लाइफ़ एन्ड टीचिंग्स--श्री धीरेन्द्रनाथ पाल,अध्याय ३।

२. महाभारत--सभापर्व--अध्याय श्लोक ८।

३. वायुपुराण--अध्याय ३४,श्लोक ९८-२००

४. श्रीकृष्ण हिज़ लाइफ़ एन्ड टीचिंग्स--श्री धीरेन्द्रनाथ पाल--अध्याय ३।

श्री रैप्सन के अनुसार बलराम की तरह मूलभूत रूप से मर्त्य पुरुष कृष्ण जो आदिवासी प्रमुख थे, अपने निर्दयी मामा कंस से सुरक्षित बचाने के लिए चरवाहों द्वारा गुप्त रखे गये--यह जनश्रुति है । परन्तु प्रतिदिन की घटनाओं को भी इसमें दूर-दूर नहीं हटाया गया है।[1]

धीरेन्द्रनाथ पाल का कथन[2] है कि देवकी को भी कारागार से हटाने में असमर्थ षड्यंत्रकारियों ने आठवीं सन्तान को हटाने का विचार करके पहरेदारों को घूस देकर रहस्यात्मक ढंग से गोप एवं नागपुरुष के समीप देवकी की सन्तान को एक दूसरे से आदान-प्रदान करने के लिए सन्देश भिजवाया । इस कथन पर विश्वास करने के लिए कोई सबल प्रमाण तो प्राप्त नहीं होता है ।

भागवतपुराण में तो आद्यन्त प्राणतत्व ही ब्रह्म रूप से जगत् रूपी क्रीडास्थल में आध्यात्मिक क्रीडा करता है । "गो" का अर्थ इन्द्रिय" गम + डोस प्रत्यय (गमन) लगाकर बना है । जहां इन्द्रियों का समूह हो, वही गोकुल कहलाता है । जब गोकुल (इन्द्रियसमुदाय) की वृत्तियां लुप्त हो जाती हैं, तब माया स्वयं ही पाश डाल देती है । उसमाया की देदीप्यमान चकाचौंध से साधारण जन की वृत्तियों का लुप्त हो जाना स्वाभाविक है । अज्ञान शक्ति के वशीभूत होकर जीव अज्ञानान्धकार की कलुष कालिमा में जकड़ जाता है । यही पहरेदारों की गति होती है ।

यही ईश्वरकी माया है । अन्य प्राकृत जीवों की क्या मानव रूप से ब्रह्म के अवतरित रूप होने पर उसकी रक्षा करने में एवं उसकी माया जानने में असमर्थ सामर्थ्य संभाव्य हो सकती है ?

सबके सुषुप्तावस्था की जड़ावस्था रूप गाढ़ निद्रा में लवलीन होने पर भी सत्पु लहरियों से हिलोरें लेती हुई श्रीकृष्ण की क्रीडा में सहायक अंशभूता पटरानी कालिन्दी

---

१. रैलिजन्स आफ् एन्शियन्ट इण्डिया-- श्री रैप्सन--पृ० ६५
२. श्रीकृष्ण हिज लाइफ् एन्ड टीचिंग्स-- धीरेन्द्रनाथ पाल ।

जागृतावस्था में रहते हुए भगवान् के गोपालन हेतु गोकुल में जाने का निमित्त जानकर अपनी तरंगों को ही गौओं का प्रतिरूप जानकर ईश्वरकी क्रीडा के निमित्त हृदय को पंडुकित करके घुटनों तक जल वाली हो गयी ।

इसी तरह शेषनाग भी श्रीकृष्ण के छत्र बन कर जल का निवारण करने लगे । शेषनाग ही तो बलराम हैं ,परन्तु अग्रज होने पर भी उनकी सेवा में तत्पर हैं । गोकुल के गोप भी जागृतावस्था में नहीं थे तभी तो वसुदेव योगमाया को लेकर लौट आये ।

"ब्रह्मवैवर्तपुराण" में कहा गया है कि पार्वती के एक अंश से ही योगमाया हुई क्योंकि श्रीकृष्ण ने अपने अवतीर्ण होने का अभिप्राय पार्वती को बताते हुए यशोदा के उदर में महामाया रूप से उनके उत्पन्न होने के विषय में कह दिया था[1] ।

देवकी का अपने आंचल में यशोदा की कन्या को छिपाकर परमात्मजा की प्राणभिक्षा कंस से मांगना[2] एवं कंस द्वारा संशय के महासमुद्र की तरंगों से उद्वेलित होकर,उस कन्या से ही भयभीत अपनी मृत्यु का निमित्त मानकर,शिला पर पटक देना[3] और उस चतुर्भुज देवी का दर्शन करके उसकी आकाशवाणी[4] को सुन कर कंस अपने हंता का अन्य स्थान पर उत्पन्न होना सुन कर देवकी-वसुदेव को कारागार से मुक्त करके, अपने हृदय की शान्ति के लिए समस्त नवजात बालकों के हनन का आदेश देता है । यह प्राकृतजनोचित मन:स्थिति का परिचायक है ।

---

१. ब्रह्मवैवर्तपुराण ।

२. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।४।४-६

३. वही--१०।४।८

३. अग्निपुराण के अध्याय १२,श्लोक ८ में भी यही प्रसंग दृष्टिगत है ।
"कंसो बालध्वनिं श्रुत्वा तां चिक्षेप शिलातले" ।

४. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।४।१२ एवं अग्निपुराण--अध्याय १२,श्लोक ११ ।

गोकुल में भगवान् श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव के अवसर पर भी प्राज्ञ विद्वानों का यथोचित सत्कार करने का उद्देश्य विष्णु को प्रसन्न करना था।[1] जातकर्मादि महोत्सव में गोपियों का श्रृंगार विलास आगमन, आशीर्वाद देना, विप्र मागधादि के प्रति यथोचित दाक्षिण्य आदि कर्म श्रीकृष्ण के मंगलार्थ ही किये गये। विष्णु की आराधना करने का नन्द जी का उद्देश्य कृष्ण को विष्णु रूप से ही प्रदर्शित करना मात्र था। विष्णु को प्रसन्न करना ही श्रीकृष्ण का आराधन करना है।

कृष्ण बाल्यकाल से ही अलौकिक कर्म करने के कारण असाधारण बालक सिद्ध हुए। उनकी बाल्यकालीन लीलाएं रहस्यों से भरपूर हैं। उनका आध्यात्मिक संकेत छिपा हुआ है जो अप्रकट है।

वेदमंत्रों की तरह ही लौकिकता का आरोप लगाने वाले विद्वान् वेदमंत्रों की भांति लीला में भी आध्यात्मिक माणिक्य ढूंढने का प्रयत्न करके सफल हो रहे हैं। कृष्ण के लीला-सम्बन्धी उपकरणों का आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट हो जाने पर कृष्णकथा सम्बन्धी तृष्णा की पूर्ति तत्काल हो जाती है।

श्रीकृष्ण के मंगलमय आविर्भाव के समय ही अलौकिक अद्भुत चमत्कारपूर्ण लीलाएं प्रारंभ हो गयीं थीं। पूतना, तृणावर्त आदि ऐश्वर्य प्रधान लीलाएं हैं। कृष्ण को के हनन के निमित्त कंस द्वारा प्रेषिता पूतना "भागवतपुराण" में सुन्दर युवती के रूप में प्रवेश करती है।[2] इसमें भी उसे भयानक राक्षसी तो कहा ही गया है।

हरिवंशपुराण में पूतना को कंस की धात्री एवं शकुनि पक्षी के रूप में गोकुल में प्रवेश वर्णित किया गया है।[3] महाभारत में भी शकुनि पक्षी के रूप से ही पूतना का आख्यान किया गया है।[4]

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण-- १०।५।१५-१६

२. वही--" पोषित्वा मायया ऽऽत्मानं प्राविशत् कामचारिणी"-- १०।६।४

३. धात्री कंसस्य भोजस्य पूतनेति परिश्रुता।
   ततो पराक्रमयै शकुनिः प्रत्यदृश्यत ।।
   --हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अध्याय ५०, श्लोक २०।

४. महाभारत--सभापर्व में शिशुपाल द्वारा वासुदेव कृष्ण की निन्दा के प्रसंग में महाभारत के आलोचनात्मक संस्करण द्वितीय के अध्याय ३८, श्लोक ७ में द्रष्टव्य है। "यथनेन हता बाल्ये शकुनिर्निश्चमत्र किम्।--पूतनामरण, महाभारत, सभापर्व के अध्याय १२ श्लोक ५-११ में है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में पूतना को कंस की बहिन कहा गया है जो ब्राह्मणी बनकर कृष्ण के पास गयी थी[१]।

सुश्रुत में पूतना नामक भयंकर बालरोग का उल्लेख है[२]। इसी कारण श्रीकृष्ण एक बार पीड़ित हुए और दैवकृपा से बच गये।

हरिवंशपुराण में पक्षी के रूप में तो कृष्ण के जन्म के समय वृन्दावन को अनेक भयानक पक्षियों से आवृत कहा गया है[३]।

गर्गसंहिता में तो षोडशवर्षीया दिव्यरूपधारिणी पूतना को बालघातिनी कहा गया है[४]।

धात्रीरूपधारिणी पूतना को देख कर भगवान् श्रीकृष्ण के नेत्रों के बन्द हो जाने के विषय में श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार जी की टीका में इतनी सुन्दर उद्भावना की गयी है कि उसे देखना नितान्त आवश्यक-सा हो जाता है[५]। मातृरूपधारिणी का हनन अत्यन्त क्रूर होने पर भी शास्त्रविरुद्ध होने के कारण ही श्रीकृष्ण के नेत्र निमीलित हो जाते हैं[६]। पूतना को मार डालने के पश्चाद् श्रीकृष्ण के शिवार्थ किया गया स्वस्ति कवच गर्गसंहिता' गोलोक खण्ड' से ही साम्य रखता है।

यह तो सर्वमान्य है कि श्रीकृष्ण केवल षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् ही नहीं, वे अनन्त-अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण हैं। उनका दिव्य माधुर्य भी अनन्य, स्वरूपभूत है। कहीं ऐश्वर्य, कहीं ऐश्वर्य के साथ किंचित् माधुर्य, कहीं केवल माधुर्य रहता है। पूतनामरण पर यशोदा ने सोचा कि नारायण ने कृष्ण को बचाया तभी वह स्वस्तिवाचन करने लगी।

---

१. ब्रह्मवैवर्तपुराण।

२. उत्तरतन्त्र--अध्याय २७,३७।

३. हरिवंशपुराण ६ श्लोक ११,१२।

४. गर्गसंहिता (गोलोकखण्ड) अध्याय १३ एवं विष्णुपुराण पंचम अंश--अध्याय ५।

५. श्रीमद्भागवतमहापुराणम् (द्वितीय खण्ड) गीताप्रेस, गोरखपुर--श्री हनुमानप्रसाद-पोद्दार की टीका, पृ० १५०।

६. वही-- १०।६।२९-३०

शकटभंजन भी हिरण्याक्ष के पुत्र उत्कच की मुक्ति के लिये ही किया गया था। महाभारत के सभापर्व में भी इस प्रसंग का उल्लेख है[१]। लोमश ऋषि से शप्त श्रीकृष्ण के चरणस्पर्श से ही उत्कच की मुक्ति हो जाती है।

हरिवंशपुराण में शकटभंजन पूतनामरण से पहले है। यहाँ शकटासुर शकट में बैठ जाता है जिसे कृष्ण मारते हैं। यशोदा ग्रह आदि का उत्पात समझ कर शान्त करवाती हैं। श्रीकृष्ण उस शकट को पहले ही उलट चुके हैं परन्तु अपने बालक के अनन्त बल से अनभिज्ञ गोपादि बालकों की बात पर विश्वास नहीं करते हैं। ग्रह आदि की शान्ति में ही ब्राह्मण तल्लीन हो जाते हैं।

शकटभंजन की लीला में अगर गूढ़ अर्थ अन्वेषित किया जाये तो इसबात की प्रतीति होती है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने न्यायरूपी चरणकमल से अन्याय रूपी भारी शकट को छिन्न भिन्न कर दिया।

कंस का सेवक तृणावर्त भी गोकुलागमन पर श्रीकृष्ण को उड़ा कर आकाश में ले जाता है एवं भारी बोझ वहन करने में अशक्त वह स्वयं ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार की ऐश्वर्यप्रधान लीला होने पर भी एकच्छत्र माधुर्य ने ऐश्वर्य न आने दिया।

अब श्रीकृष्ण की माखनचोरी लीला का भी अवलोकन करना चाहिए। श्रीकृष्ण की लीला, धाम एवं पात्र सब कुछ अप्राकृत है यह तो सिद्ध हो ही चुका है अतएव इस माखनचोरी लीला के सम्बन्ध में किंचित् मात्रा में भी शंका की गुंजाइश नहीं रखनी चाहिए।

भगवान् के नित्य परम धाम में अभिन्न रूप से निवास करनेवाली नित्यसिद्धा गोपियों की दृष्टि से न देख कर अगर साधन सिद्धा गोपियों की दृष्टि से देखा जाये तो उनका प्रेम इतना असाधारण था, साधना एवं लगन इतनी सच्ची थी कि देह तथा देही भी पार्थक्य को त्यागे बिना एक ही रूप होकर प्रदर्शित हो रहे थे। उसी समय भगवान ने माखनचोरी लीला करके उनको दिव्य सुख की प्राप्ति करायी।

---

१. पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम्। -- महाभारत, सभापर्व, अध्याय ३८, श्लोक ८।

माखनचोरी लीला को लौकिक स्तर पर न देख कर अलौकिक आध्यात्मिक दिव्यलीला के रूप में ही देखना चाहिए । समस्त जगत प्रपंच ईश्वर द्वारा निर्मित है फिर किस वस्तु की चोरी होगी ? चोरी तो गुप्त रूप से और भविष्य में भी न पता लगने के उद्देश्य से की जाती है, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो ग्वालबालों के सहित गोपियों के समक्ष गोरस गृहीत करते हैं ।

वेदान्त में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को कृष्णावतार लीला में दूध, दही, मक्खन नाम से कहा गया है । दूध से दही तैयार होता है । दही का बार-बार आलोडन करने से कार्यरूप दही एवं कार्यरूप दही का मंथन करके वासना रूप मक्खन तैयार होता है । वासना ही पुनर्जन्म का कारण है । परमात्मा ने मुक्तिकामी जीवों के इन तीनों शरीरों, ब्रह्माण्डों को अपनी गोरस लीला द्वारा दिखाया है अर्थात् मुमुक्षु के स्थूल, सूक्ष्म शरीर रूप दही, दूध के भांडे को फोड़ दिया । उसके कारण शरीर रूप मक्खन को खा लिया अर्थात् उसकी समस्त वासनाओं को उसी में लय कर दिया । यही गोरस लीला का प्रकट उद्देश्य है । विष्णुपुराण एवं हरिवंशपुराण में इस लीला का वर्णन नहीं है ।

मन की वृत्तियों का विषयों की तरफ प्रवृत्त होना परमात्मा के ध्यान से निवृत्त कराना है । विषयों की तरफ प्रवृत्ति की अधिकता होने के कारण ही यशोदा जी से गोपियां माखन चुराने के सम्बन्ध में फरियाद करती हैं ।[१]

मनोवृत्ति रूपी गोपी बुद्धि रूपिणी यशोदा के पास कृष्ण की बुराई करने जाती है ।[२]

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराणम्--१०।८।२८-३०

२. आध्यात्मिक कृष्णचरित्र--कन्हैयालाल उपाध्याय ।

मृद्भक्षण का हेतु श्रीकृष्ण के विचार में शुद्ध सत्वगुण के निरन्तर विद्यमान होने पर भी रजोगुणी कर्म करने के लिए रजसंग्रह करना मात्र था। श्रीकृष्ण ने यशोदा जी को मुख खोलकर ब्रह्माण्ड का दर्शन कराया। उसके फलस्वरूप वह स्वप्न या भगवान् की माया के संशय में पड़ गयी। अपने बालक में जन्मजात योगसिद्धि का विचार किया।[1] इस कारण श्रीकृष्ण तत्व समझ गयी एवं सर्वशक्तिमान् प्रभु ने अपनी पुत्री स्नेहमयी वैष्णवी योगमाया का हृदय में संचार कर दिया।[2]

नामकरण संस्कार भी ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण तथा ब्रह्मपुराण में मिलता है। भागवतपुराण में नामकरण संस्कार एकान्त में होता है तथा एकान्त की बात वसुदेव अथवा गर्ग से न कहला कर नन्द के मुख से कहलाई गयी है।[3] बलराम का नामकरण पहले होता है परन्तु ब्रह्मवैवर्त में बाद को होता है।

अन्नप्राशनसंस्कार भी भागवतपुराण में न होकर ब्रह्मवैवर्तपुराण में उल्लिखित है।

उलूखलबंधन के प्रसंग में भी श्रीकृष्ण का महान् उपद्रवी होना सूचित होता है। दही के मटके को फोड़ देने के फलस्वरूप यशोदा उनको किसी तरह पकड़ने में समर्थ हो पायीं। योगियों की बुद्धि भी जिन्हें नहीं पकड़ सकती है परन्तु स्नेहासिक्त मातृहृदय की विशाल तरंगों से युक्त होकर मां के हाथों में श्रीकृष्ण पकड़ में आ जाते हैं। यशोदा को उनके ऐश्वर्य का पता ही न था।[4]

---

१. अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य।
   यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः ।।-- श्रीमद्भागवतपुराण--१०।८।४०

२. इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः।
   वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः ।।--वही--१०।८।४३

३. अलक्षितोऽस्मिन् रहसि मामकैरपि गोव्रजे।
   कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ।।-- वही--१०।८।१०

४. वही-- १०।९।१२।

जबतक हृदय में जड़ता रहती है तभीतक इस भाव का स्फुरण रहता है, परन्तु जब चेतन स्फुरित हो जाता है तब जड़ता का विनाश हो जाता है। इसी कारण यशोदा द्वारा बांस की छड़ी फेंक देना स्वाभाविक है।

यशोदा मां भी भगवान् की स्वरूपभूता चिन्मयी लीला की अप्राकृत नित्यसिद्ध परिकर हैं। वात्सल्याधिकता के कारणवश ऐश्वर्यज्ञान अभिभूत हो जाता है,अन्यथा उनमें अज्ञान की संभावना भी नहीं है। उनका अज्ञान भी भगवान की लीला सिद्धि के लिए लीलाशक्ति का ही चमत्कारविशेष है। वह उन्हें साधारण मनुष्यरूपधारी पुत्र समझ कर ऊखल में बांध देती हैं[1]।

उपनिषदों का प्रतिपादित ब्रह्म सर्वाधिष्ठान,सर्वसाक्षी होने पर भी केवल प्रेम के वश बंधा जा रहा है। यहां प्रेम की चरमावस्था है। श्रीकृष्ण यद्यपि परम स्वतंत्र हैं फिर भी भक्तों के वश बंध ही जाते हैं[2]। अपने परम स्वातंत्र्य का परिचय वह जब देते हैं तब यशोदा मां उन्हें स्नेह,ममता आदि गुणों से बांधती हैं। उस समय श्रीकृष्ण अपना नित्यमुक्तता का स्वरूप प्रदर्शित करने लगते हैं। श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार जी ने "भागवत टीका" में गुण के अनेक अर्थ किये हैं[3]। ब्रह्म में किसी भी गुण का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं है तब छोटा-सा गुण (रस्सी) कैसे उन्हें बांध सकती है।

श्रीकृष्ण का उदर ब्रह्माण्डों का अधिष्ठान है। उसमें बंधन कैसे संभव हो सकता है। रस्सी के दो अंगुल छोटी पड़ने का कारण भागवत की टीका में बहुत सुन्दर रूप से उद्भासित है। भगवान् केवल सत्त्वगुण से सम्बन्धित होकर ही भक्तों को दर्शन देते हैं,रजोगुण एवं तमोगुण से नहीं। इसी कारण रस्सी दो अंगुल छोटी पड़ती है। इस प्रकार से रस्सी के दो अंगुल लाक्षणिक रूप से रजोगुण तथा तमोगुण

---

१. तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिंगमधोक्षजम् ।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ।।
--श्रीमद्भागवतमहापुराणम्--१०।९।१४

२. वही--१०।९।१६

३. वही--(दशमस्कन्ध)टीका--श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार,पृ० १८२ ।

की ओर संकेत करती हैं । चूंकि सत्त्व प्रधान परब्रह्म रजोगुण एवं तमोगुण से साक्षात्करणीय नहीं है इसलिए उक्त प्रसंग में भी रज्जु की लघुता प्रदर्शित की गयी है ।

श्रीकृष्ण ब्रह्म एवं परमात्मा पूर्व सिद्ध ही हैं,अतएव नाम रूप में बंधन होने पर परमात्मा में बन्धन की कल्पना कैसी । दो यमलार्जुन वृक्षों के उद्धार का द्योतक दो अंगुल रज्जु की कमी का रहस्य है ।

हृदय से जब द्वैत भावना दूर नहीं होती तब भगवान यशोदा की रस्सी में प्रेम के वशीभूत होकर बंध ही जाते हैं । इसके पश्चात् यमलार्जुन की मोक्ष का विचार करके उन पर कृपादृष्टि करने केलिए जाते हैं ।

"भागवतपुराण" में दी हुई कथा हरिवंश,ब्रह्मवैवर्त तथा पद्मपुराण की कथा से कुछ भिन्न और अधिक परिवर्धित है । ब्रह्मवैवर्तपुराण में नारद के शाप से केवल एक कुबेरपुत्र नलकूबर का--जो रम्भा के साथ क्रीडा कर रहा था,अर्जुन वृक्ष हो जाना वर्णित है[1],किन्तु भागवतपुराण में नलकूबर और मणिग्रीव दोनों का[2] ।

प्रोफेसर ए०डी० पुसालकर द्वारा यमलार्जुन वृक्ष के सम्बन्ध में इस बात की शंका किंचित मात्र भी नहीं है कि वासुदेव पूजा पद्धति द्वारा स्थानीय वृक्षपूजा को स्थान दिया गया । यही एक गूढ़ तथ्य उस कथा में निहित है[3] ।

हरिवंशपुराण में भी कहा गया है कि इन वृक्षों[4] की पूजा इच्छित पदार्थों को प्रदत्त करने हेतु भगवान् के रूप में की जाती थी ।

---

१. ब्रह्मवैवर्तपुराण--कृष्णजन्मखण्ड पूर्वार्द्ध--अध्याय १४।१४

२. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।१०।२३

३. स्टडीज़ इन एपिक्स एन्ड पुरानाज़--प्रो० ए०डी० पुसालकर,पृ० ६६

४. हरिवंशपुराण--द्वितीय खण्ड--७।२२

भयानक महान् उत्पातों से बचने के लिए वृन्दावन जाने की सलाह उपनन्द देते हैं[1]। वहां जाकर वृत्सासुर, वकासुर का वध एवं अघासुर का उद्धार होता है।

श्रीमद्भागवतपुराण, दशमस्कन्ध के ग्यारहवें एवं बारहवें अध्याय में वृत्सासुर, वकासुर एवं अध्याय १३ में ब्रह्मामोह का उल्लेख भागवतपुराण के नवीन दृष्टिकोण का परिचायक है। इसका अन्य पुराणों में उल्लेख नहीं है।

श्रीकृष्ण की दैवी शक्तियों से युक्त लीलाओं को देख कर ब्रह्म भी उनकी मधुर लीला का पान करने के लिए पहले बछड़ों को और बाद में गोपालों को अन्यत्र लेजाकर रख देते हैं और स्वयं अन्तर्धान हो जाते हैं[2]।

सर्वज्ञाता भगवान् ब्रह्मा की करतूत समझ कर उनके चुराये हुए ग्वाल बालों को ला सकते थे परन्तु ब्रह्मा उस ऐश्वर्यरूपणी माया का अवलोकन नहीं कर पाते और उनका मोह दूर नहीं होता। तभी भगवान् उतने ही ग्वाल बाल और बछड़े बन गये। गर्ग-संहिता में भी इस तरह का प्रसंग आया है[3]।

श्रीकृष्ण एक वर्ष तक वनगोष्ठ में क्रीडा करते रहे। ब्रजवासियों का श्रम सब पर श्रीकृष्ण के तुल्य स्नेह बढ़ता ही गया। ब्रह्मा जिस माया से भगवान् को मोहित करने चले थे, उनको मोहित करना तो दूर रहा, अजन्मा होने पर भी वे अपनी ही माया से मोहित हो गये[4]। ब्रह्मा द्वारा समस्त ग्वाल बालों एवं बछड़ों को कृष्णरूप में देखकर ग्यारहों इन्द्रियां स्तब्ध रह गयीं।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।११।२२
विष्णुपुराण--अंश ५, अध्याय ६, हरिवंशपुराण (विष्णुपर्व) अध्याय ६४ में वृन्दावन जाते समय कृष्ण ७ वर्ष के थे परन्तु भागवतपुराण (१०।१२।३६) में कृष्ण ५ साल के थे।

२. भागवतपुराण--१०।१३।१५

३. गर्गसंहिता--वृन्दावन खण्ड--अध्याय ८।

४. एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम्।
स्वयैव माययाजो पि स्वयमेव विमोहितः ॥

--श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।१३।४४

इसके पश्चात् ब्रह्मा द्वारा श्रीकृष्ण की स्तुति का उल्लेख है । श्रीकृष्ण को पुराणपुरुष,श्रीनारायण और उनसे उत्पन्न कहा गया है ।[1]

श्रीकृष्ण द्वारा बलराम को आदिपुरुष तथा वृन्दावन में ऐश्वर्य रूप तिरोहित करके बाललीला के विषय में कहने का अभिप्राय घटित होने वाली धेनुकासुर-वध की कथा की सत्यता को सर्वशक्तिमान् बलराम द्वारा प्रमाणित करने के उद्देश्य से कही गयी है । भाण्डीरवन में प्रलम्बासुर वध भी बलराम द्वारा होता है ।

कालियनाग के सम्बन्ध में समस्त पुराण इसको सर्प के रूप में ही वर्णित करते हैं । प्रो० ए०डी० पुसालकर का विचार है कि कालिय नाग प्रमुख था जो कृष्ण द्वारा वशीभूत होकर अपनी जाति सहित उस स्थान को छोड़ने के लिए आदेश प्राप्त कर चुका था । श्री भवनादास भागवतपुराण में प्रतिपादित इस सर्प के एक सौ एक फणों का स्पष्टीकरण करने के लिए टीका-टिप्पणी करतेहुए कहते हैं कि यह प्राय: एक सौ एक प्रमुख नदियों के लिए ही वर्णित है या उपनिषद् में वर्णित मनुष्य की स्नायु-प्रणाली तन्त्रिका को चरमावस्था पर पहुंचे योगी द्वारा नियंत्रित करने की आशा व्यक्त की गयी है ।[2] यहां पर तांत्रिक दृष्टिकोण प्रतिपादित है । कृष्ण परम शिव हैं जो कुण्डलिनी समूह को नियंत्रित करके समस्त शरीर में एक सौ एक उपायों से व्यक्त करते थे । कठोपनिषद् में इस तरह की बात कही गयी है ।[3]

कालिय के सम्बन्ध में अन्य पुराणों पर भी दृष्टिपात करना चाहिए कि वे किस प्रकार का दृष्टिकोण रखते हैं । इस सम्बन्ध में तीन मत मिलते हैं ।

---

१. एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं
गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते ।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या
गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम् ।।
-- श्रीमद्भागवतपुराण--१०।१५।६

२. क्रिटिकल स्टडी आफ् श्रीभागवतपुराण--टी०एस० रुक्मिणी,पृ० ७३
शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनि: सृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ।।
-- कठोपनिषद्-२-- ३।१६

१. सर्वप्रथम कृष्ण के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्होंने यमुना जल में निवास करने वाले भयानक सर्प को मारा ।

२. दूसरे मतानुसार जंगली जाति के प्रधान के साथ युद्ध करके उसे वृन्दावन से निकाल दिया ।

३. तीसरी किंवदन्ती श्रीकृष्ण को भगवान का अवतार कह कर काल के प्रभाव से अतीत प्रतिपादित करती है ।

दूसरी विचारधारा ही मान्य ~~सकी है~~ प्रतीत होती है । यदि पुराण श्रीकृष्ण को वास्तव में सर्प रूप से ही मानते हैं तो उन्होंने इसका वर्णन भी अन्य जानवरों का श्रीकृष्ण द्वारा विनाश की तरह ही किया होगा । उन्होंने कालिय को नाग भगवान् एवं मानवीय रूप नहीं दिया होगा ।

विष्णुपुराण,पंचम अंश,अध्याय सात में कहा गया है कि कालिय बहुत से सर्पों और हजारों भुजंगकोशों से घिरा हुआ,बहुमूल्य आभूषणों से सुसज्जित था । कर्णाभूषण भी चमचमाते हुए थे । मद्भागवतपुराण में नागपत्नियों द्वारा कृष्ण की स्तुति हेतु आगमन के समय उनके बाल अस्तव्यस्त एवं वस्त्राभूषण भी अस्तव्यस्त थे[1]।

अगर हम इस कथा को किंवदन्ती मानें तो पुराणों के रचयिता इसे कृष्ण के जीवन के उस समय से संयुक्त करते होंगे जब वह भगवान् के अवतार उद्घोषित हो चुके थे । एक समय ऐसा भी था जब श्रीकृष्ण बालक ही थे और कोई नहीं जानता था कि वह किस अमूल्य निधि से बने थे । इन सब अलौकिक लीलाओं को देख कर श्रीकृष्ण में पूर्ण ईश्वरत्व का आभास गोपों को हो गया था । उनका जन्म कर्म दिव्य था । इतना तो हम दृढ़ता से कह सकते हैं कि कालिय नाग का समस्त कथामूल जंगली मनुष्यों के ऊपर सफलता का प्रतीक तो है ही[2]। भागवत पुराण में कालिय को सर्प के रूप में अपनी समस्त जाति से युक्त रमणक द्वीप में जाने के लिए कहा गया है ।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।१६।३१

२. श्रीकृष्ण हिज़ लाइफ़ एन्ड टीचिंग्स-- धीरेन्द्रनाथ पाल ।

श्रीकृष्ण के इन सब अमानवीय चरित्रों को देख कर गोपजनों का सखाभाव तभीतक टिकता है जबतक कृष्ण में देवत्व का भान नहीं कर पाते हैं। कृष्ण के अलौकिक चरित्र को देख कर गोपजन विस्मृत हो जाते हैं। गोपजन दावाग्नि से रक्षार्थ कृष्ण की शरण में आकर अपने को " त्वन्नाथास्त्वत्परायणा: " कहते हैं।[1] इन वचनों में दास्य भक्ति है, सखा भाव नहीं है। वे कृष्ण को देवता मानने लगते हैं।[2] इससे तो श्रीकृष्ण उन लोगों के सखामात्र न होकर उनके ईश्वररूप से ही प्रतीत होते हैं।

अत: कृष्णकथा एक मनोहारी प्रसंग है जिसमें उनके जीवन की कथा एवं यौवनोचित चंचलता गायों के साथ दिखायी गयी है।[3] ऋतु, गाय, बैल, बछड़े सब भगवान् की लीला के ही विलास थे।[4]

भागवतपुराण के दशम स्कन्ध, अध्याय २१ में कहा गया है कि भगवान् की रूपमाधुरी, वंशीध्वनि और प्रेममयी लीलाओं को देख कर गोपियां मुग्ध हो गयीं। जब समस्त विषय शान्त हो जाते हैं तब मनोवृत्तियां परमात्मा के विचार रूप मुरली के स्वर पर मोहित हो जाती हैं एवं दिनभर उसका चिन्तन करती हैं। ऐसा करते-करते उस चरमावस्था को पहुंच जाती हैं जहां पर वृत्तियां अपने को भूल कर भगवान् के प्रति अपने को समर्पित करके पूर्ण संलग्न रहती हैं। प्रेम की पूर्णता का प्रयास करने पर भगवान् द्वारा उनकी साधना की पुष्टि ही चीरहरण का प्रसंग है।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।१६।६-१०

२. वही--१०।१६।१४

३. इनसाइक्लोपीडिया आफ़ रैलिज़न एन्ड एथिक्स--भाग १०, पृ० ४५२

४. श्रीमद्भागवत महापुराण--१०।२०।३०-३१

सच्चिदानन्द भगवान् दिव्यातिदिव्य के आवरण में दिव्यलीलाओं को भी संजोये हुए स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति के साथ रसास्वादन करते हैं । श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार जी की इस सम्बन्ध की टीका में श्री राधा जी एवं उनकी तदंगभूता गोपियाँ की भगवान् की अन्तरंग लीला में रसास्वादन करने के लिए ही की गयी हैं।[1] गोपियों का रोम-रोम श्रीकृष्णमय होता हुआ उन्हीं के गाढ़ अनुराग रूपी रंग में रंग जाना चाहता था जिस पर अन्य किसी भी रंग की छाप अपना आधिपत्य स्थापित न कर सके । गोपियों का अंग-अंग प्रेमरस जल वर्षण से पूर्ण होता हुआ भी मन, प्राण, सम्पूर्ण आत्मा को भी उसी में डुबोये हुआ था ।

समर्पण की पवित्र भावना के साथ सम्पूर्ण अर्पण न करने की झिझक ही आवरण का रूप बन कर भक्त का मार्ग अवरुद्ध करती है, जहां आवरण का भंग ही भगवान् की प्राप्ति में सहायक है । आवरणरूपी चीर को हर कर परमात्मा का जीव से मिलन उनकी इच्छा का ही परिणाम है । जीव या साधक अपनी अटूट आकांक्षा, शक्ति एवं बल संकल्प के आधार पर भी पूर्ण समर्पण तो कर ही नहीं सकता । ईश्वरेच्छा ही नियामक होती है ।

प्रेम की अटूट शक्ति विधि के अतिक्रमण को भी शिथिल कर देती है परन्तु शास्त्रविधि पर अत्यधिक आस्था ही श्रीकृष्ण के द्वारा निष्कपट प्रेम को भी चुनौती दे देती है । वैधी भक्ति का पर्यवसान रागात्मिकावृत्ति में है एवं रागात्मिका भक्ति पूर्ण समर्पण के अर्थ में परिणत हो जाती है । गोपियों ने वैधी भक्ति का अनुष्ठान करके रागात्मिका हृदय से युक्त होकर पूर्ण समर्पण कर दिया ।

चराचर विश्व के अधिष्ठाता के समक्ष कोई भी व्यक्त या अव्यक्त पदार्थ निरावृत रूप में न हो ऐसी बात नहीं है । वह तो सर्वज्ञाता, सर्वव्यापक ही हैं । अज्ञान के पराधीन होकर या प्राचीन परम्परा के संस्कारों का अन्धानुकरण ही भगवान् की सर्वविद्यमानता के सम्बन्ध में ईषत्मात्र के लिए व्यवधान डाल देता है । भक्त का ईश्वर के प्रति प्रेम अबाध, अनन्त एवं व्यवधान-रहित प्रेम-समर्पण की ओर अग्रसर होता है जहां पर वे तद्रूप हो जाते हैं ।

---

१. श्रीमद्भागवतपुराण की टीका--हनुमानप्रसाद पोद्दार, पृ० २६७ ।

गोपियां भी इस महातत्व को अज्ञानवश भूली हुई सर्वद्रष्टा श्रीकृष्ण से अपने को गुप्त समझ रही थीं परन्तु भगवान् द्वारा मोह का पर्दा छीन लिये जाने पर परमात्मा और जीव के बीच व्यवधान समाप्त हो जाता है ,यही परमात्म-मिलन में सहायक होता है। इस पूर्ण समर्पण एवं आत्मविस्मृति ने सर्वत्र श्यामसुन्दर की झांकी का ही दर्शन कराया है जिसमें अहं का लेशमात्र भी न था,जो परमात्म-मिलन में बाधक होता है। गोपियों की इच्छा को जानते हुए श्रीकृष्ण शरद ऋतु में रमण करके उनके उद्देश्यों की पूर्ति को सफल करने का उद्देश्य गोपियों से कहते हैं।

श्रीकृष्ण को भगवान् न मान कर अगर उनकी लीला को लौकिक मानें तब भी उनके चरित्र के सम्बन्ध में शंका प्रस्फुटित नहीं होती। दस वर्ष के बालक से ऐसी अपेक्षा संभव नहीं है। शास्त्रविरुद्ध आचरण के निवारण के लिए ही चीरहरण-लीला की सार्थकता है।

अध्यात्मवादी श्रीकृष्ण को आत्मा एवं गोपियों की वृत्तियों के रूप में मानता है। वृत्तियों का आवरण नष्ट हो जाना,चीरहरण और आत्मा में रम जाना "रास" है। श्रीकृष्ण के चरित्रांकन के सम्बन्ध में चीरहरणलीला ही कुछ लोगों के समक्ष तर्क के शुष्क जंजाल फैलाने के लिए उपस्थित हो जाती है। इसका निराकरण इस बात से होता है कि अगर श्रीकृष्ण जितेन्द्रिय न होते तो शिशुपाल द्वारा श्रीकृष्ण को गाली देते समय अशोभनीय कामुक सम्बोधनों से क्या उच्चरित नहीं किया जाता ? भागवतपुराण में यह दृष्टव्य है कि श्रीकृष्ण ने कामभाव एवं उसकी चेष्टाओं को अधीन कर रखा था[१]। गोपियों के समस्त काम केवल कृष्ण सुखेच्छा से ही प्रेरित होते थे,स्वीय भोगेच्छा से नहीं। वह समर्पण की मूर्तिमान प्रतीक थीं तभी तो अपने पति, पुत्र,गृह इत्यादि के कार्य में व्यस्त रहने पर भी वे सदैव श्रीकृष्ण की चिन्ता में ही निमग्न रहती थीं[२]। उनकी समर्पण की उत्ताल तरंगों ने महोदधि के लिए निर्बाध रूप

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।३३।२६

२. वही--१०।३१।१६

से जाते हुए कहीं पर भी स्थिर होना नहीं जाना । उनके प्रेम के अविरल अनुरागपाश ने श्रीकृष्ण जैसे योगीश्वर को भी बांध लिया और वह भी उनके अतिशयानुराग की तरंगिणी से उऋण न हो सके ।

गोपियों के प्राण,मन,धन,पुत्रादिक श्रीकृष्ण के सानिध्य से भी प्रिय प्रतीत होते थे । इसीलिए श्रीकृष्ण ने द्विजपत्नियों से भी यही कहा था[1] ।पूर्णकाम भगवान् द्विजपत्नियों की कामनापूर्ति के लिए ही भिक्षायाचन का बहाना बनाते हैं । स्वप्न, जागरण में कृष्ण ही स्त्रियों के प्राण थे और इस लोक तथा परलोक में वे ही उनके एकमात्र स्वामी तथा गुरु थे[2] ।

अत: श्रीमद्भागवतपुराण में गोपियों के व्यक्तित्व को कोई दार्शनिकवाद या प्रतीक नहीं बताया गया परन्तु उसमें आध्यात्मिक वातावरण रखने का प्रयत्न किया गया है और उसमें लीलानन्द की भावना सर्वत्र प्रबल रही है । श्रीकृष्ण की भी अवतार-भावना और परब्रह्मत्व ने इस वातावरण को जन्म दिया है परन्तु गोपियां साधारण गोपस्त्रियां एवं गोपकन्याएं ही हैं । श्रीकृष्ण ने मानवीय प्रणय अभिव्यंजना में अत्यंत स्थूल एवं लौकिक मनोवृत्तियों का आश्रय लेकर भी आध्यात्मिक आवरणपटल के अंतर्गत उसे उदात्त बना दिया है ।

श्री के०जी० गोस्वामी ने भी कृष्ण की गोपियों के साथ लीला का संकेत किया है[3] ।

इसके पश्चात् गोवर्द्धन की कथा में अन्तर्निहित सत्य का अन्वेषण करना चाहिए । कृष्ण द्वारा गोवर्द्धन पर्वत को उठाये जाने का तात्पर्य कृष्ण द्वारा आभीर जाति में प्रचलित विश्वासों का खण्डन एवं उनके वास्तविक धर्म का निरूपण है ।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराणम्--१०।२३।२७

१. प्राणबुद्धिमन:स्वात्मदारापत्यधनादय: ।
यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्तत: कोन्वपर: प्रिय: ।

२. स्वप्ने जागरणे चापि पति प्राणाश्च योषिताम् ।
पतिरेव गुरु: स्त्रीणामिहलोके परत्र च ।।--ब्रह्मवैवर्तपुराण,कृष्णजन्मखण्ड,६६ ।

३. इंडियन हिस्टोरिकल क्वारटर्ली--भाग ३१,पृ० १२६ ।

इन्द्रयाग मूलरूप से ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड एवं पूजाविधि पर ही स्थित है, जिसमें बलिदान के सहित पूजापद्धति भी प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण कर रही थी । इन्द्रयाग में ऐसा ही शायद बलिदान होता हो । अत: श्रीकृष्ण ने बलिदान की पद्धति का विरोध किया ।

वैदिक साहित्य में इन्द्र का सूर्य से भी तादात्म्य स्थापित किया गया । अत: परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार इन्द्रयाग यज्ञकर्म या ज्ञानमार्ग को दान रूप में दे सकता है । कृष्ण के पहले प्राचीन परिपाटी के अनुगामी इसी ज्ञान मार्ग के पथ पर तल्लीन थे । नन्द के कथन[1] से ही प्रतीत होता है कि परम्परागत धर्म को छोड़ देना अमंगल है । इसी से भयभीत वह इस परिपाटी का अन्धानुकरण करते जाते थे, परन्तु कृष्ण ने नन्द को कर्म की शिक्षा दी[2] । पिता के समक्ष कृष्ण कभी वात्सल्य की भीनी झलक के सहित, कभी गूढ़ दार्शनिक उपदेशात्मक शैली का अनुकरण करके विरोधाभासी गुणों से संयुक्त प्रतीत होते हैं । श्रीकृष्ण कर्म के सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिए कहते हैं कि जब सब अपने-अपने कर्म का फल प्राप्त कर लेते हैं तो वर्षण के देवता इन्द्र पर भी केवल आश्रित होना कहां तक सार्थक है[3] । गीता[4] में तो कर्म के दृष्टान्त भरे पड़े हैं जो किसी एक देवता एवं केवल भाग्य पर अधीन होने का निराकरण करते हैं ।

इन्द्र आर्यों के युद्ध देवता हैं । अतएव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सम्पत्तिशाली वर्णों का रक्षक होने के नाते पूजनीय हो सकता है परन्तु श्रीकृष्ण अहं के विरोधी होने के कारण इन्द्र के गर्वमर्दन के अभिप्राय से भी इन्द्र की पूजा का निराकरण करते हैं । जिनकी सम्पत्ति गोधन[5] है उसके लिए इन्द्र की पूजा की कोई आवश्यकता नहीं है । गायों का निर्वाह चरागाहों से होता है, चरागाह गोवर्धन है और मैदानों

---

१. य एवं विसृजेद् धर्मं पारम्पर्यागतं नर: ।
   कामाल्लोभाद् भयाद् द्वेषाद् स वै नाप्नोति शोभनम् ।।--श्रीमद्भागवतपुराण--
   १०।२४।११

२. कर्मणा जायते जन्तु: कर्मणैव विलीयते ।
   सुखं दु:खं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ।।-- -- वही--१०।२४।१३

३. किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम् ।
   अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम् ।।-- वही--१०।२४।१५

४. एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
   कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।--श्रीमद्भगवद्गीता--अ०१८ श्लो०६ ।

५. कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते ।वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयो निशम् ।
   --श्रीमद्भागवतपुराण १०।२४।२१

में चरने वाली गायों और गोपालों के आश्रय पहाड़ हैं,इसलिए वह भी पूजनीय है । महाभारत में भी इस कथा का संकेत मिलता है।[1]

कृष्ण राजाओं की सत्ता के विरोध में थे । इन्द्र देवताओं के राजा थे । अतः इसी राजपद्धति को हटाने के निमित्त सात्वत जाति के श्रीकृष्ण ने इन्द्रपूजा का विरोध किया होगा । इसी विरोध से क्षुब्ध होकर इन्द्र ने वर्षा प्रारंभ की एवं कृष्ण ने उससे बचाने के लिए चमत्कारिक युक्ति करके छत्र धारण किया । इस तरह की वर्षा करना इन्द्र द्वारा भगवान् के ऐश्वर्य रूप को देखने के अभिप्राय से की गयी थी ।

इस कथा को किंवदन्ती कहते हैं जिसमें कद्रु वर्षा को इन्द्रपूजा-समर्थकों के रूप में कृष्णपूजा पद्धति के विरोध में गोपों पर वर्षण करती हुई दिखायी गयी है । शीघ्र ही कृष्णपूजा पद्धति के समर्थकों की संख्या अधिक होने के कारण उन्हीं से सहमत हुए सब जान पड़ते हैं।[2]

कृष्ण-इन्द्र युद्ध एवं उसमें इन्द्र का पराजित होकर कृष्ण को "उपेन्द्र" की उपाधि से विभूषित करना दो विभिन्न संस्कृतियों के अस्तित्व एवं सन्धि का प्रतीक है । अतः इस कथा से यह सर्वविदित ही है कि कृष्ण आभीर जन के नेता थे जिसकी जीविका गोपालन पर ही निर्भर थी ।

इतने भारी गोवर्द्धन पर्वत का धारण करना,दस वर्ष के बालक कृष्ण के लिए असंभव जान पड़ता है । परन्तु उनका दिव्य रूप तो सर्वविदित हो ही चुका था,अतः विश्वास कर लिया जाता है ।

श्रीकृष्ण भयानक मौसम से गौ एवं गोपों की रक्षा गुफा में बन्दर करके करते हैं । कृष्ण द्वारा नई गुफा के अन्वेषण के सम्बन्ध में श्री भगवानदास जी ने भी वर्णन किया है।[3]

---

१. तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ।--महाभारत,सभापर्व,अध्याय ३८।६

२. स्टडीज़ इन एपिक्स एन्ड पुराणाज़--प्रो० ए०डी० पुसालकर,पृ० ६६

३. कृष्ण-- श्री भगवानदास,पृ० ६२ ।

इसके पश्चात् इन्द्र द्वारा श्रीकृष्ण का गोवर्धन धारण करने के उपलक्ष्य में अभिषेक होता है। उन्हें "गोविन्द" नाम से सम्बोधित किया जाता है।[1]

वरुणलोक से नन्द जी को छुड़ा कर लाने के पश्चात् श्रीकृष्ण के मायातीत स्वधाम देखने की उत्कण्ठा गोपों को होती है। सर्वद्रष्टा भगवान् त्रिकालगति को जानने वाले उनके अभिलषित फल की प्राप्ति के लिए मायान्धकार से अतीत अपना परमधाम दिखलाते हैं।[2] अगम्य, अगोचर, अनन्त, सनातन, ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करा देते हैं जो कि लौकिक पुरुषों के लिए अलभ्य है। उस ब्रह्म ह्रद की तरंगिणी में अलौकिक दिव्य सुख था एवं रस रूप मूल तत्व से आनन्दधारा से निकल कर विश्व में विविध वैचित्र्य रूप में विकसित हुई। इसी परमानन्द में गोप नन्द निमग्न हो गये।

श्रीकृष्ण परात्पर तत्व सब भावों एवं रसों का मूल है। रस और भाव के बिना आनन्द का साम्राज्य नहीं। यही आनन्दपूर्ण रसराज गोपांगनाओं से परिवेष्टित अनन्त परमानन्द स्वरूप परिपूर्ण परात्पर तत्व है। श्रीकृष्ण माधुर्य शिरोमणि भी हैं। उनका अंग-अंग प्रेमरसकी भीनी छटा से आतृप्त है।

श्रीकृष्ण की बालक्रीडामाधुरी में भी यद्यपि आध्यात्मिक लीला माणिक्य प्रतीक रूप में उपस्थित होते हैं और ऐश्वर्यरूप कुक्षि में तिरोहित रहता है, फिर भी समस्त रूपों का अतिक्रमण करने वाली प्रेम की चरमावस्था माधुर्यरूप में प्रस्फुटित होकर, समस्त साधनाओं से भी अप्राप्त, उस ब्रह्म सरोवर का पान करा देती है --जहां माया मोह, सुख, दु:ख का लेशमात्र भी आभास नहीं होता। अत: गोपलीला ही श्रेष्ठ कही जाती है। भगवान् की विग्रह माधुरी से तो साहित्य ही वै ओतप्रोत है।

---

१. अभ्यषिंचत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात्। --श्रीमद्भागवतपुराण--१०।२७।२३

२. वही--१०।२८।१४

गोपियों के अभीप्सित फल के प्रतिफलन के लिए श्रीकृष्ण ने शरद पूर्णिमा की रात्रि का जो चीरहरण के समय संकेत दिया था, उसी के लिए त्रैलोक्य को भी विमुग्ध कर देने वाली वंशी पर कामबीज क्लीं की अस्पष्ट एवं मधुर तान छेड़ी । 'भागवत' में कहा भी गया है कि त्रिलोक में ऐसा कौन है जो भगवान के वक्त्र पदामृत रूप वेणु गीत से विमोहित होकर त्रिलोक्य सौभग रूप को देख कर मोहित न हो जाये । गायें, पशु, पक्षी भी पुलकित हो जाते हैं । इस रूपरस की भीनी सुगन्ध से आप्लावित भक्त स्वर्ग, अपवर्ग की भी कामना नहीं करता । उसे तो अविकल भक्ति पर दृढ़ आस्था रहती है ।

गोपियां वंशीनिनाद के वशीभूत होकर तन्मयावस्था में वृत्तियों से रहित हो जाती हैं । गोपियां भौतिक साज-श्रृंगारादि से निस्पृह होकर, सेवा, शुश्रूषा आदि धार्मिक कर्मों का परित्याग करके अपने अभीष्ट मोक्ष साधन में तल्लीन अन्य सब पदार्थों से निरासक्त थीं । वीतरागी सन्यासी की भांति साधक रूप से साध्य के आराधन के लिए ही गतिशील एवं क्रियावान् हो गईं । यह अवैध मर्यादा रहित प्रेम साधना की तिलांजलि देने जा रही थीं । यही उनकी साधना की चरमोत्कृष्ट अवस्था थी जहां पर पतिपुत्रादिक, सर्वधर्मत्याग की भावना एकमात्र परम धर्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही निहित थी ।

यहां पर एकान्तिक धर्म की प्रतिष्ठापना है । परन्तु इसके मूल में सर्वधर्मत्याग की ज्वाला भगवत्प्रेम[१] को प्राप्त करने के पश्चात् ही बुझती है । यह तृप्तिमूलक ही है, तिरस्कारमूलक नहीं ।

गोपियों के निग्रह करने में कोई भी शक्ति समर्थ नहीं थी फिर लौकिक सम्बन्ध से युक्त प्राणी कैसे समर्थ हो सकते थे । भगवान् की अप्रकट लीला में सहायक गोपियां भी परम रसमयी एवं सच्चिदानन्दमयी ही हैं । उन्होंने केवल जड़ शरीर का

---

१. हनुमानप्रसाद पोद्दार की भागवतटीका (द्वितीय खण्ड)--पृ० ३३४

परित्याग नहीं किया था बल्कि सूक्ष्म शरीर से प्राप्त होने वाले कैवल्य से अनुभूत होने वाले मोक्ष को एवं जड़ता की दृष्टि को भी परित्यक्त कर दिया था। तभी तो वह शुद्ध चिदानन्दमय में निमग्न थीं। उनके प्राण, मन, आत्मा सब श्रीकृष्ण द्वारा अपहृत हो चुके थे।[1] शुद्ध प्राक्तन संस्कार के अविशिष्ट रह जाने पर सशरीर श्रीकृष्ण के समीप जाने में गोपियां समर्थ न हो सकीं। पूर्व संचित भोग के फलस्वरूप ही जीव जन्म-मरण के पाश में आबद्ध रहता है। शनैः शनैः शुभाशुभ कर्मों के भोग से पापपुण्य संचित कर्मों का जब विनाश हो जाता है तो शुद्ध एवं मुक्ति स्वरूप वाला जीवात्मा से ही तादात्म्य स्थापित करके तद्रूप हो जाता है। इसी प्रकार जीवरूपी गोपियों का भी ब्रह्म से साक्षात्कार हेतु गमन करने में असमर्थता होने के फलस्वरूप विरहानल के सन्ताप से अशुभ फल के भोगों के परिणाम स्वरूप मुक्ति हो जाती है, जहां अविरल अनुराग है।

गोपियों ने भी भगवान् की लीलामाधुरी में निमग्न होने के लिए अप्राकृत दिव्य शरीर धारण तो कर लिया था फिर भी वह भगवान् को प्रियतम अधिक एवं ब्रह्मभाव में कम ही देखती हैं।[2]

परन्तु इसके निराकरण के प्रसंग उसी समय प्राप्त हो जाते हैं जब श्रीकृष्ण सदाचार सनातनी शिक्षा का उपदेश गोपियों को देते हैं। गोपियां उस उपदेश को प्राकृतस्त्रीजनोचित के समान मान कर विशिष्ट रूप से मानती हैं। श्रीकृष्णमय होने के पश्चात् उन्होंने उनके पूर्णब्रह्म का आकलन तो कर ही लिया था तभी तो वह उन्हें योगेश्वरेश्वर परमात्मा के रूप में पहचानती हैं।[3] तभी भगवान् ने गोपियों के भावों को पूर्ण किया और अपने असंख्य रूपों में प्रकट करके गोपियों के साथ क्रीडा की।[4]

---

१. ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ।।--श्रीमद्भागवतपुराण-१०।२६।८

२. कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।--श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।२६।१२

३. अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे।
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ।।--वही--१०।२६।३२

४. कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ।।--वही-१०।३३।२०

उसके बाद भी श्रीकृष्ण अपने स्वरूप में ज्यों के त्यों एकरस थे,अच्युत थे।[1]

हरिवंशपुराण में भी इसी तरह का प्रसंग आया है।[2]

रास में गोपियों द्वारा परिवेष्टित होने से जो श्रीकृष्ण की शोभा हुई वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों अपनी पत्नी तारिकाओं से घिरे हुए चन्द्रमा हों।[3]

अगर इसकी ज्योतिष तत्व के रूप में व्याख्या की जाती है तो प्राचीनकाल के लोगों के अनुसार सूर्य की रोशनी से ही तारों का तारायन,चन्द्र की चन्द्रिका है, गो रश्मि है,गोप कृष्ण हैं,गोपी तारा हैं। कवि ने कृष्ण रवि को रास मध्यस्थ और गोपी तारा को मण्डलाकार में सजाया है।[4] विष्णु अवतार कृष्ण सूर्य से पहले ही सम्बन्धित हो चुके थे। सूर्यरूप भगवान् श्रीकृष्ण तारा रूप राधा से अदृश्य रूप में क्यों मिलते हैं? इसका स्पष्ट समाधान ज्योतिष तत्वीय दृष्टिकोण से श्री शशि-भूषणदास गुप्त ने दिया है।

कार्तिक पूर्णिमा में सूर्य विशाखा की ओर विशाखा में रहता है। विशाखा राधा का नामान्तर है। राधा का सूर्य से मिलन होता तो है पर अदृश्य रूप से। युगपत् तारा और सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होते।[5]

चिदानन्दमय अजन्मा अविनाशी भगवान् की अन्तरंग ह्लादिनी शक्ति के साथ क्रीडा लौकिक धरातल स्तर पर शरत्काल में कैसे पूर्ण हुई? इसका समाधान यही है कि रास के प्रारंभ में शरत्काल की दिव्यरात्रियों की सृष्टि भगवान् के प्रेमवीक्षण से ही होती थी। पुष्प इत्यादिक उद्दीपन सामग्री सब कुछ लौकिक नहीं अलौकिक हैं। यह सब दिव्यमाया के परिणाम रूप ही हैं। भगवान् के दिव्य क्रीडारूपरास में न कोई जड़ शरीर न प्राकृत अंगही था फिर भी लीला रमेश भगवान् ने अपनी अन्तरंगा शक्ति के साथ प्रतिबिम्बस्वरूपा गोपियों से आत्मक्रीडा की।[6]

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।२९।४३

२. हरिवंशपुराण (विष्णुपर्व) २०,२५ नीलकण्ठ उद्धृत।

३. व्यरोचतैणांक इवोडुभिर्वृतः।--श्रीमद्भागवत महापुराण--१०।२९।४३

४. श्रीराधा का क्रमिक विकास--डा० शशिभूषणदास गुप्त,पृ० १०१-१०४।

५. वही।

६. रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।।भागवतपुराण-१०।३३।१७

मद का संचार ही ईश्वरप्राप्ति में बाधक है। भगवान अपने भक्तों में इसका लेशमात्र संचार भी देखना सहन नहीं करते। यहीं श्रीकृष्ण के स्वरूप का प्रदर्शन उनके अन्तर्धान के समय प्रदर्शित हो जाता है।

"गर्गसंहिता" में तो स्पष्ट रूप से राधा के साथ श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने की बात कही गयी है[1]। भागवतपुराण में कहीं भी इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

गोपियां अपनी भूल का प्रायश्चित्त करके विलाप करते हुए सच्चे प्रेम की कसौटी पर ईश्वर को खरा बना देती हैं। इस कारण भगवान श्रीकृष्ण "साक्षान्मन्मथरूप" से प्रकट हो जाते हैं[2]।

ब्रह्मपुराण में भी रास के प्रारंभ होने पर श्रीकृष्ण के स्थानान्तर चले जाने पर गोपियों का कातर दृष्टि से अन्वेषण करना एवं श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों का दर्शन करने का भी प्रसंग आता है[3]। इस पुराण में रासलीला का प्रसंग श्रीकृष्ण की सर्वव्यापकता को प्रमाणित करने के अर्थ में ही आता है। इसी तरह भागवतपुराण[4] में परमात्मा के चरणचिह्नों का गोपी दर्शन अन्य पुराणों[5] में भी अंकुरित होकर पल्लवित हो गया।

गोपियों द्वारा दिव्य शरीर गृहीत होने के कारण उनमें अहंकार आदि का समावेश उचित प्रतीत नहीं होता है फिर भी गोपियां भगवान् की अनुकम्पामयी सिद्धि की उपलब्धि के कारण अभिमान से ग्रसित हो जाती हैं। जब कुण्डलिनी शक्ति अनाहत चक्र का भेदन करके स्थिर होने लगती है तो साधक योगी तन्मय हो जाता है।

---

१. गर्गसंहिता--वृन्दावन खण्ड--अध्याय १८।

२. तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमान मुखाम्बुजः।
   पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ।।--भागवतपुराण-१०।३२।२

३. वभ्रमुस्तास्ततो गोप्यः कृष्णदर्शनलालसाः।
   कृष्णस्य चरणं रात्रौ दृष्ट्वा वृन्दावने द्विजाः ।।--ब्रह्मपुराण- १८९।२३

४. श्रीमद्भागवतपुराण--१०।३०।२४

५. विष्णुपुराण--पंचम अंश-- अध्याय १३।

यही भाव गोपियों को भी प्राप्त हो गया था । तभी गोपियों को श्रीकृष्ण में परमात्म दर्शन प्राप्त हुआ था[1]।

"भागवतपुराण" के भगवान् आत्माराम एवं मायारमण हैं । स्वरूपतः आत्मा में ही रमण करते हैं,लेकिन मायातः मायारमण । कोई भी ऐसी माया नहीं है जिसे नित्य सहचरी कहा जा सके । राधादि की कल्पना तो हम भागवत में कर नहीं सकते । इसका मूल कारण भी यही प्रतीत होता है कि राधा अन्यत्र कतिपय स्थलों में त्याग और तपश्चर्या में कृष्ण के प्रेम की पराकाष्ठा से परे पहुंच जाती हैं अतएव कृष्णचरितविषयक पुराण होने के कारण "भागवत" में राधा का नाम नहीं आया है ।

राधा को सिद्ध करने की कल्पना के वशीभूत होकर यदि व्याख्याएं की ही जाएं तब तो वह सिद्ध हो सकती है । कुछ लोग असत् से सत् की उत्पत्ति की तरह राधा को "भागवतपुराण" से निकालते हैं। श्री जे०एन० फर्कुहर आराधन करने वाली भागवतपुराण की गोपी से ही राधा का उद्भव मानते हैं[2]। जिस गोपी को राधा सिद्ध किया है,उसकी आचरण को तो "भागवतपुराण" में दौरात्म्य कहा गया है[3], तो वह राधा कैसे हो सकती है । परन्तु कतिपय विद्वान् भागवत में श्रीकृष्ण के चरणों का अनुसरण करने वाली गोपी के चरणचिह्नों को देख लेने से ही राधा की उद्भावना करके श्रीकृष्ण के नित्य सहचरी के तुल्य ही समझते हैं ।

अकेले तो कोई रमण नहीं कर सकता[4]। यह भ्रमात्मक दृष्टि ही राधावाद को सिद्ध करने के लिए अथक प्रयास करती है । तभी तो गोपियां कहती हैं कि यह श्रीकृष्ण की आराधिका होगी[5]।

---

१. न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।--श्रीमद्भागवतमहापुराण-१०।३१।४

२. एन आउटलाइन आफ़ रिलिजस लिटरेचर--जे०एन० फर्कुहर,पृ० २३७ ।

३. रेमे तया चा[illegible]रत आत्मारामोऽप्यखण्डित: ।
कामिनां [illegible]न् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ।--श्रीमद्भागवतपुराण-१०।३०।३५

४. बृहदारण्यक[illegible]षद्--१,४

५. अनयाऽऽरा[illegible] नूनं भगवान् हरिरीश्वर: ।
यन्नो वि[illegible]गोविन्द: प्रीतो यामनयद् रह: ।--भागवतपुराण १०।३०।२८

`राधा` शब्द राध् संसिद्धौ धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ संसिद्धि या आराधना है। राधा का अर्थ है आराधन करने वाली, कृष्ण के सम्पर्क में अगर अर्थ किया जाए तो "कृष्णं" समाराधयति इति राधा" और कृष्णेनाराध्यते इति राधा" इस प्रकार की संगति बैठती है। यह राधिकोपनिषद् में कहा गया है।

यह तो स्पष्ट ही है कि गोपी आराधना करने के कारण अन्य सब गोपियों से श्रेष्ठ थी। इसी कारण उसे अपनी श्रेष्ठता का मद चढ़ता है और अपने को परब्रह्म श्रीकृष्ण का दूसरा रूप समझती है, जिसे स्वलीलाद्वित ब्रह्म ने भजा है[1]।

मान तो प्रेम का पोषक होता है परन्तु भगवान् की आकृति अज्ञान रूप अहंकार से धूमिल पड़ने लगती है, तभी तो उस गोपी के दर्पयुक्त कथन से श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं[2]। कृष्ण की आराधिका के लिए इस प्रकार का अभिमान संभव नहीं। यदि वह श्रीकृष्ण की प्रियतमा ही मान ली जाये तो श्रीकृष्ण के स्वरूप गुणों से युक्त होने के कारण अभिमान का लेशमात्र भी नहीं होना चाहिए था। अतएव इस पुराण में प्रधान गोपी राधा होने में सन्देह है।

अब `रास` शब्द की व्याख्या आवश्यक है। भगवान् तो रस स्वरूप हैं। जिस दिव्य क्रीडा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त अनन्त रस का समास्वादन करे, एक रस ही रस समूह में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद, आस्वादक, लीलाधाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपन के रूप में क्रीडा करे--उसी का नाम रास है[3]। हरिवंशपुराण में रास के लिए `हल्लीसक` शब्द का प्रयोग हुआ है[4]। इस पुराण में भी रासलीला वर्णन प्रसंग में प्रत्येक गोपी के पश्चात् श्रीकृष्ण की स्थिति एवं गोपियों की विद्यमानता थी[5]। भागवतपुराण में श्रीकृष्ण अपनी योगशक्ति के द्वारा एक तरफ

---

१. सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् ।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ।।--वही-- १०।३०।३७

२. एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति ।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ।।-- वही--१०।३०।३८

३. श्रीमद्भागवतमहापुराण--द्वितीय स्कन्ध) टीका--श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार, पृ०३३०

४. हल्लीसक्रीडनं एकस्यैव पुंसः बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रासक्रीडा ।
--हरिवंशपुराण २०,२५-३५ (नीलकंठ टीका)

५. वही--विष्णुपर्व--२०,२५ पर नीलकण्ठ द्वारा उद्धृत ।

प्रत्येक दो-दो गोपियों के बीच प्रकट थे[1] तो दूसरी तरफ गोपियों के पतियों के पास भी गोपी रूप से उपस्थित थे[2]। पद्मपुराण में तो रासलीला के समस्त उपादानों को आध्यात्मिक अर्थ के रूप में प्रकट किया गया है।

"भागवतपुराण" की रासलीला पर दृष्टिपात करके उसका लौकिक स्तर पर आकलन नहीं करना चाहिए। इसमें सच्चिदानन्द ब्रह्म का अपनी ह्लादिनी शक्ति के साथ क्रीडा ही अभिप्रेत है। अतः इस दिव्य क्रीडा प्रसंग में शंका की किंचित् गुंजाइश भी भगवत्प्रेमियों को नहीं रखनी चाहिए।

रासक्रीडा के पश्चात् दो अन्य घटनाओं का भी उल्लेख है जिसमें सरस्वती नदी के किनारे अम्बिकावन में अजगर से सोते हुए नन्द की रक्षा[3] और शंखचूड नामक यक्ष द्वारा गोपियों के हरण की चेष्टा एवं उसके वध का उल्लेख है[4]।

अरिष्टासुर उद्धार के पश्चात् श्रीकृष्ण की ऐश्वर्यमयी लीलाओं को देख कर नारद जी कंस को पूर्वघटित घटनाओं का उल्लेख देते हैं, जिससे भयभीत कंस बलराम एवं कृष्ण को चाणूर, मुष्टिक द्वारा कुवलयापीड से मरवाने के लिए अक्रूर को नन्दादि गोप लाने का आदेश देता है। उसी समय केशीवध की सूचना[5] मिलने पर श्रीकृष्ण "केशव" नाम की उपाधि से युक्त हो जाते हैं। पुराणों में केशी को दुष्टप्रकृति का अश्व कहा गया है।

व्योमासुर का वध भी लीला विलास में सहायक ग्वाल बालों की रक्षा के लिए होता है।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।३३।३

२. मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः।--वही-१०।३३।३८

३. वही-- १०।३४।८

४. वही - १०।३४।३१

५. भागवतपुराण--१०।३७।८

अक्रूर की ब्रजगमन यात्रा से यह ध्वनित होता है कि सब पुरुषों के मध्य में सात्विक विचारों से युक्त भक्त के लिए भगवान् ऐसी कथायोजना का विन्यास कर देते हैं कि जो भगवान् के दर्शन में सहायक है। श्रीकृष्ण के प्रति आस्था होने के कारण अक्रूर भी कृष्णमय हो गये थे।

श्रीकृष्ण एवं बलराम के मथुरागमन के अभिप्राय को जानकर गोपियों की दशा उसी प्रकार से दयनीय हो गयी थी जिस प्रकार से ब्रह्मावस्था को प्राप्त साधक या योगी का फिर से विषयासक्त हो जाना। साधक अपने साध्य के अभाव में कैसे रह सकता है। गोपियों की चित्तवृत्तियां भी सर्वथा निवृत्त होकर समाधिस्थ आत्मा में स्थित हो गयीं। शरीर और आत्मा का भी ध्यान न रहा[1]। नन्द बाबा आदि गोप भी सामग्रियों से युक्त छकड़े के पीछे पीछे चले। भक्त का स्वभाव ही भगवान् का अनुसरण करना होता है।

अक्रूर द्वारा यमुनाह्रद (ब्रह्मकुण्ड) में डुबकी लगाने के फलस्वरूप श्रीकृष्ण चतुर्भुज[2] रूप से लक्ष्मी से शोभित वक्षस्थल वाले दिखायी पड़ते हैं। बलराम शेषनाग और उनकी गोद में घनश्याम दिखायी पड़ते हैं[3]। नन्दादि भगवान् के परम भक्त के रूप में ही दृष्टिगत होते हैं। उसी समय श्रीकृष्ण नट की भांति अपना दिव्य स्वरूप तिरोहित कर लेते हैं।

मथुरादर्शन के लिए भक्तजनों को आमन्त्रित करते हुए,अज्ञानान्धकार रूप अहं मेघ का छेदन करके रजक को उस परमात्मस्वरूप का दर्शन करा देते हैं जहां पर संपूर्ण जागतिक पदार्थों का उपादान एवं निमित्त कारण ईश्वर ही है।[4] भगवान् सर्वत्र

---

१. अन्याश्च तदनुध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः।
नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव ॥--श्रीमद्भागवत महापुराण-१०।३९।१५

२. पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रारुणेक्षणम्। --वही-१०।३९।४६

३. तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रारुणेक्षणम् ॥--वही-१०।३९।४६

४. एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी
रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्।

-- श्रीमद्भागवतपुराण--१०।४६।३१

परिपूर्ण हैं ,सब कुछ उन्हीं का है[१]। इसी को आधार बना कर अज्ञानी लोगों के ज्ञानोपदेश के लिए ही इस लीला का आश्रय लिया गया।

भक्तों के उद्धार हेतु पृथ्वीतल पर अवतरित होने वाले श्रीकृष्ण द्वारा कुब्जा उद्धार की लीला भी इस उद्देश्य की सार्थकता को सिद्ध करने में सहायक है। तीन जगह से वक्र[२] कुब्जा को सीधा करने का अभिप्राय अगर प्रतीकात्मक ढंग से लिया जाये तो यह आध्यात्मिक अर्थ निसृत होता है कि सत्व,रजस्,तमस की त्रिवक्री भंगिमा के स्थान पर सात्विक सत्व को ही स्थापित किया गया है,जो शुद्ध एवं मुक्त स्वभाववाला है।

धनुर्मख में पहुंच कर कुवलयापीड हाथी[३] एवं चाणूर[४] को श्रीकृष्ण ने,मुष्टिक[५] को बलराम ने मार डाला। यह दोनों भाइयों की अद्भुत वीरता को प्रतिपादित करने वाली लीलाएं हैं। कंस को मारने के लिए भगवान् कृष्ण द्वारा केश खींचने का विधान और ऊंचेरंगमंच से गिराने का अभियान[६] है। परम स्वतंत्र विश्व के आश्रय भगवान् कंस के ऊपर स्वयं आसीन हो गये। कृष्ण के अद्भुत अलौकिक कृत्यों को देख कर ऐश्वर्य भाव से अभिभूत देवकी भी पुत्रभाव की स्नेहिल झांकी नहीं देखती हैं तभी तो उन्हें जगदीश्वर को हृदय से लगाने का साहस नहीं हो पाता है[७]। सर्वज्ञाता भगवान देवकी

---

१. सा याचिता भगवता परिपूर्णेन सर्वतः -- वही--१०।४९।३४

२. प्रसन्नो भगवान् कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननाम् ।
ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन् दर्शने फलम् ।,--वही १०।४२।६

३. दन्तमुत्पाट्य तेनेभं हस्तिपांश्चाहनद्धरिः ।--वही१०।४३।१४

४. वही--१०।४४।२३

५. वही--१०।४४।२५

६. प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं
निपात्य रंगोपरि तुंगमंचात् ।
तस्योपरिष्टात् स्वयमब्जनाभः
पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः ।।-- भागवतपुराण--१०।४४।३७

७. देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शंकितौ ।।-- वही १०।४४।५१

की भावना की अवधारणा करके पुत्र स्नेह की अविरल धारा में तन्मय कराने का विचार करके योगमाया का आश्रय लेकर उन सब को विमुग्ध कर देते हैं।[१]

बौद्ध घटजातक में भी वासुदेव कृष्ण के कुवलयापीड हाथी, मुष्टिक, चाणूर और कंसादि वैरियों को नाश करके द्वारका में राज्य स्थापित करने की बात कही गयी है।

उद्धव की ब्रजयात्रा का उद्देश्य उनके भौतिक स्वरूप का निराकरण करके ब्रह्म रूप की प्रतिष्ठापना करना है।[२] इसी कारण भगवान श्रीकृष्ण को पुरुष एवं बलराम को उनकी प्रकृति माना है और उनकी लीला में सहायक जीवों को ज्ञानस्वरूप कहा गया है।[३] काष्ठ में अग्नि के तुल्य उनका भी विधान है।[४]

उद्धव द्वारा गोपियों को सन्देश दिलाने का उद्देश्य भी श्रीकृष्ण द्वारा ब्रह्मरूप की प्रतिष्ठापना एवं उनकी अन्तरंग स्वरूपभूता ह्लादिनीशक्ति से कभी वियुक्त न होने की बात कही गयी है।[५]

वियोग तो लौकिक धरातल की वस्तु है। आध्यात्मिक स्तर पर इसका कोई मूल्य नहीं। इसी उदात्त भावना का दिग्दर्शन कराने के लिए ब्रह्मस्वरूप से अवधारण करके लौकिक वियोग से मुक्ति प्रदर्शित की गयी है। इसी परब्रह्म रूपी माधुरी का पान करके गोपियों की विरह ज्वाला भी समूल नष्ट हो जाती है और इन्द्रियातीत भगवान् श्रीकृष्ण को अपनी आत्मा में ही सर्वत्र समझती हैं।[६] प्राकृत बुद्धि का विनाश

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।४५।१

२. वही--१०।४६।३८,१०।४६।४२

३. वही--१०।४६।३१

४. वही--१०।४६।३६

५. भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित् ।
   यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ।
   तथाहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः ।--वही--१०।४७।२९

६. ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।
   उद्धवं पूजयांचक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम् ।।
   --श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।४७।५३

एवं भक्ति की चरमावस्था भगवान श्रीकृष्ण द्वारा ही संभव हुई। कृष्ण द्वारा प्रेरित अक्रूर के हस्तिनापुरगमन के लिए वहां पहुंच कर कुन्ती में भी श्रीकृष्ण के लिए परब्रह्म परमात्मा रूप ही प्रदर्शित होता है।[1]

श्रीमद्भागवतपुराण के दशम स्कन्ध का उत्तरार्ध प्रारम्भ से ही श्रीकृष्ण के वीरोचित कर्मों को प्रस्तुत करने का भण्डार है, जहां पर एकच्छत्र ऐश्वर्य का ही साम्राज्य दिखायी पड़ता है।

विद्वान् विण्टरनित्स[2] द्वारका के प्रधान श्रीकृष्ण के परिचय के सम्बन्ध में सन्देह करते हैं जो कि प्रत्येक संभव उपायों द्वारा महाभारत के युद्ध को जीतने का प्रयत्न करते हैं। उचित एवं अनिष्ट रास्ते में भी कृष्ण पाण्डवों की सहायता करते थे और दूसरी तरफ गीता के संस्थापक थे। विद्वान् विण्टरनित्स पाश्चात्य विद्वान् द्वारा ऐसी शंका करना निर्मूल जान पड़ता है। महाभारत युद्ध तो अन्याय पर न्याय की विजय का परिणाम है।

जरासन्ध सहित अन्य असुरों के वध के सम्बन्ध में विचार करने मात्र से ही श्रीकृष्ण के उद्देश्य को फलीभूत करने मात्र से आयुधों से सुसज्जित देदीप्यमान रथ उपस्थित हो जाता है।[3] इसी तरह का प्रसंग परवर्ती नाटक भासरचित "बालचरित" में भी मिलता है।[4] यहां पर गरुड़, चक्र आदि की उपस्थिति हो जाती है।

---

१. नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने।
योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता ॥--श्रीमद्भागवतपुराण--१०।४८।१३

२. Scholar like Winternitz doubt the identity of Krsna the chief of Dwarka, who helped the Pandavas in every possible way both right and wrong to win the Mahabharat war with propounder of Gita.
— History of Indian literature, Vol I, Page 456 (M. M. Winternitz)

३. श्रीमद्भागवतमहापुराण-- १०।५०।११-१२

४. बालचरित--प्रथम अंक--२१,२८

अनन्तगुणों के निधि स्वरूप भगवान् क्रीडा-क्रीडा में लोक की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं।[1] इसीलिए जरासन्ध की चतुरंगिणी सेना भी मारी जाने लगी।[2] सत्रह बार तेईस अक्षौहिणी सेना एकत्रित करके यदुवंशियों के समक्ष उपस्थित होने पर श्रीकृष्ण की महिमा से जरासन्ध पराजित हो चुका था। अठारहवीं बार युद्ध करने के समय कालयवन आ पहुंचा जो कृष्ण से युद्ध करते-करते गुफा में प्रवेश करके मुचुकुन्द द्वारा भस्मीभूत हो गया।[3]

यहाँ पर श्रीकृष्ण के वीरोचित कर्मों का स्मरण दिलाते-दिलाते श्रीकृष्ण के विवाह की बात स्मरण हो आती है। पाणिग्रहणसंस्कारावधि के सन्निकट होने पर भी रुक्मिणी द्वारा कृष्ण का स्मरण करके संदेश भिजवाना उनके अटूट प्रेम का परिचायक है। रुक्मिणी भगवान् का अभिन्न अंश है। उनसे वियुक्त रहना असंभव है।

भगवान् द्वारा भक्त का ग्रहण स्मरण मात्र से ही हो जाता है फिर भी वह रुक्मिणी को हरण करके ले जाते हैं।[4] यह राक्षस विवाह के अन्तर्गत ही आता है जो शास्त्र-विरुद्ध है। भगवान् के दिव्य स्वरूप होने के कारण उनके चरित्र पर लांछन नहीं लग सकता है। भावी पत्नी के हरण हो जाने पर शिशुपाल एवं रुक्मिणी के भाई रुक्मी भी भगवान् के प्रति द्वेष होने के कारण कृष्ण से युद्ध करके पराजित होते हैं। इन लोगों के हृदय में अभीतक ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित नहीं हुई थी।

कामदेव भी अंशी भगवान् का आश्रय लेकर रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न रूप में उत्पन्न हुए।[5] प्रद्युम्न में षड्गुणों में से ऐश्वर्य और वीर्य एवं अनिरुद्ध में शक्ति और तेज है। प्रद्युम्न का विवाह रुक्मी की पुत्री रुक्मवती से हुआ।[6] अनिरुद्ध प्रद्युम्न से

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।५०।३०
२. वही -- -- १०।५०।२४
३. वही -- -- १०।५१।१२
४. वही -- -- १०।५४।५५
५. वही -- -- १०।५५।२
६. वही -- -- १०।६१।२३

उत्पन्न हुए एवं बाणासुर की पुत्री उषा से विवाह किया[१]। इन सब को व्यूहवाद के रूप में पांचरात्र सम्प्रदायों ने माना था फिर भी यह सब श्रीकृष्ण के वंशभूत तो थे ही ।

रुक्मिणी के अतिरिक्त कृष्ण की सात अन्य पत्नियां होने का उल्लेख प्रायः सभी पुराणों में मिलता है। उनके नाम थे-- सत्यभामा, जाम्बवन्ती, कालिन्दी, मित्रवन्दा, सत्या, भद्रा, लक्ष्मणा । कुछ के साथ मातृपितृ-सम्मति से विवाह एवं कुछ के साथ राक्षस विवाह हुआ था ।

'बौद्धमहाउमग्गजातक' में कहा गया है कि कृष्ण ने कामासक्त होकर चाण्डाल कन्या जाम्बवन्ती को महिषी बनाया था । जिन पुराणों में नरकासुर के वध की कथा है, उसमें उनके बन्दीगृह से सोलह सौ स्त्रियों के मुक्त करने और उनके साथ विवाह करने की बात कही गयी है ।

अन्यान्य असुरों का वध हो जाने पर श्रीकृष्ण जरासंध की मृत्यु का विचार करके अपनी शक्ति का संचार भीम के हृदय में निवेशित करके विचार करते हैं[२]। भीम द्वारा जरासन्ध मृत्यु को प्राप्त हो जाता है[३]।

इस प्रकार से श्रीकृष्ण की महत्ता तो सर्वव्यापक है ही, फिर भी मोहग्रस्त अहंकारी प्राणी इसे स्वीकार करने में सर्वसम्मति से निर्णय देने में संकुचित हो जाते हैं। भगवान की इन अलौकिक लीलाओं को देख कर ऐसे अहंकारी पुरुषों का कभी-कभी आस्तिकों के समक्ष मस्तक नत हो जाता है। भगवान् की सत्ता वह भी स्वीकार कर लेते हैं।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।६२।१

२. वही--१०।७२।४२

३. वही--१०।७२।४६-४७

समस्त देशकालापरिच्छिन्न वस्तुओं के रूप में ईश्वर ही विद्यमान है।[१] सारा विश्व ही कृष्णरूप है। एकरस अद्वितीय ब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं जिनमें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद नाममात्र का भी नहीं है[२]। शिशुपाल द्वारा विरोध करने पर श्रीकृष्ण के पक्षपाती नरपतियों के ललकारने पर कृष्ण द्वारा शिशुपाल का वध होता है[३]।

श्रीकृष्ण द्वारा इन्द्रप्रस्थ की रक्षा करने के पश्चात् द्वारका की रक्षा के लिए जाने का विधान है। वहां पर भी मायावी शाल्व की मृत्यु होती है।

उपरोक्त विवरण से भगवान श्रीकृष्ण तो सर्वशक्तिमान् सिद्ध हो ही चुके हैं, नित्यस्वरूप होने के कारण उनके अंशस्वरूप जीव भी नित्य होने लगेंगे, तब इनमें पार्थक्य की गुंजाइश नहीं रहेगी। परन्तु ब्रह्म तो इन सब का नियामक है, तभी जीव अंशी से भिन्न है[५]।

इस उद्देश्य को भी दृढ़ीभूत करने के लिए ही ब्राह्मण के मृतपुत्र को दिखाने के लिए श्रीकृष्ण अर्जुन को उस दिव्य जलराशि में प्रवेश कराते हैं जहां पर शेष भगवान् की सुखमयी शय्या पर भगवान् विराजमान हैं। उनके शरीर की कान्ति श्यामल मेघ कान्ति के तुल्य और पीताम्बरधारी है[६]। यह श्रीकृष्ण का ही दिव्य स्वरूप है परंतु अर्जुन के समक्ष लोकपालों के स्वामी भूमापुरुष के द्वारा दोनों का उनकी कलाओं के साथ पृथ्वी पर अवतार ग्रहण करने की बात कही गयी है[७]। अर्जुन को ऐश्वर्य रूप न दिखाने के लिए भूमापुरुष अंश यहां पर श्रीकृष्ण कहे गये हैं।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।७४।१६

२. वही--१०।७४।२०-२१

३. वही--१०।७४।४३

४. वही--१०।७७।३६

५. वही--१०।८७।३०

६. वही--१०।८९।५५

७. वही--१०।८९।५९

महाभारत युद्ध में योद्धाओं को सारुप्य मुक्ति प्रदान करने के पश्चात् भी आकाश,पृथ्वी,अन्तरिक्ष,उत्पातों से अछूता न था । इसका विनाश अवश्यंभावी था, तभी तो श्रीकृष्ण नट की भांति अनेकों स्वांग करते हुए,उन सबकी निर्लिप्त माया के विलासमात्र से स्वलीला संवरण की आकांक्षा करते हैं।[1] काल की विषाग्नि विकराल मुंह फैलाये हुए रक्त का पान करना चाहती है,अतएव यदुवंशियों में संहार होता है।

बलराम द्वारा भी आत्मा को आत्मस्वरूप में स्थित करने के पश्चात्[2] ही चतुर्भुज भगवान् संहारलीला करके अपने अनन्तमहिमामय स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। इसमें स्व इच्छा ही प्रधान है परन्तु श्रीकृष्ण प्राकृतपुरुषवत् होकर ही माया से जराव्याध द्वारा मृत्यु को प्राप्त होते हैं।[3] यह श्रीकृष्ण के भौतिक लोक पर भौतिक शरीर के त्याग की अलौकिक लीला है जो अवसानकाल में भी साथ रहती है।

इस प्रकार से "श्रीमद्भागवतपुराण" की समस्त लीलाओं के अध्ययन के पश्चात् उसमें "राधा" नामक नित्य सहचरी का न होना ही उसकी मौलिक उद्भावना प्रतीत होती है,जो कि नित्यप्रेयसी को भी "गोपी" नाम से व्यवहृत करती है। इस पुराण में श्रीकृष्ण गोपीवल्लभ ही हैं।

अन्य पुराणों के अध्ययन का मूल ध्येय परवर्ती नाटकों में प्रयुक्त "राधा" नाम की सहचरी को दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित करने के अभिप्राय से ही किया गया जो राधा-वाद को परवर्ती पुराणों में तो अभिषिक्त करता ही है एवं इसी को आधार मान कर नाटक का इतिवृत्त रूपी प्रासाद खड़ा करता है। इसी तरह लब्धप्रतिष्ठ भागवत के कृष्ण भी अपने से सम्बद्ध सहयोगियों से भिन्न तो हैं ही । वह योद्धाओं की श्रेणी में ही परिगणित किये गये हैं। नायक ही नहीं,अपितु धार्मिक अध्येता भी हैं जिससे भागवत धर्म का विकास हुआ।[4] श्रीकृष्ण चरागाही जाति अर्थात् गोपों के बालदेवता भी रहे हैं।[5] इसी तरह भागवतपुराण के दार्शनिक उपदेश शांकर रीति के समीप ही

---

१. राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य ।
सृष्ट्वाऽऽत्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते संहृत्य चात्ममहिनोपरतः स आस्ते ।।
--भागवतपुराण--११ ।३१।११

२. वही--११।३०।२६

३. वही--१०।३०।३३

४. हिन्दूइज़्म एन्ड बुद्धिज़्म--भाग २--इलियट,पृ० १५६

५. वैष्णविज़्म,शैविज़्म एन्ड अदर माइनर रिलीजस सेक्टस--आर०जी० भंडारकर,पृ०५०
हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर (प्रथम)--विण्टरनित्स,पृ० ४६६ ।

स्थित होते हैं यद्यपि सांख्य की सफ्ता भी अन्य दूसरे पुराणों की तरह भागवत को भी प्रभावित करती रही है[1]। यही भागवत की आत्यन्तिक प्रतिष्ठा है जिसे आधार बनाकर परवर्ती रचनाकारों ने अपनी रचनाओं को निबद्ध किया।

---

१. ऐन आउटलाइन आफ़ रैलिजस लिटरैचर आफ़ इन्डिया--फर्कुहर, पृ० २३१।

--0--

तृतीय अध्याय

कृष्णकथाश्रित नाट्यकृतियों का प्रतिपाद्य विवेचन

कृष्ण कथाश्रित नाटकों की पृष्ठभूमि एवं उसका उदय काल

नाटकों का उदयकाल भी यदि वैदिक पृष्ठभूमि पर देखा जाये तो ऋग्वेद के सूक्तों में कहीं भी यथार्थ रूपक का निर्देश प्राप्त नहीं होता ।जहां से नाटक-सम्बन्धी सूचना प्राप्त की जाए । वैदिक कर्मकाण्ड के अन्तर्गत जो अभिनय का पुट दृष्टिगोचर होता था वह नाट्य सम्बन्धी जानकारी के लिए प्रामाणिक नहीं था,क्योंकि याज्ञिक तत्वयुक्त संवाद द्वारा नाटक में सहायक मूल तत्वों के आधार पर नाटक के विकास की सामग्री प्रकाशित नहीं होती । यह वैदिक कर्मकाण्ड को प्रतिपादित करने की परिपाटी मात्र थी ।

वैदिक रूपक सुपर्णाध्याय में हर्टेल नाट्य सम्बन्धी तथ्यों का अनुसंधान करते हैं और यहीं से नाटक का विकास मानते हैं । नाट्य को वेद से अभिभूत मानने वाले भारतीय विद्वानों के द्वारा पहला अभिनीत नाटक त्रिपुरदाह डिम तथा समुद्र मंथन - समवकार था[1] । परन्तु वानश्रोडर के अनुसार वैदिक संवादों के भिन्न रूप में उत्तरकालीन नाटक विष्णु,कृष्ण,रुद्र शिव की उपासना पद्धति से सम्बन्धित हुआ[2] । इतना तो अवश्य ही संभावित है कि अधिकांशत: नाटक इतिहास काव्य से प्रभावित थे । इस मत की पुष्टि ओल्डैन वर्ग भी करते हैं[3] ।अत: इतिहास काव्य की पृष्ठभूमि पर भी दृष्टिपात करना अपेक्षित है ।

महाभारत भी प्राचीनतर इतिहास काव्य है । इसके सम्पूर्ण आयामपटल में भी कहीं नाटक के अस्तित्व की ध्वनि झंकृत नहीं होती[4] । फिर भी इसका मूल उद्गत स्थान कहां से नि:सृत हुआ,यह विचाराधीन है । हमारी बुद्धि इतना तो आभास दिला देती है कि कौन से नाटककार इतिहास काव्य से प्रभावित रहे और उसके आधार पर अपने नाटकों की रचना की ।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास--बलदेव उपाध्याय,पृ० ५८६
२. संस्कृत नाटक--ए०बी० कीथ--भाषान्तरकार--उदयभानु सिंह,पृ० ६
३. वही,पृ० १६
४. वही,पृ० २१ ।

भवभूति के उत्तर रामचरित एवं भास के नाटकों से इतना तो स्पष्ट आभास होता ही है कि वे लोग इतिहास काव्य के अनन्य ऋणी हैं। नाटककारों का इतिहास-काव्य से प्रभावित होने का मूलभूत कारण इतिहास-काव्य में निहित विशिष्ट नाट्य-सामग्री को परिवर्द्धित करने वाले उपकरणों का विद्यमान होना है। जिसकी आधार-शिला पर नाटक रूपी प्रासाद खड़ा हुआ। इससे प्रतीत तो यह होता है कि किसी नियमित सीमा तक इतिहास काव्य का नाटक से सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। इतिहास काव्य के अनन्तर नाटक के अस्तित्व के सम्बन्ध में सार्थक प्रमाण देने वाला वैयाकरण काल का पतंजलि का महाभाष्य है, जिसे १५० ई०पू० का मानना चाहिए। पतंजलि के महाभाष्य ने गेय प्रसंगों को महाभारत से ही लिया है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि रामायण एवं महाभारत के गेय प्रसंगों से ही कालान्तर में नाटक साहित्य ने जन्म लिया होगा। इसी भाष्य के अन्तर्गत कंस-वध ही इसका प्रमाण है। पतंजलि के नट, नर्तक या कलाबाज ही थे, जो गाते और पाठ करते थे।

पतंजलि का महाभाष्य अभिनीत रूपकों में ही उल्लिखित है जिसमें कृष्ण द्वारा कंस-वध की कथा संयुक्त है। इस नाटक के अनुपलब्ध होने के कारण शैली, कथानक आदि का विस्तृत विवेचन सम्भव न हो सका। कंसवध शौभिकों द्वारा आंगिक अभिनय से युक्त है, वाचिक नहीं। लूडर्स भी शौभिकों को मूक अभिनेता के रूप में प्रस्तुतीकरण करते हैं पर लेवी के कथनानुसार शौभिक कंसादि रूप धारण करके अभिनेताओं को पाठ विधि सिखाते हैं। यह मत जटिल व्याख्याओं से ग्रसित है अत: इसका निराकरण तो पूर्ववर्ती व्याख्या द्वारा संभव हो ही जाता है।

ग्रंथिक ही वाचिक अभिनय करते हैं, जो अपने कथानायकों के जन्म से लेकर ऐश्वर्य काल तक का वर्णन श्रोताओं के सम्मुख वास्तविक रूप से उपस्थित करने हेतु दो दलों में विभक्त होकर करते हैं। कृष्ण पक्षी लोग इसमें लाल रंग के वस्त्रों को धारण करके एवं कंसपक्षी काले वस्त्रों को धारण करके कुछ विद्वानों के अनुसार ग्रीष्म और शरद ऋतुओं में अथवा अन्धकार और प्रकाश में सामंजस्य के द्योतक हैं[१]।

---

१. कीथ का यह कथन इस बात की सूचना देता है कि प्राकृतिक परिवर्तनों के जन-साधारण के सामने मूर्त रूप से दिखलाने की अभिलाषा से ही नाटकों का जन्म हुआ।-- थियोरी आफ वेजिटेशन स्पिरिट, कीथ-- संस्कृत ड्रामा-पृ० ४५-४८।

ग्रीक लोगों के दो दलों में विभाजित होने के पश्चात् रंग परिवर्तन का सम्बन्ध तो दर्शकों पर छोड़ दिया गया था,उसके अनुसार कंसपक्षधारी का क्रोध से लाल पड़ जाना एवं कृष्णपक्षधारी के भय से काले वर्ण का हो जाना यह भाव-व्यंजना निहित रहती थी,क्योंकि हिन्दू समाज में हमेशा ही ऐसे दुर्जन विद्यमान रहते ही हैं,जो कंस की सफलता की कामना करते हैं। सब में एकपक्षीय दृष्टिकोण होना संभव नहीं है।

नाट्यशास्त्र में प्रत्येक भाव पर वर्ण का आरोप होने के कारण कीलहॉर्न के अनुसार भी कंसपक्षधारी पर स्थायीभाव क्रोध एवं कृष्णपक्षधारी पर स्थायी भाव भय की व्यंजना की गयी। परन्तु अजेय में भय का समावेश विरोधाभास-सा प्रतीत होता है। अत: पाठ्यक्रम बदल देने से अर्थात् कृष्णपक्ष भक्तों के लिए प्रतिशोध या क्रोध एवं कंस पक्ष के लिए भय का वर्णन ही श्रेयस्कर है। इसी भाव का आश्रय लेकर ही पूर्ववर्ती ग्रन्थिक लोगों का रक्तवस्त्र धारण करना एवं कंसपक्षधर के लिए काले वस्त्र धारण करना समीचीन लगता है[1]।

शौभिकों के परवर्ती काल में अभिनेता के वाचक रूप में प्रचलित न होने के कारण कुछ विद्वानों का इस नाटक के सम्बन्ध में तर्कना करना कि अगर इस यथार्थ नाटक का परिचय पतंजलि को होता तो वह इसका स्पष्ट उल्लेख करते,यह पतंजलि की रीति की आलोचना करना है,क्योंकि पतंजलि का मौन ही इसकी स्वीकृति का सूचक है।

स्त्री पात्रों का महाभाष्य में नर्तकियों एवं गायिकाओं के अतिरिक्त रूप स्वीकृत नहीं होता। अत: सम्भाव्य है कि पुरुष पात्र ही भूमिकाएं ग्रहीत करते होंगे। परन्तु संस्कृत के अभिजात नाटकों में ऐसा आवश्यक नहीं है फिर यह तो हम पूर्णरूपेण सिद्ध नहीं कर सकते कि पतंजलि के समय नाटक वाचिक आंगिक अभिनय के रूप में पूर्ण विद्यमान था पर इतना तो अवश्य है कि इनके सभी तत्व विद्यमान थे और वर्णसंगति एवं औचित्य के साथ उनके आदिम रूप में हम अस्तित्व स्वीकार कर सकते हैं। कौन-से तत्व नाट्य विकास में सहायक हुए?अब यह जानना आवश्यक है।

---

१. थियोरि आफ क्रीटिस स्पिरिट--कीथ--संस्कृत ड्रामा,पृ० ३६।

धर्म और नाटक में तो अटूट सम्बन्ध रहा ही है। अतः यह कल्पना भी सत्य है कि धार्मिकता ही नाट्य साहित्य के विकास में सहायक हुई। तभी तो कृष्ण-धर्म सम्बन्धी उपकरण से नाट्य सामग्री को प्रेरणा मिली।

कृष्णभक्ति का भी रूपक पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। प्रोफेसर लेवी[1] भी बल देकर इसे कृष्ण सम्प्रदाय पर ही आश्रित बताते हैं एवं डा० रिजवे[2] भी कृष्णपूजा से संस्कृत नाटक की धार्मिक उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु कृष्ण के साथ राम एवं शिव भी भक्ति के ऐसे स्तम्भ हैं जिसके लिए भक्त जनता ने अत्यन्त श्रद्धा के दीप जलाये एवं भक्तिभावना से आपूरित नाटककारों ने उनकी आरती उतारी। इसमें रामकृष्ण की लीलायें ही प्रधान रहीं, जिसमें प्राकृत जनबुद्धि का भी समावेश हो सका। उनकी मधुर आनन्दमयी लीला का सबने आस्वादन किया। विष्णु अवतार कृष्ण की बाल-लीलाओं का अभिनय सर्वदा चित्ताकर्षक रहा है। इस मनोहारी चित्र के वर्णन मात्र से न केवल आत्मिक आनन्द की ही अनुभूति होती थी, अपितु धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की भी प्राप्ति हो जाती थी, ऐसा धार्मिकों का विश्वास था। श्रृंगारिक लीलाओं में राधा के साथ उनकी प्रेममयी लीलाओं का प्रदर्शन परवर्ती संस्कृत साहित्य पर प्रभाव डालने में सहायक हुआ। इसके मूल में धार्मिक भावना सदैव बीज रूप से विद्यमान रही है।

डा० रिजवे भी नाटक की धार्मिक उत्पत्ति मानने के पक्ष के पश्चात् दूसरा तर्क यह देते हैं कि विश्व के सभी नाटक मृतात्माओं के प्रति व्यक्त की गयी श्रद्धा का परिणाम है, सभी धर्मों का स्रोत है।

एच०जे० मार्शल के अनुसार सिद्ध होता है कि रामकृष्ण की लीलाओं को लोकप्रिय करने के लिए नाटकीय प्रदर्शनों का प्रचलन तो सम्पूर्ण भारत में था और आधुनिक नाटक में अशोक या चन्द्रगुप्त जैसे ऐतिहासिक पात्रों का भी वर्णन होता था। यह

---

१. संस्कृत नाटक--पृ० ३७।

२. द ओरिजिन आफ ट्रेजेडी (१९१०) ड्रामाज एण्ड ड्रैमैटिक डान्सेज आफ नान-यूरोपियन रेसेज (१९१५), जे०आर०ए०एस० १९१६ पीपी ८२१-८८, कीथ, वही, १९१६--पीपी ३३५, १९१७, पीपी १४०, एफएफ १९१२ पीपी, ४११ एफएफ।

माना जा सकता है कि प्राचीन काल में डा० रिजवे के समान ही मान्यता रही हो पर भक्तों की दृष्टि में तो रामकृष्ण जैसे देवता स्वरूप के मृत होने की संभावना उनके दैवीय स्वरूप का हनन करती है,परन्तु महाभारत के अन्तर्गत हरिवंश में भी कतिपय ऐसे नाटकों का उल्लेख है जिसमें मृतक के सम्मान के प्रति भावना प्रधान है, परन्तु यह तो नाटक साहित्य का प्राचीनतर रूप नहीं माना जा सकता । संभवत: इसकी स्थापना अश्वघोष एवं कालिदास के पश्चात् हुई । अत: यह मत भी प्रामाणिक नहीं है । हरिवंश के दूसरे स्थल पर कृष्ण द्वारा वज्रनाभ की स्वयम् की हत्या प्रसंग में दुष्टों के वध पर हर्षोल्लास के लिए ही नाटक रचे जाते थे ,मानवीय संवेदना प्रकट करने के लिए नहीं । इससे महाभाष्य से प्राप्त निष्कर्ष का पोषण और भास के साक्ष्य का समर्थन होता है ।

संस्कृत नाटक सुखान्तता पर बल देता ही है । इस मूल भाव का पर्यवसान दुष्टों की मृत्यु द्वारा आनन्द में होता है । भास के नाटकों से तो इसका प्रबल प्रमाण मिलता ही है,वह परवर्ती शास्त्र नियमानुसार न चल कर,कंसवध के सिद्धान्त के अनुसार चलता है । वध देवविरोधी का होना चाहिए,अत: ये नाट्यशास्त्र मान्यता के समर्थक नाटककारों से प्राचीन दृष्टिगोचर होते हैं ।

अतएव निष्कर्ष के आधार पर संतुलित दृष्टि से यह सम्भाव्य है कि संस्कृत नाटक दूसरी शताब्दी ई०पूर्व के मध्यकाल के पहले नहीं तो उसके थोड़े समय बाद में अस्तित्व में आया और वह इतिहास-काव्य के पाठों तथा कृष्णोपाख्यान के नाटकीय प्रभाव के सम्मिलन से अग्रसर हुआ । नाटक के विकास में वैष्णव धर्म सहायक ही रहा । पतंजलि ने जिन नाट्य प्रयोगों का उल्लेख किया है वे विष्णु चरित से सम्बद्ध हैं ।

नाटक में शौरसेनी प्राकृततत्व विद्यमान होने का कारण कृष्णोपासना का महत्वपूर्ण लौकिक तत्व का होना है । अतएव नाटक के विकास में शूरसेन प्रदेश (मथुरा) में कृष्ण भक्ति का विशेष प्रभाव था । उसी के आधार पर कृष्ण के चरित्र का पश्चाद्वर्ती नाटककारों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा । उन्होंने अपने ग्रन्थों में कृष्णचरित को आधार बना कर कथानक का निर्माण किया ।

भास भी वैष्णव होने के कारण अन्य नाटककारों के सदृश कृष्ण की विस्तार से वन्दना करते हैं । अतएव उनके जीवन-परिचय एवं नाट्य शैली पर दृष्टिपात करते हुए

उनके कृष्णकथाश्रित नाटक "बालचरित" का मूल्यांकन करना अपेक्षित होगा जो कृष्णकथाश्रित नाटकों में आद्य नाटक प्रतीत होता है और भागवताश्रित है ।

भास का रचनाकाल और उनका भाषागत वैशिष्ट्य--

भारतीय कालानुक्रमणी में भास की तिथि निर्धारित करना एक कष्टप्रद प्रश्न है, क्योंकि तिथि-सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की इतनी विप्रतिपत्तियां हैं कि सर्वाधिक प्राचीन एवं नवीन तिथि में १५०० वर्ष का अन्तर है[१]। लेखक ने नाटकों में कहीं भी अपना परिचय नहीं दिया, जिससे इस शंका का निवारण होकर एक निश्चित तिथि का निर्धारण हो सके । नाटक तो इस विषय में सर्वथा मौन है । इसलिए लेखक की तिथि-निर्धारण में भिन्न-भिन्न विद्वानों की जटिल एवं दुरूह ग्रंथियों को सुलझाने में काफी समय लगा है फिर भी प्रस्तुत किये गये प्रमाण भी बुद्धि को सन्तुष्ट करने में सहायक सिद्ध नहीं हुए हैं । १९१२ ई० में जाकर गणपति शास्त्री ने १३ नाटकों को भासकृत घोषित किया है । उससे पहले योरोप में तो इनका अस्तित्व ही अज्ञात था । इन सब नाटकों को डा० बेलवेकर याकोबी, जाली भासरचित प्रमाणिक नाटक मानते हैं ।[२] जिनमें दो नाटक "प्रतिमा" तथा "अभिषेक" रामकथाश्रित, बालचरित भागवताश्रित, पंचरात्र, मध्यमव्यायोग, दूतघटोत्कच, कर्णभार, दूतवाक्य, ऊरुभंग महाभारताश्रित, दरिद्र चारुदत्त अविमारक लोककथात्मक, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्ता, उदयन कथाश्रित हैं । महाभारताश्रित रूपकों को एकांकी रूपक भी कहा जा सकता है, क्योंकि इनकी कथा अत्यन्त संक्षिप्त है । तदनन्तर भास के नाटकों की प्रामाणिकता किसी सीमा तक निश्चित हो जाने के पश्चात् भास की तिथि निर्धारण करना ही शेष रह जाता है । इस विषय में अन्य कवियों की रचनाएं भी देखना अपेक्षित है कि उन लोगों ने इनके विषय में कुछ लिखा है या नहीं ।

---

१. जर्नल आफ बिहार रायल एशियाटिक सोसाइटी २६, पृ० २३३ ।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास--बलदेव उपाध्याय, पृ० ५१५ ।

ऐसा करने पर सबसे पहले कालिदास के मालविकाग्निमित्र पर दृष्टि जाती है जो कि कालिदास की प्रथम कृति है। इसमें कालिदास के कला के क्षेत्र में अपने पूर्ववर्तियों के रूप में सौमिल्ल,कवि पुत्र आदि के साथ भास का उल्लेख किया है।[1] यह दोनों भास के पूर्ववर्ती ही दृष्टिगोचर होते हैं। तभी तो कालिदास द्वारा इनको नौसिखिए की संज्ञा दी गयी है। भास के विस्तृत यश-वितान की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

जहाँ तक कलात्मक क्षेत्र की परिधि है वहाँ तक इन लेखकों का प्रवेश कर जाना कालिदास के द्वारा असंदिग्ध प्रतीत होता है, यह कुशल नाटककार तो थे ही नहीं, इसका प्रमाण ~~कदम्बरि~~ बाण रचित,हर्षचरित[2] में सातवीं शताब्दी में कहा गया है कि अनेक भूमियों वाले और पताका युक्त अपने नाटकों से भास ने यश प्राप्त किया। इससे अन्य नाटककारों की अपेक्षा भास की कलात्मक सौन्दर्य सहित प्राथमिकता सिद्ध हो जाती है।

एक शताब्दी बाद वाक्पति ने गौडवहो में ज्वलन मित्र,भास रघुवंशकार हरिश्चन्द्र,सुबन्धु और राजशेखर में अपनी प्रीति प्रकट की है। राजशेखर ९०० ई० ने उन्हें प्रतिष्ठित कवियों में स्थान दिया है। इस प्रकार अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भास की तिथि निर्धारण करने के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। उपलब्ध नाटकों के समय में छठी शताब्दी ई०पू० से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी ई० पू० तक खींचा गया है। पिडे,दीक्षितार,गणपति शास्त्री,हरप्रसाद शास्त्री सुपेरकर,किरथ,टिटके छठी शताब्दी ई०पूर्व मानते हैं। जागीरदार कुलकर्णी, शेम्बनेकर तीसरी शताब्दी ई०पूर्व मानते हैं,चौधरी ध्रुव एवं जायसवाल दूसरी से प्रथम शताब्दी ई०पूर्व। कोनो,लिण्डेन्यू,प्रलय,रौली,वैगर--दूसरी शताब्दी,बनर्जी,शास्त्री

---

१. प्रथित यशसी भास सौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदास कृतौ बहुमानः।-- मालविकाग्निमित्र।

२. सूत्रधार कृत रम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देव कुलैरिव।।--हर्षचरित (बाण रचित)

३. गौडवहो,८००।

मंडारकर, याकोबी, ओली, कीथ तीसरी शताब्दी, लैस्नी, विंटरनित्स चौथी शताब्दी, शंकर पांचवी शताब्दी, मार्नेट, वैवर, हीरानन्द शास्त्री सातवीं शताब्दी। बने कानें और कुन्हन राजा नवीं शताब्दी, रामावतार शर्मा दसवीं शताब्दी, रैड्डी शास्त्री ग्यारहवीं शताब्दी मानते हैं।

इसमें से बार्नेट के मत का पूर्ण निराकरण इस बात से हो जाता है कि भास को केरल-कवि मानना वहां की मातृप्रधान संस्कृति होने के कारण असंगत है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में तो पितृप्रधान संस्कृति का वर्णन ही है। अतः ७वीं शताब्दी में भास को मानना तर्कहीन है। इस प्रकार से अन्य विद्वानों के विभिन्न मतों का निराकरण तभी संभव हो सकता है जब इनमें से किसी विद्वान के मत को प्रबल प्रमाणों द्वारा प्रत्यक्ष उपस्थित किया जाय, कौन-सा प्रमाण किसी सीमा तक संगत प्रतीत होता है उसी दृष्टि तक हमें दृष्टिपात करना चाहिए।

यह तो सर्वमान्य सिद्ध हो ही चुका है कि कालिदास भास की कीर्तिपताका से परिचित थे फिर भी विद्वानों ने अपनी-अपनी बुद्धि लगाकर उसे जटिल से जटिल बनाते ही गये। कालिदास का समय अगर ४०० ई० माने तो भास का समय ३५० ई० माना जा सकता है।

कालिदास के समय में तो ये लब्धप्रतिष्ठ थे ही, परन्तु अश्वघोष द्वारा किसी भी भास की चर्चा नहीं है। इस मत को मानने वाले डा० कीथ हैं एवं अश्वघोष से इनके पूर्ववर्ती होने के सम्बन्ध में प्रतिज्ञायौगन्धरायण में बुद्धचरित के एक पद्य की संभावित प्रति मानते हैं[१]। अश्वघोष तो दूसरी शताब्दी में हुए अतः भास दूसरी से चौथी शताब्दी तक रहे। कीथ भास को अश्वघोष के निकट ही मानते हैं। अतः भास का समय तीसरी शताब्दी माना है।

---

१. काष्ठं हि मथ्नन् लभते हुताशं, भूमिं खनन् विन्दति चापि तोयम्।
निबन्धिनः किंचन नास्त्यसाध्यं न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम् ॥

-- (१३।६० बुद्धचरित का श्लोक भास के १।१८ श्लोक से साम्य रखता है)

जे०एन० फारकुहर दूसरी शताब्दी ही भास का समय मानते हैं।[1] भास महाभारत या कृष्ण-सम्बन्धी कथानकों में अधिक अभिरुचि प्रकट करते हैं। आन्ध्र राजाओं के आश्रित रहने के कारण उनकी कृष्ण पर आस्था भास को भी प्रभावित कर गयी। आन्ध्र राजाओं का समय ई० की दूसरी शताब्दी में था। अतः भास का समय भी इधर ही होना चाहिए। यही मत तिथि निर्धारण में ठीक बैठता है।

पाणिनिगत नियमों का उल्लंघन करने के कारण ही भास पाणिनि से प्राचीन सिद्ध होते हैं या फिर पाणिनि की रचना ही प्रबलपुष्ट प्रमाण से युक्त नहीं थी। अतएव उनके नाटकों को देखने से इतना तो प्रतीत हो ही जाता है कि वह भरत के नाट्यशास्त्रगत नियमों का पालन न करने के कारण उनकी रचना-कला से भिन्न नाटकों की रचना करते हैं। बालचरित में रचनात्मक तत्त्वों का अभाव हमारे नाटक के उद्गम स्थान के रूप में कृष्ण कथा के प्रारम्भिक वृत्तान्त को सूचित करता है।

नाट्यालंकारों के रूप में नृत्य का प्रयोग (जो कालिदास में भी दृष्टिगोचर होता है) भास की रचनाओं में प्रायः किया गया है। "बालचरित" में हल्लीसक का प्रयोग है। इस हल्लीसक के प्रयोग के कारण ही डा० सरूप इस नाटक का स्रोत हरिवंश से मानते हैं एवं भास की तिथि का निर्धारण भी उसी आधार पर करते हैं पर आगे चल कर इस नाटक में हरिवंश से काफी भिन्नता होने के कारण ही भागवत से उद्गम स्थान मानते हैं। यही भास को प्राचीन बताने में सहायक हुआ क्योंकि यह पुराण हरिवंश की अपेक्षा तो प्राचीन है ही।

<u>भास की शैली एवं सौन्दर्य</u> -- भास में कालिदास के समान लालित्य तथा सौन्दर्य का अभाव उनकी पूर्वकालिता को सूचित करता है। पद्य का प्रयोग नाटकीय प्रगति में सहायक होने के कारण किया गया है। भावों की विस्तृत भंगिमा सरस शैली में प्रतिपादित है जो रसास्वादन कराने में सर्वसाधारण के लिए अगम्य नहीं है। यही

---

१. आउटलाइन आफ रिलीजस लिटरेचर आफ इण्डिया--जे०एन० फारकुहर, पृ० ९४।

भास का सबसे बड़ा नाटकीय गुण है । शब्दों का विस्तृत रूप से एकत्र ग्रन्थन विचार शृंखला के तोड़ने में ही सहायक है अतः यहां तक उनकी शैली अछूती ही रही है ।

अश्वघोष की रचनायें तो जटिल ही हैं ,इसने तो कालिदास को ही प्रभावित किया । प्राकृत शौरसेनी है । संस्कृत एवं प्राकृत या केवल संस्कृत के प्रयोगानुसार दो विष्कम्भकों और प्रवेशकों के रूप में प्रस्तावक दृश्यों का रूपात्मक भेद हमें भास के नाटकों में मिलता है ।

उपमा शैली में भी भास ने अपनी कला का सौन्दर्यतम रूप प्रस्तुत किया है । अन्धकार की उपमा का मनोहारी वर्णन निम्नलिखित श्लोक से दृष्टिगत होता है --

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ।।

-- बालचरित--१।१५

इसी तरह के सौन्दर्य का वर्णन चारुदत्त १।१९ में भी किया गया है ।

अब भास के कृष्णकथाश्रित नाटकों का व्याख्यान आवश्यक होगा कि उसमें कथावस्तु,पात्र एवं रस की उद्भावना किस प्रकार की गयी है,अतएव भासरचित बालचरित ही सबसे पहले दृष्टिगत होता है । भास के समस्त नाटकों की भांति इस नाटक में भी प्रस्तावना के स्थान पर आमुख है जबकि नाट्यशास्त्र में प्रस्तावना द्वारा नाटक तथा कवि का नाम होने का विधान है,किन्तु यह इस प्रचलित परिपाटी से भिन्न रूप में पूर्ववर्ती परम्परा का ही द्योतन करता है ।

इसी प्रकार नान्दी का अभाव भी इस परम्परा को प्रबल बनाने में प्रमाणभूत है । बालचरित में " ब्राह्मणवचनमनृतमपि सत्यं पश्यामि "[१] एवं मध्यम व्यायोग में भी पूज्यतमः खलु ब्राह्मणः" भास को ब्राह्मण सिद्ध करता है । इस प्रकार बालचरित के अन्य प्रसंगों को भी सम्यक् रूप से दृष्टिगत करना चाहिए जिससे नवीन तथ्यों का निःसृजन हो सके ।

---

१. बालचरित--पृ० २७ ।

भास के महाभारताश्रित ६ नाटकों में भी कृष्णचरित प्रसंगवश आ जाता है । पंचरात्र में वृद्धगोपालक और गोमित्रक नामक पात्रों का तथा गोप और गोपयुवतियों का वर्णन है । "दूतवाक्य" में दुर्योधन कृष्ण को गोपालक कहता है[1] । "दूतघटोत्कच" नाटक में कृष्ण का वर्णन अर्जुन के सारथि रूप में है[2] । "कर्णभार" में कृष्ण को अत्यन्त कपटबुद्धि और कूटनीतिज्ञ बताया गया है[3] । "ऊरुभंग" में सूत्रधार द्वारा भगवान् केशव की स्तुति है[4] । और कृष्ण के अवतारत्व और उनकी लीलाओं का वर्णन है[5] ।

परन्तु प्रधान कृष्णचरित बालचरित में ही है । इसीलिए उसका व्याख्यान पहले किया जाना आवश्यक है ।

----

१. भासनाटकचक्रम्--देवधर शास्त्री, पृ० ४५० (भो गोपालक, तृणान्तराभिभाष्यो भवान्) ।

२. वही, पृ० ४६०

३. वही, पृ० ४८५

४. वही, पृ० ४९०

५. वही, पृ० ४९४-४९८ ।

(क) -- प्रमुख संस्कृत नाटकों में कृष्णचरित

बालचरित

भास का बालचरित बहुत ही महत्वपूर्ण है जो कृष्ण के अद्भुत कार्यों का जीवन्त विशद चित्र प्रस्तुत करता है,जिसकी समाप्ति कंसवध में होती है । यह नाटक के विकास के विषय में पतंजलि के साक्ष्य के महत्व का ज्वलन्त उदाहरण है ।

बालचरित नाटक के सम्बन्ध में डॉ० केर का कथन है कि यह नाटक कृष्ण-आख्यान का प्रारम्भिक अनुवाद है,जिसमें रत्यात्मक भावनाओं को व्यापक रूप से व्यक्त नहीं किया गया है जैसा वर्णन परवर्ती काल के राधा और गोपियों के श्रृंगारिक वर्णन से प्राप्त होता है ।[1]

परवर्ती काल में श्रृंगार के बाहुल्य के कारण इस नाटक को कृष्णकथाश्रित नाटकों में पूर्ववर्ती ही माना जाता है । डॉ० स्टैनकोनो ने भी इस नाटक को पूर्ववर्ती ही माना है और इसकी रचना-तिथि भी बहुत पहले की रखी है ।[2]

" बालचरित" नाटक का तमिल महाकाव्य[3] " सिलापदीकरम्"[4] में भी संकेत किया गया है । प्रस्तुत नाटक पांच ही अंकों का है जिसमें पूतनाप्राणप्रच्यूषण से लेकर कंसवध तक की गयी किशोर दामोदर की लीलाएं निबद्ध हैं ।इस नाटक के पात्र इस प्रकार हैं--

पुरुष पात्र--नारद,वसुदेव,नन्दगोप (वसुदेव का मित्र गोकुलाध्यक्ष),उग्रसेन, दामोदर,संकर्षण,गरुड़,शंख,चक्र,शार्ङ्ग,नन्दक,राधा (मथुराधीश),चाणूर मुष्टिक (मल्लविशेष),कुण्डोदर,शूल,नील,मनोजव (कात्यायनी के सेवक),वृद्धगोपालक और दामक ।

स्त्रीपात्र --देवकी,प्रतिहारी,धात्री, सभी चाण्डाल युवतियां,कात्यायनीदेवी,सभी घोष सुन्दरियां आदि,राज्यश्री,प्रतिहारी (मधुकारिका,यशोधरा और कामंदिकी ।

---

१. ए स्टडी आफ वैष्णविज़्म इन ऐंश्यिएण्ट एण्ड मिडुअल बंगाल (औरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ द वरशिप आफ राधा) अपेन्डिक्स अ
--एस०डी० मुखर्जी,पृ० १८५ ।

२. इंडियन एण्टीक्वेरी,वैल्यूम ४६,पृ० २३४ ।

३. भास : ए स्टडी--ए०डी० पुसालकर(१९४०)पृ० ७३,८०,८८,१०५ ।

४. वही--पृ० ७३,८०।८८,१०५ ।

प्रस्तुत नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है --भावात्मक पात्रों का कार्य । पुण्य-पाप एवं शाप जैसी भावात्मक वस्तुएं भी यहां पात्र रूप में चित्रित हैं । इस दृष्टि से यह पुस्तक भास कवि की मौलिक सूझ की एकमात्र साक्षी है,जिसका पल्लवन आगे चल कर कृष्ण मिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय एवं पाश्चात्य लेखक मिल्टन के पैराडाइज़ लास्ट में पल्लवित हुआ ।

संस्कृत नाटकों में शाप का अनेकशः प्रयोग हुआ है । पौराणिक ग्रन्थ तो इसके आकर ही हैं परन्तु उसका अस्तित्व पुराणों की कथामात्र में रह गया । जन-साधारण के सम्मुख इसका अद्भुत रूप प्रस्फुटित न हो सका । इसका प्रधान कारण इन ग्रन्थों की श्रेष्ठता थी । परन्तु दृश्यकाव्य प्रधान नाटकों में यह अपने मूर्त रूप में प्रकट हुआ ।

भास के तेरह रूपकों में नाटक भेद से सम्बन्धित ६ रचनाएं हैं । प्रतिमा नाटक अभिषेक नाटक,अविमारक और बालचरित अतिमानवीय तत्व दृष्टि से स्पृहणीय है ।

बालचरित में भास ने शाप का मानवीकरण करके रंगमंच की दृष्टि से अद्भुत दृश्य उपस्थित किया है । मधुक ऋषि द्वारा शप्त वज्रबाहु नामक शाप कंस को धर्माचरण से च्युत करने के लिए अपने परिवार अलक्ष्मी, खलति,कालरात्रि,महानिद्रा और पिंगलाक्षी के साथ राजभवन में प्रवेश करता है । शाप के प्रवेश करते ही कंस की राजलक्ष्मी कंस को छोड़ कर विष्णु के पास चली जाती है । इसके पश्चात् शाप कंस को नष्ट करने के लिए उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाता है[१]। कंस अनेक दुःस्वप्नों को देखता है । फलतः कृष्ण के द्वारा कंस का वध होता है । इस प्रकार शाप के स्वरूप एवं प्रभाव का प्रत्यक्षीकरण रंगमंचीय व्यवस्था के अनुसार सारे दर्शकों को होता है । इसे भास्य की अपूर्व कल्पना का प्रतिफल कहा जा सकता है । अन्य नाटकों में इस प्रकार शाप का मूर्तीकरण नहीं प्राप्त होता है परंच वह अदृश्य रूप में चक्रवत् गतिमान रहता है ।

---

१. परिष्वजामि गाढं त्वां नित्याधर्मपरायणम् ।
प्राप्स्यसि मुनिशापस्त्वामचिरान्नाशमेष्यति ।।
-- बालचरित २।६

बालचरित की सारी अवान्तर घटनाएं एवं अधिकांश पात्र शाप से आक्रान्त हैं । बालचरित की वस्तुरचना संभवतः किसी पौराणिक कथा से सम्बद्ध है । "देवीभागवत" एवं श्रीमद्भागवतमहापुराण" के अनुसार वसुदेव-देवकी भी शापित थे । यह पूर्व जन्म में कश्यप एवं अदिति थे ।" देवीभागवतपुराण" के अनुसार कश्यप को कामधेनु के न लौटने पर वरुणदेव ने शाप दे दिया था कि सपरिवार मर्त्यलोक में जन्म लेकर गोपालन से जीवन-यापन करो । इसी अपराध से ब्रह्मा ने भी रुष्ट होकर आदर्श की रक्षा हेतु शाप दे दिया कि मर्त्यलोक में जाकर गोपालन करो । दिति ने भी अदिति को शाप दिया था कि तुम्हारे सात पुत्र उत्पन्न होकर मर जायेंगे । परिणामतः कश्यप सपरिवार मृत्युलोक में अवतरित हुए । अदिति का जन्म देवक के यहां एवं कश्यप अपने अंश से वसुदेव के रूप में उत्पन्न हुए ।

इस नाटक में गरुड़,शंख,आयुध,चक्र,गदा अमानवीय तत्व रंगमंच पर प्रकट होते हैं । इनको प्रदर्शित करने में भास की अपूर्व कला दृष्टिगत होती है । अमानवीय तत्वों का रंगमंच पर संयोजन मानवीय पात्र के रूप में करा कर उनको सजीव के सदृश ही प्रतीति कराते हैं ।

<u>कथानक --</u>

प्रथम अंक में सूत्रधार प्रवेश करता है । चारो युगों में नारायण,विष्णु,राम, कृष्ण के रूप में । विद्यमान देवताओं के अनुग्रह की प्रार्थना करता हुआ मंगलश्लोक पढ़ता है[१]। नारद के आगमन की घोषणा की जाती है और नारद के द्वारा वृष्णिकुल में नारायण का उत्पन्न होना ध्वनित होता है । नारद श्रीकृष्ण की अवतारलीला का वर्णन जैसे" माया से शिशु रूप प्राप्त करते हुए त्रिलोकेश्वर ही नारायण हैं,यह वर्णित करते हैं[२]।

---

१. शंखक्षीरवपुः पुरा कृतयुगे नाम्ना तु नारायणस्त्रेतायां
त्रिपदार्पितत्रिभुवनो विष्णुः सुवर्णप्रभः
दूर्वाश्यामनिभः स रावणवधे रामो युगे द्वापरे नित्यं
योऽञ्जनसन्निभः कलियुगे वः पातु दामोदरः ।-- बालचरित १।१ -- यहां युगों के साथ अवतारों की संगति ठीक नहीं बैठती क्योंकि यह पौराणिक साक्ष्यों के विरु[illegible]
है ।

२. मायया शिशुत्वमुपागतं त्रिलोकेश्वरं ।" अनन्तवीर्यः कमलायताक्षः सुरेन्द्रनाथो सुर[illegible] वीर्यहन्ता । त्रिलोककीर्तुर्जगतश्चकर्ता भर्ता जनानां पुरुषः पुराणः ।।
--बालचरित १।७ ।।

देवकी के कथन से भी श्रीकृष्ण का जन्म से ही महानुभावत्व सूचित होता है। महान होने के संकेत उनके जन्म के समय से ही प्रत्यक्षीभूत हो गये थे। वसुदेव के कथन में कृष्णावतार के समय कृष्ण को विष्णु रूप से कल्पना कृष्ण की दिव्यता का ही प्रतिपादन करना है[1]।

नारद के द्वारा प्रारम्भ में ही भावी घटना का फल एवं श्रीकृष्ण के अवतरण का अभिप्राय बताया गया है कि वह कंस के विनाश के लिए अवतरित हुए हैं।

नारद के विदा हो जाने पर वसुदेव-देवकी पुत्रजन्म पर प्रसन्न दिखायी देते हुए मंच पर दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु साथ ही साथ आतंकिता का ज्वारभाटा भी उनके हृदय में विराजमान है, क्योंकि कंस उनके ६ पुत्रों की हत्या कर चुका है और सातवें को भी मार डालने वाला है। यहां पर सातवीं सन्तान कृष्ण को ही माना गया है जबकि अन्य उपलब्ध स्त्रोत कृष्ण को देवकी की आठवीं सन्तान मानते हैं[2]।

कंस के भय से वसुदेव बालक कृष्ण को बाहर उठा कर ले जाते हैं और वह कंस की पहुंच से बाहर निकलने का निश्चय करके ही नगर की ओर प्रस्थान कर देते हैं। कृष्ण का वजन इतना भारी है जैसे मन्दिराचल का। कृष्ण लौकिक बालक तो हैं नहीं अत: तीनों लोकों को कुक्षि में स्थापित करने के कारण गुरुतर हो जाते हैं।

अन्धकार भी उस समय इतना गहन है कि कुछ भी दृष्टिपथ में नहीं आता। उसी समय बालक से उद्भूत ज्योति प्रकट होती है और यमुना उनके पार ले जाने के लिए खुला रास्ता बना देती है। जिस वृक्ष के नीचे विश्राम करते हैं उसका देवता नन्दगोप को उनके पास लाता है। वे अपनी पत्नी यशोदा से सद्य: प्रसूत

---

१. भ्रमति नमसि विद्युज्वण्डवातानुविद्धैर्जलदनिनादैर्मेदिनी सप्रकम्पा
इह तु जगति नूनं रक्षणार्थं प्रजानामसुरमितिहन्ता विष्णुरवाकीर्णः।
-- बालचरित १।६

२. भागवतपुराण, विष्णुपुराण आदि में कृष्ण को ८वीं सन्तान ही माना गया है।

मृतदारिका लिये हुए है । मूर्च्छित यशोदा यह नहीं जानती हैं कि शिशु लड़का है या लड़की ।

नन्द अनिच्छा करके भी पूर्वकृत उपकारों का स्मरण करके सहायता करते हैं । मृतदारिका के सम्पर्क के कारण वे पहले अपने को शुद्ध करना चाहते हैं । जल का एक सोता निकल पड़ता है और परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । वे बालक को ले लेते हैं लेकिन उसका वजन गुरुतर सिद्ध होता है । नन्दगोप मन्दरसदृश बालक को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते ।

यहाँ बालक कृष्ण माया से अपने स्वरूप का प्रदर्शन कर रहे हैं । नन्दगोप अपने बल को बताते हैं परन्तु उस बालक को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं । इसके बाद अमानवीय तत्व प्रकट हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप बालकृष्ण अपना अलौकिक दैवी रूप उपस्थित करते हैं । गोपालों के वेश में कृष्ण के आयुध और वाहन प्रकट हो जाते हैं जो में पहले गरुड़,चक्र,धनुष,गदा एवं शंख हूं--ऐसा उपस्थित करते हैं । चक्र की प्रशंसा पर बालक अगुरु हो जाने को सहमत होता है और उसे नन्द लेकर चले जाते हैं ।

प्रथम अंक की समाप्ति से ही पहले वसुदेव देखते हैं कि मृत बच्ची उनकी गोद में जीवित हो गयी है और उसका भार पीड़ाप्रद है ,क्योंकि वह भी कृष्ण की ही माया का अंश है । यमुना फिर एक बार सूखा मार्ग दे देती है और वह देवकी के पास मथुरा लौट आते हैं ।

ग्यारहवें श्लोक में जब चन्द्रमा को राहु के मुख में दिखाया गया है तो यह प्रतीकात्मक अर्थ निकलता है कि कंस की मृत्यु होगी ।

१, प्रस्तुत घटना नाटककार भास की कल्पना पर आधारित है । अन्य ~~किसके~~ किसी भी पुराण में ऐसी चर्चा नहीं है । वसुदेव और नन्दगोप में युगल मित्रों का सम्बन्ध न होकर स्वामी और सेवक का सम्बन्ध प्रदर्शित है । नन्द अपने निवास-स्थान से मृतदारिका लिये हुए रात में बाहर निकलते हैं,रास्ते में वह अचानक वसुदेव से मिल जाते हैं । इस बात का साक्ष्य कोई पुराण एवं अभिलेख नहीं है ।

द्वितीय अंक कंस के प्रासाद में अर्थोपक्षेपक से प्रारम्भ होता है । मधुक ऋषि द्वारा उसे दिया गया शाप मुण्डमाल पहने, बीभत्स रूप में, चाण्डाल वेश में आता है । वह और अनुवर्ती चाण्डाल युवतियां प्रासाद के भीतरी भाग में बलात् प्रवेश करती हैं । राज्यश्री उनका मार्ग निरोध करती है किन्तु शाप बतलाता है कि यह विष्णु की आज्ञा है कि वह प्रवेश करे । राज्यश्री मान जाती है । शाप कंस को ग्रस लेता है ।

तदनन्तर इस अंक में रात के अपशकुनों के कारण अशान्त खिन्न कंस आता है । वह अपने ज्योतिषी और पुरोहित बुलवाता है । वे उसे चेतावनी देते हैं कि ये अपशकुन किसी देवता के जन्म के सूचक हैं । कंस वसुदेव को बुलवा लेता है । उसे पुत्री के जन्म की बात बतायी जाती है । वह बालिका को छोड़ने से इन्कार करता है और उसे चट्टान पर पटक देता है । उसके निर्जीव शरीर का एक ही अंश पृथ्वी पर गिरता है, शेष भाग स्वर्ग की ओर चला जाता है ।

राजा के समक्ष कात्यायनी की भयानक मूर्ति प्रकट होती है । उसका परिवार भी आता है । प्रत्येक व्यक्ति एक-एक श्लोक से अपने आगमन का आख्यापन करता है । वे सब अपने कंस विनाश के संकल्प की घोषणा करते हैं । इस बीच में वे गोपलीला में भाग लेने के लिए गोपालक वेश में बालक के गांव जाने की भी बात कहते हैं ।

जब से दामोदर गोपालों के साथ रहने के लिए आये तब से उन्हें जो हर्ष मिला उसकी सूचना तीसरे अंक का प्रवेशक हमें देता है । एक वृद्ध लम्बे प्राकृत भाषण में उनके अद्भुत कार्यों का वर्णन करता है जिसमें पूतना, शकट, यमलार्जुन, प्रलम्ब, धेनुक, केशी दानवों का संहार सम्मिलित है । इस नाटक में भास ने यमलार्जुन को भी दानव बताया है जबकि वह नलकूबर कुबेर के पुत्र थे और दुर्वासा द्वारा शापित थे ।

तत्पश्चात् बतलाया गया है कि कृष्ण हल्लीसक नृत्य के लिए वृन्दावन गये हुए हैं[1] । दामोदर उनके सखाओं एवं गोपकन्याओं द्वारा वाद्य एवं गीत के साथ नृत्य किया

---

१ 'हल्लीसक' शब्द महाभारत के खिल भाग 'हरिवंशपुराण' में भी आया है । भास ने यहीं से यह शब्द इस नाटक में ग्रहीत किया है । प्रो० देवधर के अनुसार यह नृत्य सचमुच ग्रामीण एवं जीवन्त चित्र प्रस्तुत करता है । डॉ० जे०एन० फार्कुहर भास के नाटक बालचरित में 'हल्लीसक' की उपस्थिति की सूचना देते हैं-- द ड्रैमेटिस्ट भास, टु डेटस फ्राम द थर्ड सेन्चुरी ए०डी० लेफ्ट ए प्ले काल्ड 'बालचरित' गिविंग द स्टोरी आफ कृष्णाज यूथ । इन इट द हल्लीस स्पोर्ट इज मेयरली एन इन्नोसेन्ट डान्स ।
--आउटलाइन आफ रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया, पृ० १४४ ।

जाता है। इसी समय अरिष्टर्षभ का प्रवेश होता है। दामोदर गोपकन्याओं और गोपालों को पर्वत शिखर पर चढ़ जाने तथा युद्ध देखने का आदेश देते हैं। युद्ध बेजोड़ सिद्ध होता है। अरिष्टर्षभ दानव अपने शत्रु के प्राबल्य को मान लेता है। वह जान लेता है कि वह स्वयं विष्णु हैं।

यहां पर कृष्ण को विष्णु ही कहा गया है[1]। वृषभ उन्हें विष्णु समझ कर समर्पणपूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर लेता है। इस विजय के निष्पन्न होते ही कालिय नाग यमुना तट पर प्रकट हुआ।

चौथे अंक के दृश्य में गोपकन्याएं कृष्ण को इस नये संघर्ष से रोकने का प्रयत्न करती हैं किन्तु वह साग्रह प्रवृत्त होते हैं। यमुना-ह्रद में कूद कर दानव को पराभूत करते हैं। वे उसे बाहर लाते हैं तो पता चलता है कि गरुड़ के भय से जो कि स्वेच्छानुसार सर्पों को मार डालता है, वह कालिय जल में प्रविष्ट हुआ था। वे कालिय से गायों और ब्राह्मणों को बचाने का वचन लेते हैं और उस पर एक चिह्न लगा देते हैं जिसका गरुड़ आदर करें। तत्पश्चात् एक भट आकर मथुरा के महोत्सव में चलने के लिए दामोदर और उनके भाई बलराम को बुलाता है।

पांचवां अंक कंस की कुमारों के घात के लिए कपटोपाय करता हुआ प्रदर्शित करता है। एक भट दामोदर के आगमन की सूचना देता है और उनके शक्तियुक्त महान् अद्भुत कार्यों का विवरण प्रस्तुत करता है। उन पर छोड़े गये हाथी की विडम्बना, कुब्जा का अनुकरण, रजक के धनुष का भंजन। राजा तत्काल मुष्टियुद्ध प्रारंभ करने की आज्ञा देता है पर राजा के चुने हुए प्रयोक्ताओं को कृष्ण सरलता से पराभूत कर देते हैं। आकस्मिक आक्रमण द्वारा राजा कंस को यमलोक भेजकर विजय-पूर्ण करते हैं। उसके सैनिक उनसे प्रतिशोध लेते किन्तु वसुदेव कृष्ण के विष्णुरूपत्व का आस्थापन करते हैं। उग्रसेन को कारागार से मुक्त कर नियुक्त करते हैं। कृष्ण की स्तुति के लिए नारद अप्सराओं और गंधर्वों की अनुमति देते हैं। कृष्ण नारद को देवलोक वापस जाने की साग्रह अनुमति देते हैं।

---

१. यहां पर भाव बालाओं को अरिष्ट और कृष्ण का प्राणान्तक युद्ध दूर से दिखाते हैं। इससे यह आभास होता है कि वह कहीं नाट्यशास्त्र से प्रभावित थे।

कथा-स्रोत --

इस नाटक का निश्चित स्रोत अभीतक अज्ञात है । इसको भागवताश्रित नाटक कहा जा सकता है,परन्तु अपने वर्णन-विस्तार में यह नाटक हरिवंश,विष्णु तथा भागवत पुराणों की कृष्णकथाओं से बहुत भिन्न है[१]। परन्तु इन ग्रन्थों में से कोई भी भास-नाटक से कदाचित् प्राचीनतर नहीं है। हरिवंश एवं विष्णुपुराण की भांति यहां पर शृंगार का अभाव है जिसका परवर्ती परम्परा में कृष्ण के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। इसी प्रकार राधा का भी चित्रण नहीं पाया जाता । बालचरित में नाटक के पात्रों के रूप में राज्यश्री,शाप की आकृतियों की भी उद्भावना की है। स्पष्ट है कि अमूर्त पदार्थों में मानवीकरण और बौद्ध नाटकों के रूपकमय पात्रों में निश्चय ही कुछ समरूपता है ।

व्याख्या--

यहां पर एकमात्र विशिष्ट नाटकीय संयोजन के उस अंश की व्याख्या की जा रही है जो स्वाभाविक रूप से सर्वोत्कृष्ट वीररस के रूप में अभिज्ञात है,जो नायक की उत्तेजना को प्रदर्शित कर निडर होकर यह वर्णित करता है कि मृत्यु एवं घातक भयानक दृश्य नाट्यशास्त्र में मंच पर अभिनीत होने के लिए विरोधी तत्त्व होने पर भी विश्वसनीय उत्कृष्ट नाटक में गृहीत हो सकते हैं। यह नाटक इसका प्रमाण है।

मंच पर मृत्यु एवं जीवन्त प्राणियों की हत्या कर उनकी प्रतिष्ठापना करना जो कि मूलरूप से ही अतिनियमनिष्ठ निषेध है,परन्तु क्योंकि इस नाटक के लिखने की मूल भावना न केवल आनन्दकारी है अपितु न्याय,मानवीय नैतिकता की भावना के लिए है। अतः मूल भावना से युक्त है । अतः नाटक नाटकीय तत्त्वों का मापन न कर पाने में असमर्थ होकर संकुचित नहीं होता है। समस्त बुरी चीजों का विनाश ही न्याय है --इस सतह पर न्याय का नैतिक आदर्श ही उचित है। इस भावना का संदेश लेकर यह नाटक अपनी कसौटी पर खरा उतरता है।

---

१. इंडियन ऐन्टीक्वेरी (४६) पृ० २३४ --प्रो० स्टैनकोनो ।

इस नाटक के लिखने का मूल उद्देश्य यह है कि इस असमाप्त संघर्ष का जीवंत चित्र प्रस्तुत करना जो कि न्याय और अन्याय की विविध धाराओं में विभक्त है। अच्छाई और बुराई जिसमें यह अभूतपूर्व घटना गुम्फित है उसको प्रदर्शित कर विजय की प्रतिष्ठापना कराना ही इसका मूल उद्देश्य है।

जब यह विचारधारा न्याय की कसौटी पर कसी जाती है तो बुरे तत्वों का विनाश पापकर्म नहीं है परन्तु देदीप्यमान उज्ज्वल गुणकारी कर्म ही न्यायसंगत है--यह उद्भावना प्रकाशित होती है। मुख्य रूप से जब कृष्ण विष्णु के अवतार होकर राक्षसों को मारते हैं तो इसका अर्थ यह है कि अन्याय की कालिमा में जकड़े मानव को परेशानियों से मुक्त कराकर उनको न्यायरूपी आत्मिक लाभ प्राप्त कराने वाले पथ पर ले जाना ही उनका मूल उद्देश्य प्रतीत होता है।

बालचरित नाटक का दार्शनिक नाटक से कोई मतलब नहीं है परन्तु इसकी मूलभूतधारणा विशिष्ट दैवीशक्तिसम्पन्न बालकृष्ण के कृत्यों को उद्भावित करना था। यह नाटक श्रीकृष्ण के जीवन्त और साहसिक कृत्यों से परिपूर्ण है और नायक की भावना तरुण कृष्ण के विस्मयकारी महाकार्य को व्यक्त करती है।

यह नाटक प्रारम्भ से ही जीवन्तप्रिय हिन्दुओं के प्रिय नायकत्व की पदवी को अधिष्ठित करने वाले श्रीकृष्ण के साहसिक कृत्य महाशत्रु कंसमरण को प्रदर्शित कर रहस्यवाद एवं यथार्थवाद को छू जाता है। यद्यपि भगवान की कथा बालरूप में नाटकीय रूप से यहां प्रदर्शित की गयी है। स्वाभाविक रूप से पौराणिक मूल ही इसमें निहित है।

यह नाटक यथार्थ रूप से अभिनीत किया गया है एवं जीवन्त कथा को चित्रित करता है। प्रत्येक स्थान पर भास ने महान् आदर्शों की शान को मनोरम रूप में चित्रित किया है जो कि मानव के मस्तिष्क में जाकर सराहनीय बन जाता है।[१]

---

१. क्रिटिकल स्टडी--गणपति शास्त्री, पृ० २७।

नाटकीय सौन्दर्य--

बालचरित की कथावस्तु प्रख्यात है एवं नायक धीरोदात्त है। यद्यपि इसमें स्त्रीपात्र भी हैं परन्तु कोई नायिका नहीं है और न श्रृंगार रस ही है। इस नाटक में श्रीकृष्णकथा तो सहायक घटना है मुख्य कथा तो बालकृष्ण के साहसिक कृत्यों की ही है। वीररस-प्रधान है विभिन्न स्थानों पर अवश्य पाया जाता है। श्रृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों की छटा दिखायी पड़ती है। देवकी में करुण रस, कंस के भयानक स्वप्न में रौद्र एवं भयानक रस, जीर्ण गायों के झुण्ड में हास्य रस एवं नारायण, विष्णु के प्रति श्रद्धा होने के कारण उसमें शान्त रस है।

इस नाटक में इन्द्रमह, धनुर्मह उत्सवों का भी प्रसंग आया है। नायक दामोदर एवं संकर्षण पाँचों पाण्डवों में से अभिमन्यु का ही स्मरण करते हैं।

बालचरित में भास की भाव-साम्यता कुछ श्लोकों में कालिदास के नाटक "अभिज्ञानशाकुन्तल" की छाया से भी प्रभावित प्रतीत होती है। इसी नाटक के प्रथम अंक के तेरहवें श्लोक में दोनों के भावों की समता में एकरूपता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास ने इसी से प्रभावित होकर वैसे ही भावयुक्त श्लोक की रचना अपने नाटक में कर दी।[1]

इसी प्रकार इस नाटक के द्वितीय अंक में तेरहवें श्लोक से मुद्राराक्षस का स्रोत माना जा सकता है।[2]

इस प्रकार अपने समस्त कलात्मक सौन्दर्य के साथ कृष्णकथाश्रित बालचरित लोकप्रिय हो गया। यद्यपि इसकी कुछ घटनाएं तो आश्चर्यचकित कर देती हैं परन्तु भास ने उनको रसास्वादन करने वाले सामाजिकों की बुद्धि पर छोड़ दिया है--वह चाहे किसी भी तरह की परिकल्पना करें।

१. हृदयेनेह तन्मार्गे द्विधाभूतेव गच्छति।
यथा नभसि तोये च चन्द्रलेखा द्विधा कृता॥
— बालचरितं १/१३

'गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥
— अभिज्ञानशाकुन्तलं, १/३४

२. स्मरतापि भयं राजा भयं नस्मरतापि वा
उभाभ्यामपि गन्तव्यो भयादप्यभयादपि॥
— बालचरितं, २/१३

प्रद्युम्नाभ्युदय (रविवर्माविरचित)

रविवर्मा के " प्रद्युम्नाभ्युदय " नाटक पर दृष्टिपात करने के पश्चात् उसके रचयिता का जीवन-परिचय ज्ञात करने की उत्कण्ठा जागृत होती है, क्योंकि यह नाटक श्रेष्ठता में अग्रगण्य है । इस नाटक को हर्षविरचित नागानन्द एवं अन्य समकालीन नाटकों की समकोटि में अधिष्ठित करने में हम किंचित् मात्रा में भी अपकर्ष की भावना से ग्रसित नहीं होते । यह नाटक श्रेष्ठ नाटकों में परिगणित होने की योग्यता का अधिकारी होने पर भी अपनी जन्मस्थली केरल में भी जब अज्ञात दिखायी देता है तब कभी-कभी इसकी श्रेष्ठता के सम्बन्ध में सन्देह होना भी स्वाभाविक प्रतीत होता है । परन्तु जब हम बहुत से दुष्प्राप्य और तपतीसंवरणतुल्य काव्यात्मकमणि के अपने ही जन्मप्रदेश केरल के भूगर्भ में ही गुप्त देखते हैं तब उसी केरल प्रदेश की भूमि में अंकुरित होने वाला नाटक होने के कारण इसकी प्रसिद्धि के सम्बन्ध में भी विस्मय की गुंजाइश नहीं रहती ।

ऐसा प्रतीत होता है कि केरल प्रदेशीय लोगों ने अन्धकारावेष्टित काव्यग्रंथों और नाटकों का अन्वेषण करने का विचार ही नहीं किया । हो सकता है कि उनकी बुद्धि सरस काव्यात्मक ग्रंथों के अनुशीलन करने में प्रवृत्त ही न हुई हो ।

भास के नाटकों को केरल प्रदेशीय सिद्ध करने वाले विद्वान् भी कोई पुष्ट प्रमाण देने में समर्थ न हो सके । चाहे कुछ भी हो, परन्तु विदेशों में इस नाटक की प्रसिद्धि के कारण हम तुष्टि का अनुभव करते हैं और इसकी श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं जिसने काव्य-मर्मज्ञ विदेशीजनों को आकृष्ट किया ।

रविवर्मा के सम्बन्ध में उनका उपनाम संग्रामधीर चोल और पाण्ड्यदेश को पराजित करने वाले कोलम्बपुर के राजा के रूप में उद्घोषित करता है । इससे इनकी वीरता प्रकट होती है । नाटक में रविवर्मा चन्द्रवंश के वंशज और यदुपरिवार के जयसिंह रूप से ही वर्णित किये गये । रविवर्मा संगीत और काव्य की उचित निबन्धना में पटु हैं तभी तो " प्रद्युम्नाभ्युदय " नाटक में प्रभावती को संगीत शिक्षा दिलवाने के प्रसंग में इसकी अभिव्यक्ति होती है ।

पद्मनाभ के अनुयायी होने का संकेत भी उस स्थल पर मिल जाता है जब रवि-वर्मा यह आकांक्षा करते हैं कि नाटक यात्रोत्सव अधिनियम से संयुक्त होकर यादव देवता रूप से पद्मनाभ को ही वर्णित करे ।

समुद्रबन्ध नाम के विद्वान् ने "अलंकारसर्वस्व" की व्याख्या की है । इस ग्रन्थ में समुद्रबन्ध कहते हैं कि "संग्रामधीर इस दूसरे पर्यायवाची नाम से कोलम्बपति रविवर्मा के समासदों की अभ्यर्थना के फलस्वरूप" अलंकारसर्वस्व" अर्थ की व्याख्या की गयी है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी प्रसिद्धि कवियों के यशोगान का विषय थी । रविवर्मा "कूपकभूपति" के रूप में -- वसुन्धरेव मह्यं ववः प्रसन्नं वव इव कूपकभूपते-- इस वाक्य से प्रस्तुत किये गये । कूपकभूपति" यह उपाधि" शुकसन्देश" के श्लोकों में कवि के सम्बन्ध में ही कही गयी है[1]। इसमें यह दर्शनीय है कि कोलम्ब कूपनरेश की राजधानी है और यह आधुनिक कोलम या क्विलन से भिन्न नहीं है । इसको स्पष्ट रूप से त्रिवेन्द्रम के उत्तर और बल्लम या त्रिवला के दक्षिण में स्थित हुआ वर्णित किया गया है । इस संदर्भ में तीन अभिलेख भी प्राप्त होते हैं जो" एपीग्राफिका-इण्डिका" में प्रोफेसर कीलहॉर्न[2] और हल्श[3] विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत किये गये ।

पहला अभिलेख कांजीवरम् में वरदराजपेरुमल के वैष्णव मन्दिर की भित्ति पर अंकित है जिसमें केरल राजा के पैतृक परिवार और वीरतापूर्ण प्रयत्नों का और पांड्य पर विजय, संग्रामधीर उपाधि की प्राप्ति और कांजीवरम् में राज्याभिषेक का वर्णन किया गया है परन्तु प्रद्युम्नाभ्युदय के रचयिता होने के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है[4]।

---

1. शुकसन्देश (५४,५६,५७,५८)--दि जर्नल इन जे०आर०ए०एस० आफ ग्रेटब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, वैल्यूम १६ पार्ट ४ ।
2. एपीग्राफिका इण्डिका--वैल्यूम ४ पृ० १४५
3. वही --वैल्यूम ८ पृ० ८-६ ।
4. स्वस्ति श्री जयसिंह इत्यभिहितः सौभाग्यकोशाकौ, राजासीदिह केरलेषु विषये नाथो यदुक्ष्माभृताम् । जातोऽस्माद्रविवर्मभूपतिरुमादेव्यां कुमारः शिवाद, देहव्याप्य (११८८) शकाब्दभाजि समये वैशीव वीरो रणः । दायं नीत्वा सोऽयं कलिकलभिवाराति-निवहान्, जयलक्ष्मीं कृत्वा निजसहचरीं पाण्ड्यतनयाम् । नयविक्रान्तवर्णों यश इव ययौ केरलपदं, ररक्ष स्वं राष्ट्रं नगरमिव कोलम्बमधिपः ।। जित्वा संग्रामधीरो नृपतिरधिरणं वीरपाण्ड्यं, कृत्वासौ पाण्ड्यपालान् नय इव तनुमान् केरलम्यड्प्यधीनान् । षड्चत्वारिंशदब्दस्तटभुवि मुकुटं धारयन् वेगवत्याः, क्रीडां सिंहासनस्थाश्चिरमकृत महीकीर्तिवाणीरमाभिः ।। कृत्वा चेरचोलपाण्ड्यविजयं कल्पाभिषेकोत्सवः, संग्रामापजयेन कोंकणगतं तं वीरपाण्ड्यं रिपुम । नीत्वा स्फीत बलम् ततो पि विपिन नीत्वा दिशामुत्तरां, काञ्च्यामत्र चतुर्थमब्द (?)मलिकत संग्रामधीरो नृपः ।।आभेरीरा मर्यादा पूर्वादा च पश्चिमाब्धकाद् । यदुकुल शेखर एष धाणिनीं कुलशेखरः स्वयं भुङ्क्ते ।। स्वस्तिश्री चन्द्रकुलमंगलप्रदीप--यादवनारायण केरलदेशपुण्यपरिणाम-नामान्तरकर्ण-कूपकसार्वभौम कुलशिखरिप्रतिष्ठापितगरुडध्वज--
..... (शेष अगले पृष्ठ के फुटनोट में देखिए)--

केरल के राणा रविवर्मा का काल हम शक ११८८ ही मान सकते हैं और जिनकी जन्मस्थली केरल पूर्वसिद्ध ही है । इस कवि के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि यह ट्रावनकोर का उस समय का वर्तमान महाराजा अपने पूर्वजों का रमणीय रूप प्रस्तुत करता है ।

भोज के आदर्श के उन्नायक रविवर्मा को "दक्षिण भोज" भी कहा जाता है ।

प्रद्युम्नाभ्युदय नाटक का कथानक --

इस नाटक में प्रस्तावना के बाद नारद और कृष्ण सपरिवार प्रवेश करते हैं । नारद कृष्ण के गुणों की प्रशंसा करते हैं और उन्हें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र से भी गुणातिशायी बताते हैं ।

द्वारका आकर नारद कृष्ण से वज्रनाभ असुर के बारे में कहते हैं जो ब्रह्मा से वर प्राप्त करके सबके लिए दुष्प्रवेश वज्रपुर में रह कर तीनों लोकों के प्राणियों को कष्ट पहुँचा रहा है । कृष्ण भी उस असुर के दुष्कर्मों के बारे में सुन चुके हैं और कहते हैं कि उसने तो अमरावती जाकर इन्द्र से भी अहंकारपूर्ण ढंग से यही कहा-- "मुझे जगत का ऐश्वर्य प्रदान करो नहीं तो युद्ध के लिए तैयार हो जाओ ।"

देव-दानवों के उभयनिष्ठ पूर्वज कश्यप यज्ञ कर रहे थे । कश्यप की इच्छानुसार उनकी यज्ञ की समाप्ति तक यह विवाद टला है । इसके बाद नारद कृष्ण के पृथ्वीतल के अवतरण का कारण बताकर उन्हें अवतरित होने के लिए कहते हैं । दानवों के उत्पात समाप्त करने के अभिप्राय से ही श्रीकृष्ण भूतल पर अवतरित हुए हैं परन्तु कृष्ण के कथनानुसार यह काम उनके पुत्र प्रद्युम्न करेंगे ।[1]

--कोलम्बपुरवराधीश्वर श्रीपद्मनाभपदकमलपरमाराधक प्रभतराजप्रतिष्ठाचार्यविगतराज-वन्दीकरि--धर्मतरु--मूलकन्द संगुणालंकार--कुक्षपिटकलावल्लभदक्षिणभोजराज संग्रामधीर--महाराजाधिराज-परमेश्वर जयसिंह-देवनन्दनमहाराज श्रीकुलशेखर--त्रिभुवन चक्रवर्ती ।।

१. प्रद्युम्नाभ्युदय-- १।१७

नारद कृष्ण से यह भी बताते हैं कि प्रद्युम्न के वज्रनाभ का वध करने पर मिलने वाली सिद्धि के साथ ही साथ वज्रनाभ की कन्या प्रभावती से विवाह करके पत्नीरूप फल की भी प्राप्ति होगी ।

यह सुन कर कृष्ण दुष्प्रवेश वज्रपुर में प्रवेश करने का उपाय सोचते हैं । तभी भद्र नामक नट का उन्हें स्मरण हो आता है कि वही सर्वत्र प्रवेश कर सकता है । प्रद्युम्न गद और साम्ब को वज्रनाभ के वध का आदेश देते हैं । हंस नामक चारण वज्रनाभ से भद्रनट के असाधारण विद्या वैभव की प्रशंसा करता है तब वज्रनाभ उससे मिलने को उत्सुक हो जाता है । भद्रनट पहले शासानगर में रामायण विषयक नाटक का अभिनय करता है । उसकी प्रशंसा निवासियों के द्वारा वज्रनाभ तक पहुंचने पर वह वज्रपुर में सादर रखा जाता है एवं प्रभावती को संगीत सिखाने के लिए भी उसकी नियुक्ति हो जाती है ।

भद्रनट प्रद्युम्न का चित्र बनाकर कलहंसिका सखी के माध्यम से प्रभावती को दिखवाता है और प्रभावती उसके चित्र से आकर्षित हो जाती है । वह पूछती हैं कि यह चित्र किसका है ? समासोक्ति द्वारा भावी प्रणयात्मक कार्यक्रम की अभिव्यक्ति होती है[१] ।

वसन्तोत्सव मनाने के लिए नाट्याभिनय का आयोजन भद्रनट द्वारा करवाने के लिए वज्रनाभ आदेश देता है । भद्रनट के द्वारा "रम्भाभिसरण" नामक प्रेक्षणक का अभिनय प्रारम्भ किया जाता है[२] । इस प्रेक्षणक में नायक था प्रद्युम्न,नायिका थी मनोवती एवं विदूषक था भद्रनट । इस नाटक को देखने से प्रभावती के चित्त पर इतनी गहरी छाप पड़ती है कि उसे भी भावी कार्यक्रम का बोध हो जाता है कि मैं भी अभिसार करके प्रद्युम्न को प्राप्त करूं । उसके बाद भद्रनट प्रद्युम्न और प्रभावती का गान्धर्व विवाह करा देता है । वज्रनाभ तो वर्षाकाल के व्यतीत हो जाने पर अमरावती पर आक्रमण करने के लिए समुद्यत ही था । यही समय था जब कृष्ण के निर्देशानुसार प्रद्युम्न को वज्रनाभ का वध करना था ।

---

१. प्रद्युम्नाभ्युदय--२।१५
२ वही , ३।८

वज्रनाभ को मारने के उद्देश्य से पहले से छिपे हुए प्रद्युम्न प्रकट हो जाते हैं। यह समाचार कृष्ण के समीप भी पहुंच जाता है। इधर प्रद्युम्न को दण्ड देने के लिए वज्रनाभ ने अपनी सेना को आदेश दे दिया। प्रद्युम्न खड्ग हाथ में लेकर सेना में कूद पड़ते हैं और उसे छिन्न-भिन्न कर देते हैं।

कुमार प्रद्युम्न को पैदल देख कर कृष्ण ने शेषनाग को सारथि बना कर मनोरथगामी रथ प्रद्युम्न के लिए प्रस्तुत कर दिया। ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त गदा का प्रयोग वज्रनाभ द्वारा किये जाने पर प्रद्युम्न मूर्च्छित हो जाते हैं। मूर्च्छा हटने के बाद प्रद्युम्न सुदर्शन चक्र का स्मरण करते हैं जिससे वज्रनाभ धराशायी हो जाता है। सुनाभ भी मारा जाता है।

इसके बाद नारद देखते हैं कि विजयी लोगों का अभिनन्दन करने के लिए देव पुष्पवृष्टि कर रहे हैं।

इस नाटक में प्रद्युम्न और वज्रनाभ का युद्ध रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किया गया है। नारद वटु के समक्ष चरितार्थ हुए के समान ही इस युद्ध का वर्णन करते हैं।

समीक्षा--

इस नाटक का कथानक 'हरिवंशपुराण' से लिया गया है। कथा को रोचक एवं नाट्योचित बनाने के लिए कवि ने यथोपेक्षित परिवर्तन किये हैं। हरिवंश में हंस पक्षी है किन्तु नाटक में वह चारण का नाम है। 'रम्भाभिसरण' नाटक हरिवंश-पुराण में भी प्राप्त होता है। वहीं से इसका मूल ग्रहण करके अपने नाटक में कवि ने प्रेक्षणक रूप में रख दिया है।

शृंगारात्मक वातावरण तो 'अभिज्ञानशाकुन्तल पर' आधारित है। इससे ऐसा भी प्रतीत होता है कि रविवर्मा पर कालिदास की छाप भी पड़ी है।

इसमें प्रधान रस शृंगार ही है। नायिका प्रभावती गुणश्रवण और चित्र-प्रदर्शन से ही प्रद्युम्न पर अनुरक्त हो जाती है और इसी प्रकार नायक प्रद्युम्न की भी आसक्ति होती है। दोनों के मिलन का प्रथम अवसर चौथे अंक में प्रमदवन में ही निकाला गया है। उद्दीपन सामग्री के प्रस्तुत करने में चन्द्रोदय ही सहायक होता है[१]। यहाँ चन्द्रोदय काल

---

१. प्रद्युम्नाभ्युदय--४।१८।

नायक-नायिका का मिलन होता है। चित्र का प्रकरण नाटक में नवीन है।

नाटक में अंक के बीच में एकोक्ति द्वारा विष्कम्भकोचित सामग्री रखने का विधान उसी काल में वर्तमान वत्सराज का ही प्रभाव दृष्टिगत होता है।

इस नाटक में नाट्यशास्त्रीय नियम का भी उल्लंघन मिलता है क्योंकि तृतीय अंक में रंगमंच पर नायक-नायिका का आलिंगन दिखाया गया है।

नान्दी का विधान भी जो किया गया है वह नाटककार रचित नान्दी है जिसका गायन कार्य सूत्रधार द्वारा न कराके म्नटनट द्वारा कराया जाता है। अन्य नाटकों में पूर्वरंग के पश्चात् नाटककार रचित नान्दी गायन सूत्रधार का ही कार्य होता है।

चाहे जो भी हो,फिर भी यह नाटक रूपक साहित्य में उत्कृष्टतम कृतियों[१] में से एक है। गणपति शास्त्री ने भी इसकी अत्यन्त प्रशंसा की है।

---

१. बाव इट्स वेराइटी आफ एक्सप्रेशन ऐण्ड एलैगेंस आफ स्टाइल,इट्स प्योर डिक्शन एण्ड च्वाइस आफ़ वोकाबुलरी दिस ड्रामा इज इन नो वे बी क्लास्ड ऐज इनफीरियर टू नागानन्द आफ़ श्रीहर्ष ऐण्ड आदर सिमिलर वर्क्स।

--टी० गणपति शास्त्री।

"विदग्धमाधव और ललितमाधव के रचयिता रूपगोस्वामी"

श्री रूपगोस्वामी के जीवनवृत्त को वैष्णव विद्वान् भक्तजनों के समक्ष प्रस्तुत करने का श्रेय उनके भतीजे जीवगोस्वामी को है जिन्होंने अपने वंशवृक्ष का पल्लवन सनातन गोस्वामी द्वारा विरचित "वैष्णवतोषणी" का संक्षिप्त रूप लघुतोषिणी" में शक संवत् १५०४ में प्रस्तुत किया । वृन्दावन के षट् गोस्वामियों में तो रूपगोस्वामी का नाम श्रद्धा से गृहीत किया जाता है ।

श्री चैतन्यगोस्वामी की शिष्य परम्परा में श्रीरूप अन्यतम हैं । यह तो सर्वप्रसिद्ध है कि महाप्रभु के भक्तिरस को उदात्त एवं शास्त्रीय रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय श्रीरूपगोस्वामी को ही है । इन्होंने महाप्रभु के पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर श्रीकृष्ण के मधुर प्रेमरस से संवलित होकर उन्हें ही आराध्यदेव मान कर आराधना की परन्तु अपने गुरु की महिमा के समक्ष नतमस्तक ही रहे ।

भक्तिरत्नाकर" में वृन्दावन के तीन गोस्वामियों सनातन,रूप एवं जीव के सम्बन्ध में सूचना मिलती है । इससे प्रतीत होता है कि षट्गोस्वामियों में से तीन गोस्वामी विशेष रूप से प्रख्यात हुए । इन गोस्वामियों की प्रसिद्धि का मूल कारण क्या था यह तो उनसे सम्बन्धित जानकारी प्राप्त करने पर ही ज्ञात हो सकता है । यहां पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इन्होंने पथभ्रष्ट लोगों को संजीवनी औषधि दी जिसके कारण भक्तिरस और भी सजीव और सक्रिय रूप में प्रस्तुत हुआ । इन गोस्वामियों में से यहां रूपगोस्वामी का विवरण अपेक्षित है और जीवगोस्वामी ने भी उनकी अपूर्व झांकी का दर्शन किया है ।

रूपगोस्वामी के पूर्वज किस प्रदेश के थे--इस सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है । कर्णाट देश के अधिपति जगद्गुरु सर्वज्ञ जो कि विख्यात राजा थे और भरद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे--वही रूपगोस्वामी के पूर्वज थे । इससे इतना स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि रूपगोस्वामी कर्नाटक ब्राह्मण थे । चौदहवीं शताब्दी के अन्त में यह निष्क्रमण करके बंगाल में आकर बस गये ।

श्रीरूपगोस्वामी ने अत्यन्त मेधावी होने के कारण गुणों को गृहीत करके तात्विक बुद्धि से युक्त गौड के बादशाह हुसैनशाह के राजमंत्री को भी अपनी विद्वत्ता से प्रभावित किया । इन्हीं मालाधरवसु नामक राजमंत्री ने रूप और सनातन की

प्रत्युत्पन्नमति से प्रभावित होकर राज्य दरबार की सेवा में नियुक्त कर दिया । शीघ्र ही इन्होंने अपने गुणों एवं तत्वानुवेषिणी बुद्धि से हुसैनशाह को प्रसन्न करके राज्यमंत्री पद प्राप्त किया और उनकी दृष्टि में विश्वसनीय ही बने रहे ।

राजदरबार में रहने के कारण यह राजसी वैभव और विलासिता से युक्त हो गये और इनकी सम्मानवृद्धि भी उत्तरोत्तर विकसित होती गयी । यह प्राचीन गौड देश की राजधानी मालदह से लगभग १० मील दक्षिण-पश्चिम में रामकेलि नगर में निवास करते थे जहाँ उनकी कीर्तिपताका आज भी आरोहित कर रही है ।

रूपगोस्वामी एवं सनातनगोस्वामी मुसलमानी दरबार में रहने के कारण हुसैनशाह के द्वारा "शाकिरमल्लिक" दबिरखास मुसलमानी नाम से सम्बोधित किये गये । शाकिरमल्लिक के नामानुसार ही निवासस्थान का नाम "साकरमल्लिकपुर" रखा गया जो कि हिन्दू राजत्वकाल में "नवग्राम" नाम से अभिहित किया गया ।

यद्यपि रूप एवं सनातन का रहन-सहन मुसलमानी रीति रिवाजों से युक्त था फिर भी संस्कृत वैष्णव विद्वानों के प्रति सम्मान की भावना उनकी इस धर्म में आस्था व्यक्त करती है । रामकेलि से कुछ दूर पर "कन्हाई नाट्यशाला" का निर्माण कराना इनकी कृष्णभक्ति का ज्वलन्त प्रमाण प्रस्तुत करता है । श्रीकृष्ण भक्ति के प्रति अन्तर में निहित आस्था का बीज प्रस्फुटित होने के उपरान्त इनकी राजसी वैभव-विलास रूपी भोगों से विरक्ति हो गयी ।

यह तो सर्वमान्य सिद्ध ही है कि भोगविलास मनुष्य की भौतिक वासनाओं की ही तुष्टि करता है । इससे प्राणी की बहिरंग तुष्टि चाहे हो जाये परन्तु आन्तरिक तृष्णा की तृप्ति तो भगवान् के भक्ति रस से ही होती है । एक समय ऐसा आता है जब भोग-विलासों से परिश्रान्त हुआ मन भगवान् की मनमोहिनी छटा के दिग्दर्शन में आत्मसमर्पण को व्याकुल हो जाता है और यही वह चरमस्थली है जहाँ पर मन को विश्रान्ति मिलती है । इसी भावना से वशीभूत होकर महाप्रभु की प्रशंसा सुन कर उनके दर्शन के लिए आकुल मन ने गौडेश्वर से छिपकर देखने की क्रिया को प्रेरित किया और उनकी निश्छल भगवद्भक्ति से प्रभावित होकर अन्तःकरण से उनका शिष्यत्व स्वीकार किया ।

श्रीरूप वैष्णव समाज में चैतन्यप्रभु के द्वारा पहले दीक्षित होने के कारण सनातन गोस्वामी से ज्येष्ठ रूप में स्वीकृत हैं । वैसे वंशवृक्ष की परम्परा में इनको सनातन के अनुज के रूप में ही प्रदर्शित किया गया है । यहां पर कहने का अभिप्राय एकमात्र वैष्णव समाज में प्रथम दीक्षित होने के कारण ज्येष्ठ मानने के सम्बन्ध में है । इस प्रकार से श्रीरूप गोस्वामी के जीवनवृत्त पर दृष्टिपात करने पर उनके दो रूप हा प्रस्तुत होते हैं । एक तो चैतन्य से साक्षात्कार से पूर्व और दूसरा उसके बाद का । इन दोनों पर दृष्टिपात करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि दोनों ही रूपों में श्रीरूपगोस्वामी कृष्णभक्ति के प्रति आसक्त रहे और उन पर अगाध निष्ठा ने ही उनको वैष्णव भक्तों में मणिरत्न रूप में प्रतिष्ठापित करा दिया । वृन्दावन का प्रत्येक कुंज उनकी मकरन्दमाधुरी में गुंजायमान है जिससे इनकी कीर्तिलता सिंचित होती रहती है ।

<u>श्रीरूपगोस्वामी का तिथिकाल--</u>

श्रीरूपगोस्वामी की तिथि निर्धारण करने में उनका जीवनवृत्त ही पर्याप्त है जिससे उनके काल के सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान हो जाता है । हुसैनशाह के शासनकाल व चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव काल से उनकी तिथि निर्धारण करने में पर्याप्त सहायता मिलती है ।

हुसैनशाह का राज्यारोहण ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर १४९३ ई० माना जाता है,[१] अर्थात् हुसैनशाह का शासनकाल पन्द्रहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग और सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध था । इसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव काल भी १४८५ ई० माना जाता है ।[२] आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भी भागवत सम्प्रदाय में चैतन्यदेव का जन्म विक्रमी संवत् १५४२ (१४८५ ई०) स्वीकार किया है ।[३]

---

१. दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, वॉल्यूम ३, पृ० २७०--एल०टी०कोलसेल वोल्सेली हेग द्वारा संपादित ।

२. द कल्चरल हैरिटेज आफ इंडिया, वॉल्यूम ४, पृ० १८७--संपादक--एच०डी० भट्टाचार्य ।

३. भागवत सम्प्रदाय--आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० ५००

अतः उपर्युक्त दोनों ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर देखा जाय तो चैतन्य और हुसैनशाह के समसामयिक होने के कारण श्री रूप का स्थितिकाल मुख्यतः १६वीं शताब्दी सिद्ध होता है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने श्री रूप का स्थितिकाल १४९२ ई०-१५९१ ई० माना है[१]। उनके निर्देशानुसार श्रीरूप का जन्म १४९१ ई० में हुआ था।

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने श्रीरूप का जन्म संवत् १५५५ (१४९८ ई०) के आस पास माना है। किन्तु दोनों मनीषियों के मतानुसार श्रीरूप का जन्मकाल १५वीं शताब्दी का अन्त मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यह मत ही समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि इनके पूर्वजों द्वारा १४वीं शताब्दी के अन्त में कर्नाटक से निष्क्रमण कर बंगाल में बसना और वहां पर ही जन्म होने के कारण इनको १५वीं शताब्दी में मानना अधिक तर्कसंगत है।

रूपगोस्वामी की कृतियों का अवलोकन कर उनके अन्त में दिये गये समय के विवरण के आधार पर भी इनके रचनाकाल का निर्धारण करने में समस्या उपस्थित होती है। वैसे १५५० ई० के बाद श्रीरूप गोस्वामी की साहित्यिक गतिविधियों का आभास हमें नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि यही वैष्णव साहित्य का अवसानकाल है। इस आधार पर जो रूप गोस्वामी का अवसानकाल १५९१ ई० मानते हैं उनका निराकरण सुगमता से हो जाता है क्योंकि फिर यह मानना होगा कि इतनी लम्बी अवधि तक साहित्य मौन रहा, उसमें गतिशीलता प्रदान करने वाले तत्वों का सन्निवेश ही नहीं हुआ। रूपगोस्वामी की भी साहित्यिक अभिरुचि क्षीण हो गयी परन्तु ऐसा मानना तर्क के आधार पर पुष्ट नहीं होता, क्योंकि ऐसा हो ही नहीं सकता कि रूपगोस्वामी वैष्णव धर्म से विरक्त होकर निष्क्रिय रहे हों। वैसे प्रतीत ऐसा होता है कि वैष्णव साहित्य के अनुसार इनका अवसान काल १५६३ या ६५ रहा होगा। शिलालेखों को भी प्रमाणकोटि में अगर रखा जाए तभी उनकी समय-सीमा १५९१ तक पहुंच सकती है।

---

१. भागवत सम्प्रदाय--आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० ५०६।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि रूप का जीवनकाल १४८८-१५६५ ई० अथवा १५६१ ई० दिल्ली के तत्कालीन प्रमुख शासकों सिकन्दर लोदी से लेकर मुगल सम्राट अकबर १५५६-१६०५ ई० तक माना जा सकता है। अकबर के समय में विद्यमान होने का प्रमाण मानसिंह के गुरु होने के प्रसंग में प्राप्त होता है। अतः बलदेव उपाध्याय[१] द्वारा माने गये १५वीं शताब्दी का अन्त तथा १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध वाला मत ही समीचीन जान पड़ता है।

कृतियां --

१३ कृतियों का मुख्यतः उल्लेख मिलता है --(१) हंसदूत (२) उद्धव संदेश (३)अष्टादश छन्दस (४) उत्कलिका मंजरी (५) विदग्धमाधवम् (६)ललितमाधवम् (७)दानकेलिकौमुदी (८) भक्तिरसामृतसिन्धु (९) उज्ज्वलनीलमणि (१०) मथुरा-महिमा (११) पद्यावली (१२) नाटकचन्द्रिका (१३) संक्षेप भागवतामृत।

नाटकों का अध्ययन ही मूल विषय होने के कारण इनके नाटक विदग्धमाधवम् एवं ललितमाधवम्[२] का व्याख्यान आगे किया जायेगा।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास-- आचार्य बलदेव उपाध्याय।

२. यद्यपि ललितमाधव की दशांकता उसके प्रकरण होने का भ्रम उत्पन्न करती है फिर भी सम्पूर्ण नाट्यकृति की प्रकृति प्रकरण के विपरीत है। दूसरी बात यह है कि ललितमाधव से पूर्व भी कवियों ने नाट्यशास्त्रीय मान्यता का उल्लंघन करके दास से अधिक नाटक लिखे हैं जिनमें दामोदर मिश्र का "हनुमन्नाटक" तथा राजशेखर का "प्रचण्डपाण्डव" गिना जा सकता है।

इस प्रकार ललितमाधव में रूपगोस्वामी की व्याख्या के अनुसार न तो परकीया नायिका है और न ही कोई वैश्य अथवा ब्राह्मण युवक नायक है। अतः इसे दस अंकों का नाटक कहना अधिक समीचीन होगा।

विदग्धमाधव रूपगोस्वामीकृत

रूपगोस्वामी द्वारा विरचित विदग्धमाधव नाटक राधा और कृष्ण की वृन्दावन में की गयी ललित लीलाओं का आकर है,जिनका वर्णन पुराणों और काव्यों के मणिसूत्र में गुम्फित है । राधा ही इस नाटक में प्रधान नायिका है और इस नाटक के लिखने का उद्देश्य श्रीकृष्ण के उन भक्तजनों को आह्लादित करना है जो कि श्रीकृष्ण की प्रेमरसमाधुरी में निमग्न होकर वृन्दावन की मधुर सुषमा से सम्पृक्त, केशितीर्थ के समीप आये हुए थे ।

नाटकीय कथावस्तु को विशेष रूप से रोचक बनाने का श्रेय जयदेव के" गीत-गोविन्द" और लीलाशुकबिल्वमंगल के कृष्णकर्णामृत काव्य को है । विदग्धमाधव की मूलकथा का आधार तो गर्गसंहिता,ब्रह्मवैवर्तपुराण,पद्मपुराण,गीतगोविन्द और कृष्णकर्णामृत है । ब्रह्मवैवर्तपुराण और पद्मपुराण की कृष्णकथा तो राधाप्रसंग से आकर जुड़ जाती है । कहीं-कहीं पर अगर वैलक्षण्य मिलता भी है तो उससे भी कहीं भी हानि की संभावना नहीं रहती क्योंकि मुख्य कथा में विशेष अन्तर नहीं है ।

रूपगोस्वामी" भागवतपुराण" से अधिक प्रभावित नहीं दिखायी पड़ते । इसका प्रमाण तो उनके दोनों नाटकों की शैली से मिल जाता है,क्योंकि उसमें राधावाद की स्थापना की गयी है ।" भागवतपुराण" में तो इसका नितान्त अभाव है । कतिपय स्थानों पर श्रीकृष्ण का परब्रह्म रूप से वर्णन करने में ऐसा प्रतीत होता है कि रूपगोस्वामी" भागवतपुराण" से प्रभावित हैं । श्रीकृष्ण का परब्रह्म स्वरूप तो सर्वव्यापक है,अतएव रूपगोस्वामी ने श्रीकृष्ण को लौकिक पुरुष न मान कर अमानवीय समझकर ही उनकी लीलाओं का मूल्यांकन किया है जो प्राकृत धरातल की वस्तु नहीं है ।

श्रीकृष्ण में उपपतित्व का लेशमात्र भी प्रदर्शित नहीं किया है । प्रेम के उपपतित्व के विषय में जो बात लघुत्व की कही जाती है वह प्राकृत नायक में ही लागू होती है । रस निर्यास के आस्वादन के लिए जो कृष्णावतार है उसके लिए ऐसी कोई भी बात लागू नहीं होती[१] । रूपगोस्वामी का यह कथन" भागवतपुराण" से

---

१. श्रीराधा का क्रमिक विकास--डॉ० शशिभूषणदास गुप्त,पृ० १०१-१०४ ।

समानता रखता है। इसी आधार पर रूपगोस्वामी परकीयावाद का निराकरण करके स्वकीयावाद की स्थापना करते हैं। राधादि गोपियां कृष्ण की स्वकीया नायिका हैं।

रूपगोस्वामी ने "उज्ज्वल नीलमणि" काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ[1] में कृष्ण की स्वकीया नायिकाओं में आठ को प्रमुख माना है। जिसमें चन्द्रावली, राधा, जाम्बवती,[2] शैव्यादि प्रमुख हैं। "विदग्धमाधव" नाटक में भी पौर्णमासी द्वारा राधाकृष्ण का अभेद सम्बन्ध स्थापित करके स्वकीयावाद की स्थापना की गयी है। राधा कृष्ण के प्रेम की चरमावस्था है। राधादि गोपियों का नित्यप्रेयसीत्व ही इसमें सहायक है। बाहर से उनमें जो अनूठापन दिखायी पड़ता है अथवा अन्य गोपियों में जो स्त्रीत्व है--वह योगमाया द्वारा घटित कराया गया प्रातिभासित सत्यमात्र है।[3]

भागवतप्रसंग में भी इस तरह का वर्णन है। "भागवतपुराण" में भी कहा गया है कि भगवान् आत्माराम होने पर भी गोपियों की संख्या के अनुपात से उतने रूपों को धारण करके आत्मरमण करते हैं। "गोप्योचित" शब्द से तो परकीयाभाव व्यक्त होता है परन्तु उसका निराकरण भी व्यास जी ने यह कह कर किया है कि "गोपियों का मायाविग्रह योगमाया के प्रभाव से अपने-अपने पतियों के बगल में था, अत: गोप भी अपनी स्त्रियों से असूया नहीं करते थे।[4] इसी प्रकार रूपगोस्वामी ने भी भागवतप्रसंग से प्रभावित होकर गोपियों में योगमाया द्वारा स्त्रीत्व घटित कराया है।

इस नाटक की कथावस्तु प्रारम्भ में भवभूति के "मालतीमाधव" की तरह विस्तृत की गयी है और पूर्ववर्ती लेखक या कवि जिस प्रकार से एक घटना के बाद दूसरी घटना का संयोजन करते थे उसी की प्रतिकृति इस नाटक में विद्यमान है। नाटक में घटनाक्रमों का जाल-सा बिछा है जिसका उचित विनियोग करना आवश्यक है। नाटककार ने प्रसिद्ध घटनाक्रमों एवं पात्रों का उचित विनियोग किया है।

---

१. उज्ज्वलनीलमणि--रूपगोस्वामी, पृ० ३८
२. विदग्धमाधव नाटक--रूपगोस्वामी, पृ० १२
३. श्रीराधा का क्रमिक विकास--डॉ० शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १०१-१०४
४. श्रीमद्भागवतपुराण--१०।३३।३७

घटनाक्रमों की दृष्टि से विचार करने पर इस नाटक की सात प्रमुख घटनाएं दृष्टिगत होती हैं जो कि प्रत्येक घटनाओं की प्रधानता के आधार पर मुद्राराक्षस की तरह ही उसी संज्ञा से अंकों का नामकरण करती हैं। सात घटनाएं निम्नलिखित हैं --

(१) वेणुनाद विलास (२)मन्मथलेख (३) राधासंग (४) वेणुहरण (५) राधाप्रसादन (६) शरदविहार (७) गौरीविहार।

नाटककार ने इस नाटक में राधाकृष्ण की वृन्दावन की केलिकथा को रमणीय रूप से प्रस्तुत करने के लिए अथक प्रयास किया है। इन सब घटनाओं को देखने से पता चलता है कि नाटककार को राधाकृष्ण का परस्पर संयोग कराना ही अभीष्ट है। अतएव असम्बद्ध कृष्ण-लीलाओं का उल्लेख न करके पारस्परिक मिलन में सहायक घटनाओं का भी वर्णन किया है। संयोग विषयक घटनाएं इतनी रोचक हैं कि किसी भी दृश्य का बिम्बात्मक रूप उपस्थित हो जाता है।

भागवतपुराण में भी वेणुगीत का संकेत,शरदविहार एवं गोपियों के साथ कृष्ण की रासलीला का भी विधान है। इसी प्रकार से विष्णुपुराण में भी श्रीकृष्ण भागवतपुराण तरह गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण ही हैं परन्तु किसी भी विशेष गोपी का उल्लेख नहीं है। ब्रह्मपुराण,पद्मपुराण में राधा के जन्म और कृष्ण के साथ उनकी लीलाओं का विस्तृत वर्णन है। इस प्रकार से श्रीकृष्ण के जीवन चरित का अगर मूल्यांकन किया जाये तो वह महाभारत में योद्धा एवं राजनीतिज्ञ के रूप में एवं पुराणों में रसिक रूप में दृष्टिगत होते हैं। कृष्ण की तीन लीलाओं का वर्णन ब्रजलीला,माथुरलीला और द्वारका लीला का वर्णन मिलता है जो श्रीकृष्ण के तीन रूप प्रस्तुत करता है।

पुराणों के कृष्ण के रसिक रूप का वर्णन अर्वाचीन काल तक श्रृंगारिक और अश्लील होता गया है। कृष्ण का जो विराट् स्वरूप महाभारत में प्रतिपादित है और भागवत एवं विष्णुपुराण में जो कृष्ण परब्रह्म हैं,उस रूप का तिरोभाव होता चला गया है।

अर्वाचीन पुराणों में तो कृष्ण के ब्रह्मरूप की आड़ में रख कर श्रृंगार की ज्वाला ऐसी प्रज्ज्वलित की गयी है कि श्रीकृष्ण का ब्रह्मरूप भी उस वासनामयी ज्वाला में भस्मीभूत हो जाता है और वह रसिक शिरोमणि ही रह जाते हैं। श्रीकृष्ण के

इस रूप का परिचय ब्रह्मवैवर्त में भी मिलता है जहाँ श्रीकृष्ण के ब्रह्म और रसिक रूप में विरोधाभास प्रतीत होता है। इस पुराण के अनुसार राधा की उत्पत्ति दैवी मानी गयी है। गोलोक स्थित वृन्दावन के रासमण्डल में जब शोभन राजसिंहासन पर विराजमान श्रीकृष्ण को रमण की आकांक्षा होती है तो उनकी रिरंसा वृत्ति ही राधा का मूर्तरूप धारण कर लेती है। उनका दक्षिण अंग श्रीकृष्ण रूप में, वाम अंग राधा रूप में स्थित हो गया[1]।

इस प्रकार से श्रीकृष्ण के साथ राधा को आह्लादिनी शक्ति के रूप में माना गया जैसे कि पद्मपुराण में राधा को कृष्ण की आद्या प्रकृति होने के कारण प्रधान माना गया है[2]। इस पुराण में राधा और चन्द्रावली को प्रधान माना गया है[3]। राधिका की अष्ट प्रवृत्तियाँ कह कर अष्टकोणों में ललितादि प्रधान अष्टगोपियों का उल्लेख किया गया है[4]। श्यामा, विशाखादि जो आठ गोपियों का इस पुराण में उल्लेख किया गया है, इसी को उपजीव्य बना कर श्रीरूपगोस्वामी ने अपने नाटक विदग्धमाधव और ललितमाधव में इनका राधा और चन्द्रावली की सखियों के रूप में उल्लेख किया है।

१, रमणं कर्तुमिच्छा च तद् बभूव सुरेश्वरी।
इच्छया च भवेत्सर्वं तस्य स्वेच्छामयस्य च ।।
एतस्मिन्नन्तरे दुर्गे द्विधारूपो बभूव सः।
दक्षिणांग च श्रीकृष्णो वामार्धांग च राधिका ।।

--ब्रह्मवैवर्तपुराण, अध्याय ४८, २७।२८

२, तत्प्रिया प्रकृतिस्त्वाद्या राधिका कृष्णवल्लभा।
--पद्मपुराण, पाताल० वृन्दा० ६६।११७

३, प्रधानप्रकृतिस्त्वाद्या राधा चन्द्रावली समा।
--वही, ६६।८

४, प्रत्यंगरभसावेशाः प्रधानाः कृष्णवल्लभाः।
ललिताद्याः प्रकृत्यंशा मूलप्रकृतिराधिका : ।।
सम्मुखे ललितादेवी श्यामला वायुकोणके।
अन्तरे श्रीमती धन्या ऐशान्यां श्रीहरिप्रिया ।।

-- वही--७०।४-८

परवर्ती भाषाओं के साहित्य के तुल्य ही परवर्तीकाल के नाटक होने के कारण रूपगोस्वामी के नाटक विदग्धमाधव और ललितमाधव में हम राधा और चन्द्रावली की प्रतिद्वन्द्विता देखते हैं। इस प्रकार का सापत्न्य अन्तर्विरोध पुराणों में भी प्रतिबिम्बित होता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में तो राधा के साथ विरजा का सापत्न्य भाव प्रबलता से दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार से ब्रह्मवैवर्तपुराण में राधा को अयन या रायाण घोष की पत्नी बताया गया है। इसी आधार पर रूपगोस्वामी ने भी राधा के अभिमन्यु गोप के साथ सम्बन्ध को राधा की छाया के साथ का सम्बन्ध बताया गया है। छाया पात्रों की रूढ़ि भारतीय साहित्य में नवीन नहीं है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण के आयान घोष के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। योगेशचन्द्र राय विद्यानिधि के मतानुसार सूर्य के अयन ने ही अन्त में आकर आयान घोष के अन्दर अहीर देह धारण किया है। कुछ लोगों के मतानुसार 'आयान' प्राकृत नाम की उक्ति है परन्तु वृन्दावन के गोस्वामियों के अनुसार इसी आयान घोष को हम अभिमन्यु के रूप में पाते हैं। संस्कृत अभिमन्यु का रूप देकर आयान को कुछ दूर तक भद्र बनाने की चेष्टा की गयी है।[1]

आयान घोष गोप राजा मात्वक के पुत्र थे और उनकी मां का नाम जटिला था। बहनों के नाम में यशोदा का नाम आता है अतएव वह कृष्ण के मामा थे।[2] विदग्धमाधव नाटक में जटिला को 'मातुर्मातुलानी' अर्थात् मां की मामी कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि आयान घोष यशोदा के ममेरे भाई हैं और इस तरह से वे कृष्ण के मामा लगते हैं। इससे यह बात प्रतिपादित होती है कि राधा कृष्ण से बड़ी हैं। इस कथा में कोई औचित्य नहीं दिखायी पड़ता। पुराणों में प्रतिपादित अलौकिक एवं दिव्य स्वरूप वाले कृष्ण के लिए अपनी मामी पर आकर्षित होना,

---

१. श्री राधा का क्रमिक विकास--डॉ० शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १०९-१०४

२. वही।

विस्तृत वांड्मय में निहित श्रीकृष्ण के दैवी स्वरूप को खण्डित करता है । राधा तो श्रीकृष्ण की अभिन्न अंगभूता हैं यह बात तो सर्वविदित ही है । राधा कृष्ण के विवाह का चमत्कारी वर्णन तो ब्रह्मवैवर्तपुराण में मिल ही चुका है ।[1]

उपर्युक्त तथ्य से केवल इस बात को प्रमाणित करने वाला तथ्य प्राप्त होता है कि आयान घोष, जिनकी मां का नाम जटिला था, वही रूपगोस्वामी के नाटकों में अभिमन्यु रूप में प्रस्तुत किये गये हैं ।

इसके पश्चात् पौर्णमासी के सम्बन्ध में भी डा० शशिभूषणदास गुप्त का कहना है कि इस योगमाया ने गौड़ीय वैष्णव साहित्य में पौर्णमासी रूप धारण किया है । यह पौर्णमासी प्रेम संघटन में परमाभिज्ञा वर्षीयसी रमणी के रूप में चित्रित की गयी है । रूपगोस्वामी के विदग्धमाधव और ललितमाधव में इस भगवती पौर्णमासी को ही नारद की शिष्या और सान्दीपन मुनि की माता कहा गया है । अब यह प्रश्न उठता है कि पुराणों की योगमाया ने ही क्या पौर्णमासी रूप धारण किया इस प्रश्न का समाधान भी डा०शशिभूषणदास गुप्त पौर्णमासी या पूर्णिमा की सोलह कलाओं से देते हैं, मानो पूर्णिमा १६ कलाओं की पूर्ति द्वारा सप्तदशी कला की अमृतमयी लीला के लिए क्षेत्र तैयार कर देती है ।

पौर्णमासी ही राधा कृष्ण के पारस्परिक मिलन कराने में सहायक है जो अपने गुरु नारद से गोकुल में राधाकृष्ण के अवतार की बात जानकर ही परब्रह्मस्वरूप कृष्ण और आद्या शक्ति राधा के पारस्परिक संयोग के उद्देश्य से ही उज्जयिनी छोड़कर गोकुल आती है ।

इस प्रकार समस्त इतिवृत्त एवं उससे सम्बन्धित प्रसंग राधा कृष्ण के संयोग कराने में ही सक्रिय दिखायी देते हैं । कथावस्तु का मुख्य केन्द्र वृन्दावन है अतएव श्रीकृष्ण के सौन्दर्य पक्ष का और उससे सम्बन्धित घटनाओं एवं पात्रों का ग्रहण किया गया है । वृन्दावन की शोभा का मनोहारी वर्णन भी इस नाटक में विद्यमान है । राधा और कृष्ण की क्रीडास्थली होने के कारण यह भी अपूर्व आनन्द की सृष्टि करने में सहायक है ।

---

१. राधा का क्रमिक विकास--शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १०१-१०४

अब विदग्धमाधव की कथावस्तु का अंकों की घटनाओं के आधार पर विवेचन करना आवश्यक होगा तभी नाटक का यथार्थ रूप प्रदर्शित हो सकेगा और सहृदय सामाजिक भी इस कथा से रसान्वित हो सकेगा ।

नाटक के प्रारम्भ में नाटककार ने नान्दीपाठ में श्रीकृष्ण की स्तुति की है, जिनकी लीलाओं का श्रवण करके जीव नाना योनियों में भटकनेवाले सांसारिक ताप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है । इसके पश्चात् नाटककार अपने गुरु चैतन्य महाप्रभु की स्तुति करता है जिनकी प्रेरणा से ही कृष्णभक्ति रस से संवलित होकर उन्होंने कतिपय नाटकों को निबद्ध किया ।

प्रथम अंक का प्रारंभ ही राधा कृष्ण के पूर्वराग की वृद्धि में सहायक है । इसी अंक में सूत्रधार किये गये प्रकृति वर्णन से राधा कृष्ण के भावी मिलन की सूचना व्यक्त हो जाती है जिसके लिए इतिवृत्त रूपी प्रासाद का निर्माण `विदग्धमाधव` नाटक की नींव में किया जाता है । उसको फलीभूत करने का कार्य पौर्णमासी का है जो सूत्रधार के कथन से ही स्पष्ट हो जाता है । सम्प्रयत समानता के आधार पर पौर्णमासी के रंगमंच पर प्रविष्ट होने के कारण यह आमुख के प्रवर्तक अंग के अन्तर्गत रखा जाता है[1] ।

सूत्रधार के इस कथन से संपूर्ण कथा के प्रधान उद्देश्य का बाह्य रेखाचित्र तो ज्ञात हो जाता है परन्तु उसके अभीष्ट उद्देश्य को प्रस्तुत करने के लिए इर्दगिर्द भ्रमण करने वाली घटनाएं जो कि नाटक के फल की प्राप्ति में सहायक हैं, उनका निरूपण भी शेष रह जाता है । यह घटनाएं अभीष्ट फल में बाधक तत्वों का निवारण करती है तभी तो अभीप्सित की प्राप्ति होती है ।

वेणीसंहार[2] में भी इसी तरह का प्रसंग दृष्टिगत है, इससे पता चलता है कि नाटककार इसी नाटक से प्रभावित होकर यहीं से उदाहरण प्रस्तुत करता है । वेणी-संहार में भी भावी फल की सूचना पहले ही ज्ञात हो जाती है । इसी प्रकार से रूपगोस्वामी ने भी अपने नाटक का प्रधान उद्देश्य पहले ही सूत्रधार के कथन से व्यक्त कर दिया है ।

---

१. सोऽयं वसन्तसमयः समयाय यस्मिन्पूर्णं तमीश्वरमुपोढनवानुरागम् ।
गूढग्रहा रुचिरया सह राधयासौ रंगाय संगमयिता निशि पौर्णमासी ।।
--विदग्धमाधव-- १।१०

२. वेणीसंहार — भट्टनारायण, २।६ ॥

प्रारंभिक प्रस्तावना के पश्चात् पौर्णमासी का रंगमंच पर प्रवेश परिजनों के साथ होता है। परिजनों सहित पौर्णमासी भवभूति के मालतीमाधव की कामन्दकी का स्मरण दिलाती है। इसी प्रकार से पौर्णमासी और उनकी शिष्या नान्दीमुखी का वार्तालाप[1] इस नाटक में भवभूति के मालतीमाधव[2] में कामन्दकी और अवलोकिता की प्रतिध्वनि ही है।

पौर्णमासी आरंभ में ही अपनी प्रधान कार्य का निवेदन कर देती है कि उसका कार्य राधा और कृष्ण का संयोग कराना है,जो स्वतः भी एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हैं। पौर्णमासी द्वारा ही इस रहस्य का भी ज्ञापन होता है कि कंस के भय से योगमाया द्वारा राधा का विवाह अभिमन्यु नामक गोप से करा दिया गया है। राधा का कृष्ण के प्रति अनुराग तो है ही परन्तु यह कृत्रिम अभिनय केवल कंस को भ्रम में डालने के लिए ही किया गया है । राधा कृष्ण के नित्य प्रेयसीत्व से अनभिज्ञ अभिमन्यु जब दुष्टबुद्धि वाला होकर राधा को कृष्ण से दूर हटाने के लिए मथुरा ले जाने की आकांक्षा करता है तभी पौर्णमासी उसको आश्वस्त करने के लिए सक्रिय दिखायी देती है। पौर्णमासी ही राधा कृष्ण में गाढ़ानुराग रूपी बीज के रोपण में नान्दीमुखी को नियुक्त करती है जिससे राधा के हृदय में विद्यमान कृष्ण के प्रति प्रेम की अभिव्यंजना स्पष्ट रूप से प्रस्तुत हो जाती है। इसी प्रकार कृष्ण और मधुमंगल की परस्पर गूढ़ोक्ति द्वारा पौर्णमासी कृष्ण का राधा के प्रति प्रेम समझ लेती है।

राधा सूर्य और चन्द्रावली चण्डी की पूजा के व्याज से कृष्ण में अनुरक्ता है। चन्द्रावली का विवाह भी यद्यपि गोवर्द्धनमल्ल से हुआ है फिर भी वह राधा की तरह ही श्रीकृष्ण की नित्य प्रेयसी है[3]।

---

१. विदग्धमाधव--प्रथम अंक--पृ० १०-१७ तक।

२. मालतीमाधव--प्रथम अंक,पृ० ११ से ३५ तक।

३. राधा-चन्द्रावली-मुख्याः प्रोक्ता नित्यप्रिया ब्रजे।
कृष्णवन्नित्यसौन्दर्य-वैदग्ध्यादिगुणाश्रयाः।
-रूपगोस्वामी,उज्ज्वलनीलमणि (कृष्णवल्लभा प्रकरण) ३६।

राधा की चन्द्रावली से श्रेष्ठ प्रतिपादित करने वाले प्रमाण "भागवतपुराण" में प्राप्त हो जाते हैं[1]।

योगेशचन्द्रराय के अनुसार चन्द्र ही चन्द्रावली है और सूर्य बिम्बरूपी कृष्ण के मिलन के मार्ग में जो राधा रूपी नक्षत्र की प्रतिद्वन्द्विनी है[2]।

इसके पश्चात् इस अंक में ही नन्द-यशोदा के साथ कृष्ण के प्रवेश की सूचना मिलती है। यशोदा से वार्तालाप करते हुए जब नन्द कृष्ण के लिए वधू खोजने का आग्रह करते हैं तब यशोदा कृष्ण को छोटा समझ कर उनकी बात का निषेध कर देती हैं। यहां पर अल्प समय के लिए नन्द यशोदा का आगमन रंगमंच पर हुआ है जो कि स्वल्प प्रसंग से ही अपने अभिप्रायकत्व को आलोकित कर देते हैं जिससे कि अपने पुत्र के प्रति उन दोनों का अगाध स्नेह स्वतः प्रदर्शित हो जाता है।

वृन्दावन की अलौकिक मनमोहिनी सुषमा से आप्लावित कृष्ण का हृदय भावाभिभूत हो जाता है और उस मनमोहक वातावरण से आकृष्ट श्रीकृष्ण वंशी बजाने लगते हैं। बलराम और मधुमंगल भी इस अलौकिक वंशी रव के श्रवण से तन्मय हो जाते हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण का वंशीनाद बादलों को भी स्तम्भित करने वाला, सनन्दन के मुखों को ध्यान से हटाने वाला, ब्रह्मा को भी अचरज में डालने वाला और शेषनाग को भी चक्कर खिलाने वाला है[3]। इसीलिए शेषनाग के अवतार बलराम भी वंशीध्वनि से आकृष्ट हो जाते हैं।

वेणुगीत का प्रसंग तो भागवतपुराण में भी मिलता है जिसका उपयोग यहां उचित ढंग से किया गया है। वेणुगीत से आकृष्ट होकर भावविह्वल होकर राधा कृष्ण के दर्शन की लालसा करती हैं। अतः इस अंक का नाम "वेणुनादविलास" रखा गया। कृष्ण की दर्शन-लालसा से वेदनाग्रस्त राधा को औषधिस्वरूप श्रीकृष्ण का चित्रपट प्रदान करना विशाखा का कार्य है और वह इस कार्य में प्रवृत्त दिखायी पड़ती है

---

१. भागवतपुराण--१०।३३।२६,२७,२९,३१,३४।

२. श्रीराधा का क्रमिक विकास--डॉ० शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १०१-१०४।

३. विदग्धमाधव नाटक-- २।२७-२८।

राधा की अन्तरंगिणी सखी होने के कारण वह राधा को विरहजन्य दु:ख से समय-समय पर सान्त्वना प्रदान करती है ।

द्वितीय अंक का उद्देश्य राधाकृष्ण का प्रथम साक्षात्कार कराना है और इसी उद्देश्य को सामने रख कर इस अंक की घटनाएं भी कार्य को फलीभूत करने के लिए अग्रसर होती हैं । प्रथम अंक में जो राधा और कृष्ण के हृदय में प्रेम का बीज अंकुरित किया गया था उसी के पल्लवन के अभिप्राय से ही द्वितीय अंक का प्रस्तुतीकरण हुआ ।

राधा और कृष्ण के प्रेम को मूर्तरूप देने के लिए कवि सचेष्ट होकर वैसे ही वातावरण की सृष्टि कर लेता है जिससे कि पारस्परिक अनुराग बद्धमूल हो जाये । कवि ने इस कार्य को सम्पादित करने के लिए चित्रपट को ही आश्रय बनाया जो कि संस्कृत नाटककारों का प्रेम को ज्वलन्त करने का साधन होता है । राधा कृष्णदर्शन लालसा के बलवती होने पर भी अपनी आन्तरिक व्यथा को सखियों के समक्ष प्रस्तुत नहीं करती है । ऐसी विषम अवस्था में सखियों का चिन्तित होना भी स्वाभाविक ही है,क्योंकि वह तो राधा के आन्तरिक दु:ख का कारण जानती हैं और उसके निदान का उपाय भी सोचती हैं ।

राधा के विवाहिता स्त्री होने के कारण लोकप्रवाद के भय से श्रीकृष्ण का दर्शन प्रत्यक्ष होना असम्भाव्य दिखलायी पड़ता था अतएव कवि ने इस नाटक में नूतन उद्भावना करके पौर्णमासी द्वारा राधा में स्त्रीग्रह के आवेश की कल्पना की जिसकी मुक्ति का उपाय श्रीकृष्ण-दर्शन बतलाया । राधा की सास जटिला यद्यपि अपनी पुत्रवधू की विषम अवस्था से चिन्तित है फिर भी इस बात से वह सहमत नहीं होती, क्योंकि वह भी राधा और कृष्ण के बढ़ते हुए पारस्परिक अनुराग को जानती है । इसके लिए नाटककार ने योगमाया द्वारा राधा और कृष्ण के मिलन के लिए मार्ग प्रशस्त कराया । योगविद्या द्वारा राधा कृष्ण को मिलवाने की बात पौर्णमासी ही कहती है ।

अब राधा और कृष्ण के आन्तरिक भाव का परीक्षण करना शेष रह गया था । उसके लिए नाटककार ने मन्मथ लेख की आयोजना की । संस्कृत नाटककारों की प्राचीन परिपाटी के अनुसार नायिका द्वारा ही पहले प्रेमपत्र लिखवाने की परम्परा का अनुसरण श्रीरूपगोस्वामी ने भी अपने नाटक में राधा द्वारा मन्मथ लेख लिखवाकर

किया और वह पत्र ललिता के माध्यम से कृष्ण के पास पहुंचा दिया ।

यहां पर अन्य नाटककारों की अपेक्षा रूपगोस्वामी ने इसमें यह नवीनता प्रदर्शित की है कि नायक पक्ष की ओर से भी मन्मथ लेख का आयोजन कराया है जिससे उभयपक्ष का अनुराग स्वाभाविक रूप से उपस्थित हो जाता है ।

उभयपक्ष की गतिविधियों को यथासमय कार्यान्वित करने के लिए निपुण सखी एवं सखाओं की योजना की गयी है जिसके द्वारा दोनों पक्ष की गतिविधियों का ज्ञान हो जाता है । विशाखा और ललिता इतनी निपुण हैं कि कृष्ण के आन्तरिक भाव ज्ञापन के लिए राधा की गुंजावली कृष्ण के गले में डाल देती हैं जिसे अस्वीकार करते हुए कृष्ण भूल से अपनी रंजनमाला दे देते हैं । इन दोनों के द्वारा कृष्ण की माला छिपा ली जाती है और इस घटना चातुरी ने इतिवृत्त को आगे बढ़ाने में प्रशस्त मार्ग अन्वेषित कर लिया । इसी माल्यविपर्यय के फलस्वरूप ही राधा और कृष्ण का प्रथम दर्शन सम्पन्न हुआ ।

जटिला के आगमन द्वारा अभीष्ट फलप्राप्ति में बाधा से आशंकित उभयपक्ष में औत्सुक्य की प्रबलता दृष्टिगत होती है जो कि कथानक को गतिशीलता प्रदान करने में सहायक सिद्ध होती है । परन्तु पूर्वयोजना के अनुसार राधा और कृष्ण का परस्पर प्रथम मिलन तो जटिला के लिए रहस्य ही बना रहा क्योंकि पौर्णमासी के आश्वासन के आधार पर वह कृष्ण को योगमायिक कृष्ण समझ लेती है । राधा के स्वास्थ्यलाभ को देख कर अत्यन्त प्रसन्न होती है क्योंकि वह राधा के दु:ख से अत्यन्त व्याकुल हो चुकी थी,अतएव इस समय उसके स्वास्थ्यलाभ को देख कर जटिला को विचार-विमर्श का समय नहीं रहा और वह मुदितहृदया चली गयी । इस अंक की प्रधान घटना मन्मथलेख होने के कारण इसका नाम करण" मन्मथ लेख" ही सार्थक सिद्ध होता है ।

तृतीय अंक में उन्हीं घटनाओं का समावेश किया गया है जिसकी पूर्ति द्वितीय अंक में नहीं हो सकी । राधा कृष्ण का प्रथम मिलन तो पहले ही सम्पादित हो चुका है अब इसको और प्रगाढ़ रूप देने के लिए पुनर्मिलन हेतु और घटनाचक्रों की आयोजना की गयी है जिसको सम्पन्न करने का श्रेय पौर्णमासी को है । इन्हीं के माध्यम से नाटककार भी घटनाक्रम का निर्माण करता है ।

इस अंक में पौर्णमासी राधा और कृष्ण उभयपक्ष के प्रगाढ़ अनुराग को जानने के लिए प्रेम की परीक्षा लेती है जिसकी कसौटी पर दोनों ही खरे उतरते हैं ।

पौर्णमासी कृष्ण की भावभंगिमा से ही राधा के प्रति प्रेम का अनुमान लगाकर कृष्ण को राधामिलन का संकेत देती है । इसी प्रकार स्वयं ललिता के साथ राधा के समीप जाकर उसकी भी प्रेम-परीक्षा लेती है और दोनों में गाढ़ानुराग देखकर ही कृष्ण को राधा के समीप ले जाने के लिए विशाखा को आदेश देती है ।

नाटककार उभयपक्षीय प्रेम का इतना मनोहारी दृश्य उपस्थित करता है कि उन दोनों के प्रेम में सहृदय भी तल्लीन हो जाता है । कृष्ण का राधा के प्रति प्रेमाधिक्य भावुकतावश समस्त वृन्दावन को ही राधामय बना देता है । कृष्ण राधा की अलौकिक शोभा का साक्षात्कार द्वितीय अंक में ही कर चुके हैं[1] अतएव परब्रह्मजन्य अलौकिक शोभा से आपूरित आनन्द के समक्ष श्रीकृष्ण की लौकिक आनन्द से विरक्ति स्वाभाविक ही है । इसी प्रकार राधा भी श्री कृष्ण के वियोग में जब प्राणोत्सर्ग करने की बात करती है तब भी कृष्णवर्ण के सदृश तमालवृक्ष का संयोग प्राप्त करने की ही अभिलाषा रखती है[2] ।

कृष्ण का राधा के लिए प्रतीक्षा करना प्रेमी की यथार्थ मनोदशा का चित्रण करता है जिसको कि नाटककार ने अपनी तूलिका के माध्यम से रंग-बिरंगे रंगों से सजाया है ।

राधा के प्रति कृष्ण की प्रेम-परीक्षा के लिए विशाखा कृष्ण से उपहास करती है जिससे कि कृष्ण-अन्तर में विद्यमान प्रेम की सतह को आंका जा सके । इसके लिए विशाखा अभिमन्यु द्वारा राधा को मथुरा ले जाने की बात कृष्ण से कह देती है । कृष्ण तो इस बात से पहले से ही आशंकित हैं अतएव राधा-वियोग की आशंका से कृष्ण मूर्च्छित हो जाते हैं । अन्त में विशाखा इसको उपहास बता कर कृष्ण को आश्वस्त करती है । इस प्रकार की योजना नायक के भाव-परीक्षा में सहायक सिद्ध हुई है । राधाकृष्ण का द्वितीय मिलन भी सुगमता से सम्पादित हो जाता है,किंतु इस अंक में भी मुखरा के प्रवेश से उस सुख को कुछ देर के लिए शंकित करके सखियों की

---

१. विदग्धमाधव--द्वितीय अंक,श्लोक २४ ।
२. विदग्धमाधव--द्वितीय अंक,श्लोक ५७ ।

व्यंग्यपूर्ण उक्तियों से मुखरा को रंगमंच से शीघ्र ही हटा देता है। इसके पश्चात् सखियां भी राधा कृष्ण के निर्बाध एकान्त प्रेम को फलीभूत करने के अभिप्राय से निष्क्रमण कर जाती हैं। यह अंक " राधासंग" इस नामकरण के औचित्य को सिद्ध करता है।

चतुर्थ अंक की मुख्य घटना वेणुहरण है। अतएव इसी प्रधान घटना के आधार पर नाटक के अंक का नामकरण किया गया। अन्य घटनाएं भी इसी के इर्दगिर्द भ्रमण करती हैं परन्तु मुख्य रूप से इसी घटना का प्रतिपादन किया गया है।

राधा के साथ चन्द्रावली को भी कृष्ण की प्रियतमाओं में पहले ही स्थान दिया जा चुका है। कृष्णचरित में इसका भी वर्णन प्राप्त होता है अतः नाटककार ने इस प्रसंग को इस नाटक में भी स्थान दिया है। नाटक के मध्यभाग में प्रतिनायिका चन्द्रावली के साथ भी कृष्ण के प्रेम-प्रसंग का प्रतिपादन किया गया है जो कि नाटकीय कलाचातुरी का श्रेष्ठतम रूप है। चन्द्रावली को वैसे प्रतिनायिका की कोटि में नहीं रखना चाहिए क्योंकि वह कृष्ण की भोलीभाली प्रिया है। वह न तो राधा की तरह मिलन के लिए उत्कण्ठित दिखायी देती है और न उसमें वियोग की तीव्र अनुभूति ही रहती है। इससे इस बात का कुछ लोग अनुमान लगा ही लेते हैं कि राधा की भांति कृष्ण के प्रति प्रेम में उन्मादावस्था चन्द्रावली की नहीं है,अतएव राधा ही कृष्णवल्लभाओं में श्रेष्ठ है।

नाटककार ने इस अंक में प्रेम के कमनीय प्रसंगों को उपस्थित किया है जो एक दूसरी नायिका के समक्ष गोत्रस्खलन,नायिका प्रतिनायिका मान और नायकानुवाद से मान भंग की ललित लीलाओं से अन्वित है। नायक,नायिकाओं और उनकी सखियों के पारस्परिक उपालम्भ वचन इतिवृत्त में और भी अधिक रमणीयता का सृजन करते हैं। नायिका और प्रतिनायिका की सखियां अपनी-अपनी सखी को कृष्ण की सर्वाधिक प्रियवल्लभा सिद्ध करने के अभिप्राय से उपर्युक्त कथन का आश्रय लेती हैं।

राधा के समक्ष चन्द्रावली और चन्द्रावली के साथ राधा का नामोच्चारण कृष्ण द्वारा करा कर उभयपक्ष में मानप्रसंग का अवसर दिया गया है। यहां पर इस बात की शंका भी जागृत होती है कि कृष्ण का स्वाभाविक प्रेम राधा या चन्द्रावली--इन दोनों में से किसकी ओर है ? इस प्रश्न का समाधान तो दर्शक को

इसी अंक में मिल जाता है जब श्रीकृष्ण चुप-चुप सोकर राधा को प्रसन्न करने के लिए अनुनय कार्य में व्यस्त होकर फूलों के साथ बंशी भी राधा के आंचल में डाल देते हैं। राधा कृष्ण की असावधानी का लाभ उठा कर मुरली छिपा लेती है। कृष्ण अनुनय प्रसंग में सभी अवतारों में राधा के प्रति अनुरक्ति होने का निर्देश देते हैं,इससे राधा की श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है। इस प्रसंग द्वारा भी राधा कृष्ण के प्रेम को उत्तरोत्तर विकसित करने का अवकाश प्राप्त होता है। अंक के अन्त में फिर मुखरा का प्रवेश नायक-नायिका के मिलन में बाधक होने पर भी उभय प्रेम पक्ष के प्रेम को और भी अधिक प्रकट करने में सहायक सिद्ध होता है।

पंचम अंक की कथावस्तु की मुख्य घटना राधा प्रसादन है। इसको प्रस्तुत करने का उद्देश्य चतुर्थ अंक में कुपित नायिका का प्रसादन ही करना था अतएव इस अंक का नामकरण भी समुचित ही है। राधाकृष्ण के पारस्परिक अनुराग की बात ब्रज में फैल ही चुकी है। कर्णपरम्परा से प्राप्त इस बात का श्रवण अभिमन्यु भी करता है अत: सशंकित होकर राधा को मथुरा ले जाने का विचार करना उसके लिए स्वाभाविक ही है। पौर्णमासी अपने प्रधान कार्य को खण्डित हुआ समझ कर विस्मित हो जाती है। इसी कारण वह इस विषम परिस्थिति से मुक्त होने का उपाय सोचती है। राधा का कृष्ण के प्रति प्रेम तो उत्तरोत्तर विकसित ही होता चला आता है परन्तु गोत्रस्खलन से कुपित हुई राधा को प्रसादन करने का उपाय नाटककार के लिए शेष रह जाता है जिसका उपन्यास इस अंक में किया ही गया है।

कृष्ण की मुरली का हरण तो पहले ही हो चुका है और इसकी सूचना भी कृष्ण को मिल गयी है। कथानक को और भी अधिक सक्रिय,सजीव बनाने के उद्देश्य से नाटककार ने मुरलीवादन भी कराया है जिससे कि कृष्ण भाव विह्वल हो सकें। मुरली की आवाज सुन कर जटिला भी आकर्षित हो जाती थी ,इसका प्रमाण तो यही मिलता है कि जटिला कृष्ण की मुरली की आवाज सुन कर कृष्ण का अनुमान लगाकर जब बाहर निकली तो उसे राधा के हाथ में मुरली दिखायी दी । मुरली से वह राधा को कृष्ण में आसक्त जान लेती है। राधा के हाथ से मुरली के छीन लिये जाने पर भी कृष्ण के सखा सुबल की चातुरी ने कृष्ण की मुरली लौटा ली । मुखरा चण्डीपूजा के व्याज से राधा को कृष्ण से अलग कर देती है ,इससे राधा के सान्निध्य से भी वंचित कृष्ण खिन्न हो जाते हैं।

कृष्ण का मनोविनोद करने और जटिला का प्रतारण करने के अभिप्राय से नाटककार ने सुबल और वृन्दा का सहारा लिया । वेश-परिवर्तन के द्वारा ही यह कार्य सम्भाव्य हुआ । सुबल राधा का और वृन्दा ललिता का रूप धारण करते हैं । इससे कृष्ण का मनोविनोद होता है और जटिला को धोखा दिया जाता है ।

इस अंक के अन्त में सखियों द्वारा राधा कृष्ण का मिलन तो होता है,परन्तु वह फिर मान कर बैठती है और पुन: कृष्ण का अनुनय-विनय,सखियों का माध्यम और राधा की प्रसन्नता का क्रम बंध जाता है । इस प्रकार से अन्त में चतुर नायक कृष्ण का राधा-प्रसादन कार्य में फलक होते हैं ।

षष्ठ अंक की कथावस्तु की मुख्य घटना शरद विहार है । इस घटना में कोई विशेष वैचित्र्य तो नहीं है जिससे कि कथानक में प्रवाह आये । जटिला अपनी वधु राधा के शरीर पर पीताम्बर मिलने का रहस्य ढूढने के उद्देश्य से ही प्रवेश करती है । विशाखा को राधा को बुलाने का आदेश देती है राधा सामने जटिला को खड़ी देख कर भयभीत हो जाती है परन्तु वह उस समय भी पीताम्बर के सम्बन्ध में बहाना बनाती है कि गोपियों द्वारा उत्सव में वस्त्र पर फेंके हुए हल्दी के घोल से वस्त्र पीला दिखायी दे रहा है । जटिला द्वारा गोपियों की गोष्ठियों में ले जाने का आरोप विशाखा पर लगाने पर विशाखा प्रत्युत्तर देती है कि गोपियों के उन्मत्त होने का कारण दीपमालिका पर्व ही है । इस प्रकार से चतुराई से कह कर जटिला के संदेह का भी निवारण कर देती है । वस्त्र-विपर्यय की घटना से व इस बात की भी सूचना मिलती है कि नाटककार प्रणय के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रसंग का भी पारखी है और उसे दर्शकों के समक्ष समुचित रूप से रखने में भी वह सफल रहा है । इस अंक में घटनात्मकता प्रधान न होकर वर्णनात्मकता ही प्रधान दृष्टिगोचर होती है । इसमें भी उभयपक्ष की सखियाँ अपने-अपने पक्ष के समर्थन में व्यंजना शैली में अपनी उक्तियां प्रस्तुत करती हैं ।

जटिला का पुन: प्रवेश कथानक को अग्रिम रूप देने में सहायक है । राधा कृष्ण का यह विहार शरद ऋतु की शुभ्र छाया में सम्पन्न हुआ है अत: इसका नाम "शरद-विहार" ही उपयुक्त है ।

सप्तम अंक की कथावस्तु की मुख्य घटना गौरी विहार है। अंक के प्रारम्भ में फिर अभिमन्यु द्वारा नायिका राधा को मथुरा ले जाने की समस्या को उठाया गया है ,परन्तु अब राधा के गोकुल में रहने का समाधान भी निकल जाता है । यहां पर इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुन: वेश-परिवर्तन का निरूपण है जो कि कृष्ण द्वारा राधा के प्रसादन के लिए किया गया कमनीय उपाय है । कृष्ण यहां गौरी वेश वृन्दा के परामर्श से बनाकर गौरी तीर्थ जाते हैं,जहां पर राधा द्वारा गौरीपूजन का आयोजन किया गया था । राधा गौरी वेश में विद्यमान उनसे प्रार्थना करती है,उसी समय अभिमन्यु का आगमन होता है। वह कृष्ण को साक्षात् गौरी समझ लेता है ,क्योंकि वह सीधा-सादा युवक है और कृष्ण के छद्म वेश को नहीं जान पाता है। कृष्ण इस वस्तुस्थिति का लाभ उठाते हैं। राधा को तो कृष्ण के वेश-विधान का रहस्य ज्ञात ही हो जाता है परन्तु वह भी बड़ी चतुरता से अपने कौशल का उपाय गौरी-पूजन ढूंढ़ लेती है । कृष्ण द्वारा अभिमन्यु की अनिष्ट निवृत्ति ही प्रार्थना का उद्देश्य जानकर राधा गौरी से प्राणों की रक्षा करने की प्रार्थना करती है। अभिमन्यु के साथ आयी जटिला भी अनिष्ट की आशंका से भयभीत उसके निवारण का उपाय पूछती है । कृष्ण उसको दूर करने का कारण गोकुल में ही रह कर राधा द्वारा गौरीपूजन करना ही एकमात्र उपाय बताते हैं। इसी घटना से अभिमन्यु राधा को मथुरा न ले जाने का निश्चय हर्षित होकर कर लेता है। इस प्रकार से एक घटना द्वारा राधा के मथुरागमन का विघ्न हट कर राधा कृष्ण के स्थायी मिलन का मार्ग प्रशस्त करता है। पौर्णमासी के महत् कार्य का भी समापन इस अंक में हो जाता है।

गौरी वेश में विद्यमान कृष्ण के साथ राधा का विहार सम्पन्न होने के कारण इस अंक का नाम भी सर्वथा सार्थक है।

इस प्रकार कृष्ण की छद्मलीला के कई प्रसंग गर्गसंहिता में भी प्राप्त होते हैं। राधा का जब मान समाप्त नहीं होता है तो कृष्ण अपरिचित स्त्री का वेश धारण कर राधा के घर पहुंचते हैं और दोनों में रहस्य की बातें होती हैं। अन्त में राधा को यह ज्ञात हो जाता है कि वह छद्मवेशी कृष्ण से ही बात कर रही है। इसके बाद राधा के मान की समाप्ति हो जाती है और दोनों रास रस लूटते हैं[1]। यह स्पष्ट है

१, गर्गसंहिता--वृन्दावनखण्ड,अध्याय १४-१६ ।

कि इस प्रसंग में कृष्णकथा पर नायिका भेद का आरोप है। यह परम्परा गाथा-सप्तशती, आर्यासप्तशती, भास के नाटकों औरकालिदास के कुमारसम्भव में भी मिलती है[१]।

समीक्षा--

इस नाटक की कथावस्तु आधिकारिक है। इस नाटक में पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्रीपात्रों की संख्या अधिक है। पुरुष पात्र ६ तथा स्त्रीपात्र १४ हैं जो कि निम्नलिखित हैं --

पुरुष-पात्र-- सूत्रधार, परिपार्श्विक, कृष्ण, नन्द, मधुमंगल, राम, श्रीदामा, सुबल और अभिमन्यु।

स्त्रीपात्र -- पौर्णमासी, नान्दीमुखी, यशोदा, राधिका, ललिता, विशाखा, मुखरा, जटिल चन्द्रावली, पद्मा, शैव्या, वृन्दा, सारंगी, कराला।

पुरुष पात्रों में मुख्य भूमिका ग्रहीत करने वालों में श्रीकृष्ण और उसके बाद मधुमंगल और सुबल हैं। अभिमन्यु प्रतिनायक के अन्तर्गत रखा जा सकता है, परन्तु उसमें भी प्रतिनायक के मूलभूत गुणों का अभाव है। वह भोला भाला युवक प्रेम के प्रपंच को समझने में अशक्त है। फिर भी जब कभी वह अपनी पत्नी राधा को कृष्ण में आसक्त जानकर मथुरा ले जाने की बात करता है तो उसी स्थल पर वह प्रतिनायक माना जाता है। वैसे तो वही कृष्ण और पौर्णमासी के वाग्जाल में फंस जाता है। इस प्रकार से प्रतिनायक की दृष्टि से अभिमन्यु सर्वथा कमजोर है जो कि प्रतिनायक का विडम्बनमात्र ही बन कर रह गया है।

नाटक के नायक श्रीकृष्ण धीरललित प्रकृति के दिव्य नायक हैं और शृंगारात्मक मधुर रस के आलम्बन भी श्रीकृष्ण ही हैं। इस नाटक में राधा द्वारा सूर्य की पूजा का विधान है। प्रथमतः कह ही चुके हैं कि भागवत सम्प्रदाय सूर्य की उपासना का विकसित रूप है। कृष्ण सूर्य के पुजारी थे[२]। अतएव उनकी अभिन्न अंगभूता राधा भी

---

१. हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य की पृष्ठभूमि--डॉ० गिरिधारीलाल शास्त्री, पृ० ११६

२. इंडियन ऐन्टीक्वैरी, पृ० २५३। (१९०८)

सूर्य की पूजा में तत्पर दिखायी देती है। ललिता जब राधा से कहती है कि तुम्हारे सूर्य भगवान की पूजा के लिए तमाल वृक्ष के नीचे वेदी बना रही हूँ[1] तो इसका तात्पर्य भी यही निकलता है कि तमाल वर्ण-सदृश श्रीकृष्ण भी सूर्य की आराधना में तल्लीन हैं। विष्णु के सौर्य चरित्र से सम्बन्धित होने के कारण तद्गुणों से युक्त कृष्ण भी सूर्य से सम्बन्धित हो जाते हैं। इस प्रसंग की उद्भावना तो तब की गयी है जब षष्ठ अंक में राधा कृष्ण के प्रेम में चंचल हुई सूर्य की पूजा के लिए ललिता से कहती है। तब ललिता राधा के भावों का प्रत्यभिज्ञान करके कहती है कि तुम्हें चंचल करने वाला प्रेम वृन्दावनविहारी कृष्ण है, आकाशचारी सूर्य का नहीं।[2] इसके बाद राधा प्रेम-मिश्रित क्रोध से कमलबन्धु सूर्य के विषय में कह कर अपने हृदगत भावों का गायन करती है परन्तु चतुर ललिता कमल से कमला संयोजित करके सूर्य से विष्णु का अर्थ निकाल लेती है। श्रीकृष्ण विष्णु के अवतार हैं अतएव विष्णु से तात्पर्य यहाँ श्रीकृष्ण से ही है।

श्रीकृष्ण परब्रह्मस्वरूप हैं, इसका निरूपण भी यथास्थान पर पौर्णमासी द्वारा किया गया है। कृष्ण के परब्रह्म का स्मरण योगी किया करते हैं, राधा उनकी शक्ति होने के कारण तिरस्कार करती है।[3]

श्रीकृष्ण का समाधिस्थ रह कर भी ध्यान किया जाता है तभी राधा ध्यान के द्वारा कृष्ण के साक्षात्कार करने की बात कहती है।[4] परब्रह्म का ध्यान करने से भक्त की कामनापूर्ति के लिए श्रीकृष्ण का अवतरण होता है।

श्रीकृष्ण के दशावतार का प्रसंग चतुर्थ अंक में है।[5] राधा इस नाटक की नायिका है और परम चतुरा भी है। वह उज्ज्वल रस की दिव्य ज्योति है। पौर्णमासी "वृषभानुजा" नाटिका की वृन्दा की तरह ही राधा कृष्ण के समागम हेतु प्रयत्न करती है। मधुमंगल विदूषक और सुबल श्रीकृष्ण का नर्म सचिव है।

---

१. ~~इंपीरियल रिपोर्टरी (१६०७) पृ० २५५~~
१. विदग्धमाधव, पृ० ३८
२. वही, पृ० २६८
३. वही, पृ० ६०
४. वही, पृ० ८८
५. वही, पृ० १८६

इस नाटक की विशेषता यह है कि राधा और कृष्ण के अभिन्न सम्बन्ध को किसी भी पात्र द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के दिव्य सम्बन्ध से संयुक्त करने का प्रयास नहीं किया गया है। राधा परपुरुष कृष्ण पर आसक्त होते हुए हृदय की भर्त्सना करती है क्योंकि यह कुलीन स्त्रीजनोचित नहीं है। भक्ति सम्प्रदाय में इस प्रकार के अनैतिकता का प्रसार विचित्र-सा दिखायी देता है।[1]

इसी प्रकार नायक कृष्ण भी पूर्णरूप से राधा के प्रेम में मग्न होने पर भी ऐसी विरोधाभास की बात कहते हैं कि जिससे वास्तविकता ज्ञात नहीं हो पाती है। वह मधुमंगल से कहते हैं," मैं स्वप्न में भी किसी भी कामिनी का स्पर्श नहीं करता हूं।

कृष्ण :-- सखे,जानतापि भवता किमिदमन्याप्यनुपन्यस्तम् न खलु स्वप्नेऽपि मया
कामिनीस्पर्शः स्मर्यते।

--विदग्धमाधवं,दूसरा अंक,पृ० ६८।

समस्त नाटक पर" गीतगोविन्द" का ही प्रभाव परिलक्षित होता है।

"विदग्धमाधव" को नाटक की अपेक्षा नाटिका के अन्तर्गत रखने का विचार भी कभी-कभी उपस्थित हो जाता है परन्तु अंकों की घटनाचातुरी को देख कर उन्हीं के प्राधान्य के आधार पर इसे नाटक के अन्तर्गत ही रखा गया है।

इस नाटक में वास्तविक रूप से उन्नत चरित्र नहीं है और न वास्तविकता ही प्रतिबिम्बित है। रत्यात्मक भावनाएं पहले ही आधिपत्य स्थापित कर लेती हैं और इसके बाद वातावरण में उल्लास और आमोद की सृष्टि होती है।

इस नाटक पर" वृषभानुजा" नाटिका की भी झलक दिखायी पड़ती है। नाटिका में जैसे सखियां नृत्य करती हैं,गाती हैं,आलेखन करती हैं और सुन्दर मालाओं का ग्रन्थन करती हैं उसी प्रकार से इस नाटक में भी सखियां ललित कलाओं में अभिरुचि रखती हैं।[2]

१, ड्रामा इन संस्कृत ड्रामा--रत्नामयीदेवी दीक्षित,पृ० ३३२।

२, विदग्ध माधव--पृ० ३४।

वृषभानुजा नाटिका की तरह ही गोपियों की पुष्पचारण प्रक्रिया को पुष्प विषयणी रति से सम्बन्धित न करके,इस नाटक में काम विषयणी रति से सम्बन्धित पौर्णमासी द्वारा कराया गया है,जिस प्रेम भाव को उद्दीप्त करने वाले श्रीकृष्ण ही हैं ।

इस नाटक की सखियां पुरुषों को स्त्रीरूप में छद्मवेश धारण कराने में निपुण हैं । इसका प्रत्यक्ष प्रभाव तो तभी मिल जाता है जब सुबल राधा के वेश में कृष्ण के पास मनोविनोदार्थ पौर्णमासी द्वारा भेजे जाते हैं । कृष्ण भी वृन्दा के आदेश से गौरी का रूप धारण करते हैं ।

इस प्रकार पुरुषों के स्त्रीवेश में छद्म वेष धारण करने की परिपाटी जो भवभूति के समय से चली आ रही है,उसको अग्रिम रूप से देने का श्रेय इस नाटक को है ।

इस प्रकार से समस्त इतिवृत्त में कृष्ण की कथा पौराणिक आख्यान पर ~~अवलम्बित~~ आधारित है । राधा कृष्ण के प्रेम पर आधारित यह नाटक तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण तो नहीं करता परन्तु उस समय में वर्तमान भक्तिसम्प्रदाय के रूप को प्रस्तुत करता है । राधा कृष्ण की केलिकथाएं इस नाटक में इतनी मनोहारी हैं कि प्राकृत जन इसमें सुगमता से आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं । इसमें बुद्धि को बिना वाग्वैदग्ध्य इतनी सुगमता से भ्रमण कराया जाता है कि आनन्द की प्राप्ति तत्काल हो जाती है । अतएव इस नाटक का प्रणयन केवल बुद्धिजीवियों के लिए ही न होकर सर्वसाधारण के आनन्द के लिए किया गया है ।

नाट्यशास्त्र की दृष्टि से यह शृंगाररसप्रधान नाटक माना जा सकता है । इसका प्रधान रस शृंगार ही है । कलापक्ष के अन्तर्गत अलंकारयोजना,छन्दोविधान और अभिनेयता का लक्षण किया जाता है । इसमें न तो कालिदास की वैदर्भी रीति और न भवभूति की गौड़ीप्रधान शब्द प्रौढि का प्रभाव परिलक्षित होता है । नाटक के प्रवाह में सरलता और लघुता है । इस नाटक में अनेक अलंकारों के सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं ।

इस नाटक के तृतीय अंक के तीसरे श्लोक में कालिदास ~~कि~~ के भाव की छाया दिखायी देती है ।

यह नाटक आकारलघु न होने के कारण अभिनेयता की दृष्टि से सफल नहीं माना जाता ।

नाटक के समस्त गुण-दोष देख कर संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि रूपगोस्वामी की भक्तिभावना ने ही भक्त जनों के आह्लादनार्थ नाटक लिखने के लिए प्रेरित किया । नाटककार ने श्रृंगार रस को कहीं भी अछूता नहीं छोड़ा है । नाट्यशास्त्रीय विवेचन के आधार पर ललितमाधव तो सर्वांगपूर्ण नाटक है तभी तो नाटक चन्द्रिका में इसी के उदाहरण प्रस्तुत किये गये परन्तु विदग्धमाधव इस कोटि का अधिकारी नहीं है । कतिपय नाट्यशास्त्रीय प्रसंग द्रष्टव्य हैं ।

ललितमाधवं--

यह नाटक रूपगोस्वामी की नाट्यकृतियों में सर्वाधिक व्यापक नाटक कहा जाता है,क्योंकि यह दश अंकों में अपने विस्तृत कलेवर को समाप्त किये हुए है । नाट्यशास्त्रीय गुणों से समाविष्ट होने पर भी प्रकरणकोटि की रूपक कृति में रखने का प्रसंग दश अंकों के कारण एवं उदात्तचरित्रयुक्त श्रीकृष्ण के सामान्य जनरूप से व्यवहृत होने,उनकी नायिका राधा,चन्द्रावली के परकीया स्वरूप ग्रहण करने के कारण उपस्थित होता है जो कि दिव्यचरित को छोड़ कर सामान्य स्त्रीजनोचित ईर्ष्या-द्वेष धारण करती हैं ।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो परकीया भाव प्रकरणकोटि की कृति का कारण प्रतीत नहीं होता,क्योंकि श्रीरूपगोस्वामी के "उज्ज्वलनीलमणि" में रस-प्रकरण के अन्तर्गत इसी परकीया भाव को नाटक में रस की पुष्टि कराने में समर्थ बताया गया है । रसाभास उपस्थित होने का निराकरण दिव्य राधाकृष्ण के नित्य सम्बन्ध को घोषित करके योगमाया के विवर्त से कर दिया है ।

रूपगोस्वामी का नाटक के सम्बन्ध में परकीयाभाव को प्रबल प्रमाण मानना कतिपय विद्वानों द्वारा विदग्धमाधव कृति को ही नाटककोटि के अन्तर्गत रखने में अधिक न्यायसंगत है,ललितमाधव को उस कोटि में रखने के संदर्भ में नहीं है । इसका मूलभूत कारण है कि यह कृति समस्त इतिवृत्त में प्रख्यात नायक श्रीकृष्ण की मानवीय स्तर-युक्त श्रृंगारिक चेष्टाओं को प्रदर्शित करके प्राकृत धरातल का पुरुष ही उपस्थित करती है,यद्यपि ललितमाधव के पंचम अंक में पौर्णमासी द्वारा व्याजपूर्ण ढंग से

श्रीकृष्ण का चतुर्भुज रूप स्मरण किया गया है,उससे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो नाटककार प्रकरणकोटि का कथाविन्यास करते-करते नाट्यकृति का स्मरण करके सजग हो गया है। विदग्धमाधव में तो अधिकांशत: लीलाओं के साथ श्रीकृष्ण के दिव्यरूप का स्मरण पौर्णमासी द्वारा दिलाया गया है।

'ललितमाधव' नाटक में प्रख्यात श्रीकृष्ण धीरललित नायक हैं और मिश्र इतिवृत्त है। इसका वस्तुविन्यास और मानचित्र अधिकांशत: नाटकीय न होकर वर्णनात्मक है क्योंकि इसमें संवाद अधिक है,घटनाएं अल्प हैं। यह केवल श्रीकृष्ण की वृन्दावन, द्वारका एवं मथुरा में की गयी रत्यात्मक क्रीडा का ही आख्यान है। इसमें श्रृंगार का शास्त्रीय रूप प्रस्तुत किया गया है जो रति आदि काम भावनाओं से रहित माधुर्य रूपी श्रेष्ठ सार को उपस्थित करता है। लौकिक श्रृंगार के निहित होने की भावना का समावेश कतिपय रसिकों के हृदय में होता है परन्तु इसका निराकरण भगवान की दिव्यलीला का स्मरण करके हो जाता है। कृष्णचरित पर अवलम्बित होने के कारण यह नाटक सहृदय रसिकों को आप्लावित करने में समर्थ है।

अब ललितमाधव नाटक की कथावस्तु पर भी दृष्टिपात करना अपेक्षित है कि यह कृति कृष्ण के किस रूप का चित्रांकन अपनी तूलिका के रंगों से करती है। प्रथमांक के प्रारंभ में नाट्यशास्त्रविधि के अनुसार प्रतिपाद्य देवता श्रीकृष्ण का मंगलाचरण किया जाता है जो आशीर्वाद,नमस्कार क्रिया से अन्वित नान्दी है। इसके पश्चात् वस्तु अन्वित नान्दी कही जाती है जिसमें श्रीकृष्ण को मेघ का रूपक देकर एवं अष्टांगनाओं को अभिसारिका आदि ८ गोपियों से संयुक्त करके उज्ज्वल आभायुक्त सूर्य की प्रभा से चन्द्र का आवरण कर लिये जाने सूर्यकान्तिस्वरूपा राधा का अपने तेजस्वीरूप के समक्ष चन्द्राकृतिस्वरूपा चन्द्रावली को तिरोहित कर लेने के कारण राधा की श्रेष्ठता को स्वीकारकिया जाता है।

सूत्रधार द्वारा रूपगोस्वामी के ग्रन्थ लिखने का कारण जान लेने के बाद उनके गुरुदेव कृष्णचैतन्यमहाप्रभु का मंगलाचरण पाठ है। सूत्रधार नटी के कथोपकथन से ज्योतिषगणनानुसार किरातराज रूप कंस के रंगस्थल में कलानिधिरूप कृष्ण के द्वारा मार दिये जाने की सूचना के पश्चात् सूत्रधार द्वारा श्रीकृष्ण (कलानिधि के साथ तारा (राधा) के विवाह की भावी सूचना दी जाती है। आकाशवाणी से इस तथ्य की पुष्टि होने के पश्चात् ही सूत्रधार नटी से इस प्रकार का वृत्तान्त कहता है।

पौर्णमासी और गार्गी के कथोपकथन के पश्चात् सान्दीपन मुनि की माँ एवं नारद मुनि की शिष्या पौर्णमासी द्वारा विन्ध्यगिरि की दो पुत्रियाँ चन्द्रावली एवं राधा की उत्पत्ति कथा का वर्णन किया जाता है,जो कि भगिनी होने पर इस सम्बन्ध में अनभिज्ञ हैं। राधा एवं चन्द्रावली विन्ध्यपर्वत द्वारा की गयी कृपा की आराधना के फलस्वरूप प्राप्त वर से वृषभानु एवं चन्द्रभानु की पत्नियों के गर्भ से आकृष्ट होकर विन्ध्य पत्नी के गर्भ में स्थापित होती हैं।

कन्या के उत्पन्न होने पर राधा कंस की गुप्तचरी पूतना राधा को गोकुल ले जाती है जहां पर राधा तारा नाम से ख्याति प्राप्त करती है। विन्ध्याचल की पुत्री का अपहरण हो जाने पर पुरोहित द्वारा राक्षसनाशक मन्त्रों का उच्चारण करने के परिणामस्वरूप भयत्रस्त पूतना के हाथ से चन्द्रावली विदर्भ देश की नदी में गिर जाती है और राधा भीष्मक अपनी पुत्री की भाँति उसका लालन-पालन करते हैं। चन्द्रावली भी गोकुल में आकर चन्द्रभानु कन्या रूप में ही प्रसिद्धि प्राप्त करती है।

रुक्मिणी और राधा की कथा बाद में सोलह हजार एक सौ गोपियों से ही जुड़ गयी जो कामरूप देश की कामाख्या और कात्यायनी देवी का पूजन श्रीकृष्ण को पतिरूप से प्राप्त करने के अभिप्राय से करती हैं और देवी से वर प्राप्त भी करती हैं।

मुख्य गोपिकाओं में पद्मा,शाम्भिजिती,भद्रा,लक्ष्मणा,शैब्या,श्यामला,भद्रा, ललिता सब मूलत: राजकुमारियाँ ही हैं जबकि विशाखा,जटिला द्वारा यमुना जल से प्राप्त की जाती है जो कि सूर्य भगवान की पुत्री होकर भी अवतारी यमुना नदी है। अष्टांगनाओं के वास्तविक स्वरूप के संदर्भ में विस्तृत व्याख्यान विदग्धमाधव के कथानक विवेचन में पहले ही किया जा चुका है। चन्द्रावली और राधिका का गोवर्द्धनमल्ल और अभिमन्यु से पाणिग्रहण होने की घटना को विदग्धमाधव की भाँति योगमाया का विवर्त बतलाया गया है किन्तु वास्तविक परिणय तो श्रीकृष्ण से ही हुआ है। अन्य गोपिकाओं के संदर्भ में भी यही बात कही जा सकती है कि वह भी अन्य गोपों की परिणीता होते हुए भी उनकी पत्नी रूप से कभी प्रदर्शित नहीं की जाती हैं क्योंकि गोपजन भी उनको पत्नीरूप से देखने में समर्थ नहीं होते, अत: अनुमान लगा ही लिया जाता है कि यह भी वास्तविक रूप से कृष्ण की ही परिणीता हैं।

इस अंक का प्रधान प्रयोजन चन्द्रावली और राधिका का कृष्ण से पूर्वराग वृद्धि करना है। दिवसपर्यन्त गाय चराने के बाद सायंकाल श्रीकृष्ण द्वारा घर की ओर प्रस्थान

करने के उपरान्त अनुराग के वशीभूत होने के कारण उनका चन्द्रावली व राधा से एकांत में मिलने का प्रयास होता है परन्तु यह प्रयास माण्डरा व जटिला द्वारा विघ्न उपस्थित कर दिये जाने के कारण निष्फल हो जाता है। श्रीकृष्ण का यशोदा के निकट वात्सल्य भाव प्रदर्शित होता है,परन्तु अन्य प्रसंगों में श्रृंगार भाव ही अधिकांशत: प्रयुक्त होता है।

द्वितीय अंक में रात्रि के अवसानकाल में श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ रात्रिक्रीडा का वर्णन प्रसंग है जो कि कवि को पद्मा-श्यामला दो सखियों के साथ चंद्रावली को उपस्थित करने का अवसर प्रदान करता है। इसी सुन्दर अवसर पर कंस द्वारा प्रेषित शंखचूड दैत्य राधिका के अपहरण की योजना से अशोक लता में छिप कर बैठ जाता है। उसका दमन करने के निमित्त ही श्रीकृष्ण ब्राह्मण कुमार का रूप बना कर जटिला के समक्ष राधा की सूर्य-पूजा का निर्वाहन करके वहां उपस्थित हो जाते हैं। श्रीकृष्ण तो शंखचूड का अन्तस्तल देखने में समर्थ हैं,तभी तो उसके मंतव्य का रहस्योद्घाटन जब गोपियों के समक्ष करते हैं तो गोपियों द्वारा भयभीत हो जाने के अवसर पर ही राधिका का अपहरण उस दैत्य द्वारा कर लिया जाता है। अन्त में कृष्ण द्वारा उसका संहार करके राधिका की रक्षा की जाती है। तभी इस अंक का नाम शंखचूड वध है।

तृतीयांक में कंसराज के आदेश से श्रीकृष्ण और बलराम को ले जाने के लिए अक्रूर का गोकुलागमन होता है,जिसके द्वारा विरहजन्य लोकोत्तर प्रेम की चेष्टा अभिव्यक्त होती है। राधा श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर विरह की आतप पीड़ा से संत्रस्त होने के कारण यमुनाजल में प्रवेश कर जाती है और यमुना अपने पिता सूर्य के समीप उन्हें पहुंचा देती है। राधा की इस विक्षिप्तावस्था को देख कर अति खिन्न ललिता भी पर्वत-शिखर से कूद पड़ती है। अन्य गोपिकाएं भी अपनी प्रिय सखियों के दु:खों से आक्रान्त होकर प्रेममूर्च्छित हो जाती हैं।

राधा के संदर्भ में स्कन्दपुराण एवं राधातन्त्र में कहा गया है कि राधा के दो स्वरूपों के मध्य में जो मूलभूत राधा है वह उद्धव आगमन पर कृष्ण के चले जाने पर प्रेम-मूर्च्छिता होकर गोकुल में ही स्थित रहती है,अंशभूता राधा ही यमुना के पिता सूर्य के निकट ले जाई जाती है।

चतुर्थ अंक में कंसवध के पश्चात् श्रीकृष्ण के द्वारकागमन का वर्णन है जिसके कारण गोपियों के अनुताप का वर्णन किया गया है। गोकुल में चन्द्रावली की विरहपीड़ित

दशा को देख कर उसका भाई रुक्मी राजधानी कुण्डिनपुर ले जाता है जहाँ शिशुपाल के साथ विवाह करने का निश्चय करता है। इसी बीच में श्रीकृष्ण के विरह में आकुल सोलह हजार गोपियों का अपहरण नरकासुर द्वारा होता है और उन्हें कामरूप के कारागार में डाल दिया जाता है जिसके कारण गोकुल गोपियों से शून्य हो जाता है।

द्वारका में उद्धव एवं पौर्णमासी देवी के प्रयत्न से ब्रजलीला नाटक का अभिनय होता है जिसमें वृन्दावनचरित का ही वर्णन है। श्रीकृष्ण भी इस नाटक के दर्शनार्थ उद्धव-सहित उपस्थित होते हैं व नाटकीय कथा से प्रभावित होकर चन्द्रावली का पता लगाने के लिए उत्सुक होते हैं। अपने रूप और माधुर्य से मोहित होकर उनके आस्वादनार्थ राधासारूप्य की भी वांछा करते हैं।

पंचम अंक में द्वारिका में चन्द्रावली रुक्मिणी रूप से एवं राधा सत्यभामा के रूप में प्रकाशित हैं। नारद जी के मुख से ब्रज-रमणियों के सम्बन्ध में यह रहस्य भी उद्घाटित होता है कि पुररमणी और ब्रज-रमणियों का तत्वांश अभिन्न होते हुए भी देहादि से भिन्न है। माया के द्वारा ही दोनों के मध्य में अभिन्नतया स्थित है। समस्त ब्रज-रमणियाँ प्रेममूर्च्छितावस्था में पड़ी रहने पर भी प्रिय संग सुख की प्राप्ति के लिए योगमाया ब्रजलीला का आच्छादन करके पुरलीला में उन रमणियों को अभेद अभिमान में आविष्ट कर दीर्घस्वप्न की भाँति प्रतीति करा रही हैं। पौर्णमासी ही कृष्ण को चन्द्रावली का हरण करने के लिए प्रेरित करती है और स्वयं भी कुण्डिनपुर जाने के लिए प्रस्थान करती है। श्रीकृष्ण भी रुक्मिणी के हरण के अभिप्राय से नटवेष में गरुड़ के साथ कुण्डिनपुर में प्रवेश करते हैं और जब रुक्मिणी चन्द्रभागा की आराधना के लिए नगर से बाहर जाती है तो वहाँ उसका अपहरण करके उसके पिता राजा भीष्मक के समक्ष विवाह करके उनकी अनुमति से द्वारका चले जाते हैं।

षष्ठांक में उद्धव एवं नारद प्रवेश करके राधाप्रिय कृष्ण की स्तुति करते हैं। इस अंक में प्रधान रूप से स्यमन्तकमणि का वृत्तान्त उपनिबद्ध है। भगवान सूर्य ही प्रसन्न होकर सत्राजित राजा को स्यमन्तकमणि सहित राधिका को सत्यभामा नाम से अभिहित करके समर्पित करते हैं।

सूर्य के श्वसुर विश्वकर्मा के द्वारा द्वारका में नववृन्दावन का निर्माण किया जाता है जहाँ पर रुक्मिणी श्रीकृष्ण की पटरानी थी। नारद के आदेशानुसार ही सत्राजित की माता रुक्मिणी के हाथों में सत्यभामा को सौंप देती है परन्तु राधा विरहपीड़िता

होकर निर्जन में निवास के लिए प्रार्थना करती है। इसका मूल कारण सूर्य के निर्देशानुसार राधिका को स्यमन्तकमणि की प्राप्ति तक राधिका रूप प्रकट न करना था। राधा अपनी बहन चन्द्रावली को पहचान चुकी है ।

सप्तम अंक में कवि ने राधा के साथ सत्यभामा नाम से श्रीकृष्ण के रहस्यात्मक या गुप्तमिलन का वर्णन किया है। विश्वकर्मा राधा की ऐसी सजीव प्रतिमा की रचना करता है कि उसे देख कर जब श्रीकृष्ण वृन्दावन में आते हैं तो रुक्मिणी सत्यभामा में ही कृष्ण को आसक्त जानकर राधा के साथ समागमोपाेग में विघ्न डालती है।

यहाँ पर सत्यभामा के प्रति चन्द्रावली की ईर्ष्या वर्णित है परन्तु अंक के अन्त में कृष्ण से यह कह कर--" आर्यपुत्र ! आत्मनो इव हृदयङ्गमे प्रणयिना जनेन स्वच्छन्दं विरह" अपनी हृदयगत उदारता प्रदर्शित करती है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि नाटककार ने चन्द्रावली के ईर्ष्या-द्वेष को हटाने के लिए ही उससे इस प्रकार का कथन कहलाया है। नाटक-कोटि में कृति को रखने के लिए ही शायद नायिका के ईर्ष्याभाव दोष का परिहार किया गया हो। परन्तु चाहे कुछ भी हो उससे ऐसा भी मंतव्य प्रकट हो सकता है कि कोपितावस्था में ही चन्द्रावली ने अपनी मूलभूत मानवीय निर्बलता का प्रदर्शन कर दिया हो,क्योंकि वह कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। फिर भी उसके इस कथन से नायक कृष्ण के अभीष्ट-साधन की प्राप्ति हो जाती है जो कि दैवीप्रसादजन्य है।

अष्टम अंक में चन्द्रावली के साथ कृष्ण का कथोपकथन अभिमानभंग,श्रीकृष्ण का पुनः नववृन्दावन में जाकर सत्यभामा के साथ वार्ता,विशाखा के लिए राधा की व्याकुलता का वर्णन व यहीं पर नववृन्दा के रूप में विशाखा के पुनर्जन्म की बात कही गयी है। सत्यभामा और रुक्मिणी द्वारा परस्पर एक दूसरे का वेषग्रहण वृत्तान्त हास्यरस का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

नवम अंक में श्रीकृष्ण,मधुमंगल एवं श्री राधा का कथोपकथन,ब्रजलीलासम्बन्धी चित्रपट जिसमें श्रीकृष्ण की बाल्यकालीन लीला से लेकर मथुरालीला तक के नाना स्मारक चित्रपट,उसका प्रदर्शन है। रात्रि का एक प्रहर बीत जाने पर सब का प्रस्थान। इसके बाद नववृन्दा,चन्द्रावली,माधवी एवं कृष्ण का कथोपकथन एवं चन्द्रावली की कथा में निन्दा-प्रकरण है।

यह भवभूति के " उत्तररामचरित" के चित्र-दर्शन प्रसंग से ही अधिक साम्य रखता है। इस अंक में पद्मा,भद्रा,श्यामला,आदि १६००० एक सौ गोपियों की नरकासुर-

कारागार से मुक्ति और उनके द्वारकाआगमन की कथा भी चित्रित की गयी है ।

दशम अंक में सत्यजित राजा पिंगला के द्वारा स्यमन्तकमणि श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में भेजती हैं जिसको श्री कृष्ण जाम्बवन्त को जीतकर जाम्बवती के साथ लाये थे । मणि को ग्रहीत करके जब कृष्ण सत्यभामा के दर्शनार्थ अन्तःपुर में स्त्रीवेश में प्रवेश करते हैं तो सत्यजित की परिचारिका से रहस्य का उद्घाटन हो जाता है । रुक्मिणी भी इस रहस्योद्घाटन से परिचित हो जाने के बाद सत्यभामा के साथ श्रीकृष्ण के विवाहौचित्य का विचार करके श्रीकृष्ण से सत्यभामा के साथ विवाह करने की प्रार्थना करती है ।

स्यमन्तकमणि की प्राप्ति से ही सत्यभामा अपने को राधिका और रुक्मिणी को बहिन बताती है । चन्द्रावली के अनुमोदन से श्रीकृष्ण का नन्दयशोदादि रोहिणी, श्रीदामादि के समक्ष राधा के साथ विवाह होता है जिसमें अपनी पत्नियों सहित देवताओं का भी योगदान रहता है । देवगणों के आशीर्वाद से महोत्सव की महिमा द्विगुणित हो जाती है । यही इस नाटक का संक्षिप्त इतिवृत्त है ।

पूर्णमनोरथ नामक इस दशम अंक में सत्यभामा रूपिणी राधा का विवाह द्वारका के नववृन्दावन में श्रीकृष्ण के साथ विधिवत् सम्पादित कराने का कारण यही प्रतीत होता है कि नाटककार रूपगोस्वामी ने परकीयावाद का निराकरण कर राधा को स्वकीया नायिका के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न किया है । राधा और कृष्ण के विवाह में सतीश्रेष्ठा अरुन्धती, लोपामुद्रा, शचीदेवी के साथ इन्द्रादि देवगण, वृन्दावन के नन्द-यशोदा, श्रीदामादि सखागण, पौर्णमासी और द्वारका के वसुदेव और देवकी को भी उपस्थित किया है जिसके द्वारा गुरुजन-सम्मत विवाह होने के कारण स्वकीयावाद की स्थापना हो सके ।

--

" **कंसवध** (शेषकृष्ण विरचित)-- अकबर के समकालीन होने के कारण शेषकृष्ण को १६वीं शती के उत्तरार्ध में रखा जा सकता है। इस नाटक की रचना अकबर के मंत्री टोडरमल के पुत्र के लिए शेषकृष्ण ने की थी। इसके सात अंकों में बालचरित तथा उनके अन्य राम-विषयक रूपकों की प्रतिपाद्य वस्तु का निरूपण है। शेषकृष्ण के विषय में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती जिसके द्वारा उनके जीवन के लिए में किंचित ज्ञान किया जा सके। इन्होंने अपने नाटक में प्रस्तावना के अवसर पर भी अपने कुल के विषय में कुछ भी नहीं कहा है अत: प्रबल प्रमाणों के अनुपलब्ध होने के कारण इनके विषय में कुछ भी कल्पना सारहीन है। कृष्ण-विषयक नाटक लिखने से विद्वान् वैष्णववृन्द में तो इन्हें परिगणित किया ही जा सकता है।

नाटक के प्रारंभिक चरण नान्दीपाठ में ही कृष्ण की स्तुति करते समय उनकी अंगभूत मुरली के मनोहर कल निनाद से ही उल्लासमय कल्याणकारी वातावरण को प्रभावित करने की बात कही गयी है। इस नाटक की कथावस्तु प्रख्यात एवं प्रीत भागवत से गृहीत होने के कारण भागवती कथा के श्रीकृष्ण का स्वरूप ही प्रदर्शित होता है। कृष्ण, विभु, अनादि, अजन्मा हैं, माया द्वारा ही अपनी लीला का सम्पादन कर रहे हैं। जन्म कर्म दिव्य होने के कारण ही प्राकृत शिशु की भांति लीला का प्रदर्शन करते हुए भी जो वेदों द्वारा तो अलक्षणीय ही है, इस गरिमा को अत्युत्कृष्ट रूप से दिखाने के लिए ही नान्दीपाठ में इसका वर्णन किया गया है।[1]

सूत्रधार के प्रवेश करने के उपरान्त उसके कथन से ब्रह्माण्ड मण्डल के महानट सृष्टि-स्थिति प्रलय की नाटिका के सूत्रधार, सूत्रात्मा विश्वव्यापी भगवान् इन्दुशेखर का ही परिचय प्राप्त होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शेषकृष्ण शैवधर्म के भी उपासक थे तभी तो उनको सृष्टि का पालक व संहर्ता भी कहा गया है। सृष्टि के पालक तो विष्णु हैं परन्तु संहारधर्म तो शिव से ही सम्बन्धित है। यहां पर शिव का संहार-सम्बन्धी उद्देश्य " कंसवध " ही प्रधान है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि शिव के संहार कर्म में सहायता करने हेतु ही गोवर्धनधारी कृष्ण अवतीर्ण हुए हैं।

---

१. वृन्दावने चरन्ती विभुरपि सततंभुर्भवस्व: सृजन्ती नन्दोद्भूताप्यनादि: शिशुरपि निगमैर्लक्षिता वीक्षितापि।
    विद्युल्लेखाघनश्रीम्मदकलमहाम्भोदसच्छायकाया
    माया पायादपायादविदितमहिमा नापि पीताम्बरो व: ।।
        -- कंसवध--प्रथम अंक, दूसरा श्लोक।

नटी के गायन में जलधारी रूप श्यामवर्ण कृष्ण के अधीन सौम्य देदीप्यमान विद्युत्रूपी गौरवर्णा राधा के भी दर्शन होते हैं, जिसको देख कर कदम्ब भी पुलकित हो कर मुकुलित हो जाते हैं[१]। तत्पश्चात् सूत्रधार द्वारा इतिवृत्त के फल का निमित्त बीज रूप में कहा गया है[१], जो कि नाटक का प्राणतत्व है। यह वर्षाकाल रूपी प्रकृति के माध्यम से कृष्ण द्वारा वसुदेव के दुःख का हरण एवं नयनों के लिए प्रसन्नता को व्यक्त करने वाला है, क्योंकि बलराम के मित्र श्रीकृष्ण ही विष्णु के समान कंस के मद का नाश करते हैं[२]।

इस कथन को सुन कर नेपथ्य से कंस के पराक्रम को भी प्रकट करने के उद्देश्य से यह सूचना मिलती है कि कंस जो समस्त सुरासुर समूह का शिरोमणि प्रतापाग्नि से वैरियों को दग्ध करने वाला, त्रिभुवन की जयलक्ष्मी को अपने मण्डप में आश्रित करनेवाला प्रचण्ड भुजदण्डयुक्त, सकलवीरवेश वाला है उस कंस के मद का ध्वंसन करने की अभिलाषा प्रकट करने में किसका साहस प्रकट होता है ? अभिलषित अभिप्राय का कंसपक्षधरों को पता चल जाने के कारण नटी कम्पित होती है कि यह कौन असमय में प्रलयवात के समान घर्षण शब्द करता हुआ, ब्रह्माण्ड को भी खण्डित करने वाला दसों दिशाओं के हाथियों की गर्जना एवं चीत्कार युक्त कर्कश ध्वनि करने वाला विद्यमान जन है ? शीघ्र ही कंसपक्षधारी का संकेत मिल जाता है।

सूत्रधार कंस की उपेक्षा पिता-माता, बहिन, बहनोई के मारनेकी अभिलाषा को जानकर ही करता है। तभी प्रस्तावना के आगमन के साथ ही कंस का भी प्रवेश होता है जो अपने दर्पनाश को सुन कर क्रोधित होता हुआ अपने पराक्रम की आत्मप्रशंसा करता है एवं स्वयं को दुर्मदों को नष्ट करने वाला अकेला वीर त्रिभुवन में समझता है, अन्य देवों की सामर्थ्य भी अपने सामने नगण्य समझता है[3]।

क्षीरसागर में शयन करने वाले विष्णु, हिम पर्वत पर लीन शिव एवं परमासीन ब्रह्मा भी समय-समय पर यक्षगणों को ही देखने के अतिरिक्त कंस को देखने में समर्थ नहीं हैं। तभी नेपथ्य में श्रीकृष्ण को कंस एवं अन्य विशिष्ट देवताओं से अधिक सामर्थ्यवान्

---

१. कंसवध--प्रथम अंक--२७

२. वही--२८ " वसुदेवदुःखहारी नारीनयनोत्सवो जलदकालः ।
शौरिरिव सीरिमित्रं कंसमदविध्वंसं कुरुते ॥

३. वही--१।३२

प्रदर्शित करने के लिए रचना की जाती है परन्तु कंस आत्मविश्वास रूपी अंकुर के दृढ़ भूमि में रोपे गये बीज का भेदन न कर पाने में समर्थ दैवी वाणी पर भी अविश्वास करता है। इसका कारण दैवों द्वारा पुनः पुनः पुराण पुरुष के अवतीर्ण होने की बात का कहना है। कंस अपनी सामर्थ्य से सब देवताओं को सशंकित किये हुए है तभी उसके मन में यह शंका जाग्रत होती है कि वास्तविक रूप से तो पुराण पुरुष का शायद अवतार नहीं हुआ, मुझे भयभीत करने के लिए ही विद्वेषी दैवों द्वारा ऐसा कहा गया है। यही शंका कंस-वध में सहायक होती है।

यद्यपि कंस को आकाशवाणी, योगमाया, नारद द्वारा वैकुण्ठनाथ के गोकुल में अवतीर्ण होने के वृत्तान्त का पता चल चुका है[१]। कहीं-कहीं ऐसे भी प्रसंग दृष्टिगत हैं जहाँ पर वह बाह्य मनःस्थिति को भिन्न रूप से आत्मविश्वास रूप से प्रकट करते हुए भी आन्तरिक मनःस्थिति में शंकित दिखायी पड़ता है, तभी तो वह इन सब बातों को अनर्थ का बीज समझ कर भी किसी सीमा तक उपेक्षणीय भी नहीं समझता।

द्वितीय अंक के प्रारंभ में ही सानर्जय के प्रवेश करने के साथ ही साथ कंस कोभी महामात्य से उसी कंस वर्ग से बैर रखने वाले पुराण पुरुष नराकारधारी कृष्ण का पुष्ट प्रमाण भी मिल जाता है तभी वह स्मरण करके कहता है कि क्या यह सचमुच किंवदन्ती है कि नन्दगोप यशोदा द्वारा गोकुल में पालन-पोषण किया गया, बाल-लीला का आचरण करता हुआ वसुदेव वासुदेव वृद्धि को प्राप्त हो रहा है जो कि अमानुष गुणाकृति एवं अपौरुषेय कृत्य करने पर भी पुरुष रूप से अनुमित होता है, क्योंकि जिसे मारने के लिए पैतृक पूतनादि प्राक् प्रेषित क्रूर भी समर्थ न हो सके[२]।

तभी गर्ग का मिलन होता है। वह अपने गोकुल जाने का निमित्त उत्पातों को नष्ट करना बताते हैं एवं उनकी ग्रहशान्ति का उपाय भी करते हैं[३]। इसके बाद उलूखलबंधन एवं यमलार्जुन-भंग का प्रसंग है[४]।

---

१ इस नाटक में नेपथ्य स्थित पात्र के द्वारा अतुलनीय भगवान् के बालरूप से अवतीर्ण होने की सूचना मिलती है जिसके द्वारा पता चलता है कि वह कंस के दमन में समर्थ हैं। कंस के आत्मविश्वास को खण्डित करने में यह सबल प्रमाण है। पीताम्बरधारी कृष्ण को पर्वत की गहरी गुफा में विहार करने वाला बताया गया है।--प्रथम अंक, श्लोक ३३।

२. कंसवध--द्वितीय अंक--श्लोक ३ और ४

३. वही--~~[illegible]~~ श्लोक ५।

४. वही--अंक २, छठवां श्लोक

गर्ग द्वारा ही शकटासुर[1],तृणावर्त[2] एवं पूतनावध[3] की सूचना मिलती है जो कि भागवतपुराण के अन्तर्गत कृष्ण द्वारा किये अद्भुत कृत्यों की कथा शैली साम्य रखती है। राक्षसी पूतना का त्रिभुवनमनमोहन रूप भी भागवत[4] से साम्य रखता है। परन्तु इसी अंक के २।५ श्लोक से यह बात भी ध्वनित होती है कि नाटककार सुश्रुतसंहिता से भी प्रभावित है जहां पर पूतना को बालरोग रूप में बताया गया है[5]। इन सब उत्पातों से भयभीत भागवत की भांति ही यहां पर भी वृद्ध उपनन्द नामक गोप की मन्त्रणा से ही वृन्दावनगमन होता है ।

यहां परभी श्रीकृष्ण के अभीप्सित दुष्ट संहार रूपी फल की प्राप्ति के लिए ही कपटों का कलेवर रूप प्रलम्ब एवं धेनुक का आगमन होता है जो श्रीकृष्ण की लीला मात्र से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। प्रच्छन्नमूर्तिवाले विविध मायावेष वाले केशी के वध की सूचना भी नेपथ्य द्वारा प्राप्त हो जाती है कि इसके हन्ता श्रीकृष्ण ही हैं। इस अंक की समाप्ति पर ही गर्ग द्वारा श्रीकृष्ण एवं बलराम को धनुर्यज्ञ में कंस द्वारा आदिष्ट अक्रूर के साथ मथुरा ले जाने की भी भावी सूचना मिल जाती है। इसी प्रधान सूचना से युक्त ही तृतीय अंक का आविर्भाव होता है। तृतीय अंक के प्रारम्भ में ही श्रीकृष्ण एवं बलराम को ले जाने के लिए रथारूढ़ अक्रूर और सारथि का प्रवेश होता है ,यद्यपि अक्रूर अपने राजा के नृशंस कर्मों से अनभिज्ञ नहीं है वह देवकी के सातों सन्तानों को मार डालने की बात जानकर भी कंस की निन्दा करता है। देवकी की सातवीं संतान तो बलराम ही थे परन्तु यहां पर सातवीं सन्तान के मारने का अभिप्राय योगमाया से है।

अक्रूर अपनी आत्मा को धिक्कारता है पर राजकीय आज्ञा का उल्लंघन करना भी उचित नहीं समझता क्योंकि अवहेलना करने से मृत्युदण्ड की ही प्राप्ति होगी तभी तो सूत भी भगवान वासुदेव पर श्रद्धा करने के कारण निन्दक कर्म में प्रवित्त नहीं होना

---

१. कंसवध--२।७
२. वही --२।८
३. वही --२।५
४. भागवतपुराण १०।६।४ (कंसवध द्वितीय अंक श्लोक १०)
५. सुश्रुतसंहिता (उत्तरतंत्र--अध्याय २७।३७

बाल्ता, क्योंकि भगवान वासुदेव द्वारा छिक रमक होने की शंका उसके हृदय में विद्यमान है परन्तु अक्रूर उसे सर्वान्तरात्मा सर्वद्रष्टा भगवान् के स्वरूप का ज्ञान कराते[1] हैं, क्योंकि सारथि की बुद्धि का वहां तक प्रवेश नहीं हो पाया था । उसे जानकर ही वह भगवान् की मनमोहिनी मूर्ति का दर्शन कर नेत्रों की सफलता समझता है ।

अक्रूर भगवान् कृष्ण के रूप का स्मरण करते हैं जो कुवलयदल के समान श्यामकांति वाले, किशोराकृति, शृंगार से युक्त अमृतस्वरूप[2] हैं । इसके साथ ही साथ सूत द्वारा सूर्य के अस्ताचल वर्णन से और अक्रूर द्वारा दिनश्री सूर्य के सन्ध्यार्चन में प्रवेश करने के कथन से तमान्धकार से रंजित वातावरण की सृष्टि होती है । गायों के रव-श्रवण से इस बात की भी सूचना अक्रूर एवं सूत को मिल जाती है कि गोकुलनाथ गायों के समूह को लौटा कर ले आये हैं ।

गायों के हुंकार से अक्रूर को अक्षतानन्द की उपलब्धि होती[3] है एवं इस बात की भी प्रतीति होती है कि नन्दघोष की भूमि में पहुंच गये हैं क्योंकि कृष्ण की मुरली ध्वनि का भी सुनाई पड़ना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण ही है ।

यहां पर भी भागवत की भांति ही मुरली की ध्वनिमात्र से स्त्रियों के नेत्रों के विचलित हो जाने की बात कही गयी है । यह स्त्रियां यहां पर आभीर स्त्रियां ही हैं ।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि आभीर संस्कृति का प्रभाव नाटककार पर भी पड़ा, घोषकी स्त्रियां आभीर ही कही जाती थी ।

तदुपरान्त कृष्ण का प्रत्यक्ष रूप से दर्शन अक्रूर को होता है क्योंकि वह स्वयं ही उपस्थित हो गये हैं । उनकी तमालवृक्ष की तरह श्यामल, कोमल अंगकान्ति एवं अधरों पर रखी मुरली समस्त विश्व को मोहित करने में समर्थ[5] है तभी तो उस रूपरस का पान करके अक्रूर ध्यान में निमग्न हो जाते हैं कि यह कौन पूर्णब्रह्म सगुण रूप का आश्रय लेकर उपस्थित है इसकी मनमोहिनी व्यंजना अक्रूर इसी अंक के इक्तीसवें श्लोक

---

१. सर्वान्तरात्मा भगवान्सर्वकृत्यवीक्षकः ।
न मामनन्यशरणमन्यथा प्रतिपत्स्यते ।।--कंसवध--तृतीय अंक छठवां श्लोक ।

२. कुवलयदलदामश्यामकान्तिः कलावान्नयनतुलकनीय : कोऽपि पीयूष राशिः ।
--वही, श्लोक ७ ।

३. वही-- ३।२३

४. वही--तृतीय अंक २८ वां श्लोक ।

५ वही --तृतीय अंक ३१ वां श्लोक ।

में करता है । अंक की समाप्ति पर राम कृष्ण के लौटने की प्रतीक्षा में रत यशोदा-नन्दगोप आतिथ्य की सामग्रियों से युक्त आगमन करते हैं ।

चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में ही वेत्रपाणि पुरुष को गर्गद्वारा आदिष्ट,देवक के द्वारा राम-कृष्ण के मथुराप्रस्थान यात्रा के शुभ मुहूर्त को ज्योतिष गणना द्वारा अनुकूल नक्षत्र देखने की सूचना प्राप्त होती है एवं प्रशस्यतर यात्रा मुहूर्त उषाकाल में ही सिद्ध होता है जो कि शत्रुवध सम्बन्धी अर्थ की सिद्धि में सहायक है।[1] उसी समय रत्नापीड का आगमन होता है जो अक्रूर के आगमन से संभ्रमित हुआ आतिथ्यसंभावना से युक्त होकर अर्धरात्रि तक भी निद्रा में निमीलित नहीं हो पाता है । एक तरफ तो कृष्ण-बलराम के गमन का दुःख भी है । इसी तरह देवक भी हर्ष के स्थान पर विषादागमन पर अत्यन्त दुखी होता है एवं रत्नापीड इस बात की उद्भावना भी उससे करता है कि गुप्त षड्यन्त्र करने वाले मामा [illegible] कंस द्वारा कृष्ण पर द्रोह करने के कारण अत्याहित की भी संभावना हो सकती है,परन्तु देवक तो परम-भागवतप्रिय सुहृद अक्रूर पर गाढ़ विश्वास रखने के कारण अमंगल की कामना नहीं करता क्योंकि अगर ऐसा संभव होता तो कल्याणयुक्त अक्रूर दौत्यकर्म स्वीकार ही नहीं करते । किन्तु रत्नापीड का हृदय तो शंकित है वह सोचता है कि राजा के रंजन के लिए भी अक्रूर इस कार्य को अंगीकृत कर सकता है परन्तु देवक के हृदय में इस दुराशय की संभावना का लेशमात्र भी दर्शन नहीं होता ।

इसी बीच नेपथ्य से ही रामकृष्ण के प्रस्थान की सूचना मिलती है । तदुपरान्त रामकृष्ण,सुदामाक्रूर को साथ लिये यशोदा नन्दगोप का प्रवेश होता है जो राम कृष्ण के गमन पर दुःखी हैं पर अक्रूर उन्हें आश्वासन देते हैं । राम-कृष्ण समीप जाकर पिता की गोद में स्थित हो जाते हैं । दोनों के नेत्रों में जल आ जाता है,क्योंकि वह अपने दोनों को ही जन्मकाल से माता-पिता के क्लेश का कारण बताते हैं[2] और उन दोनों का आश्वासन

---

१. चन्द्रः पुष्यगतस्तृतीयभवने सिद्धिप्रदो दक्षिणः
केन्द्रस्थाः कथयन्ति सौम्यखचरा योगाधियोगं शुभम् ।
— कंसवध—४।७

२. कंसवध— ४।१५

आश्वासन देते हैं कि मामा को देख कर शीघ्र वापस आयेंगे अतः दुःख करना उचित नहीं है। तभी वृद्ध गोप कल्याण की कामना करते हैं क्योंकि विघ्नों पर विजय प्राप्त करना ही कल्याणप्रद है। उसी समय भद्र समष्टि की कामना भी की गयी है। वायु और दिशाओं को भी कल्याणकारी सृष्टि करने में सहायक होने की वांछा की गयी है।

प्रयाण वेला की मुहूर्त सन्निकट आने पर नन्दगोप तो मूर्च्छित होकर गिर जाते हैं पर यशोदा उनको आश्वासन देती हैं[१] क्योंकि वह अपनी भावनाओं के प्रबल वेग को निरुद्ध करने में समर्थ हैं। मां को अपने बालक के प्रति स्नेह तो स्वाभाविक होता है, वह किसी भी परिस्थिति में शोकावेग से युक्त होकर भी अमंगलसूचक कृत्य नहीं करती, जिससे उसके बालक को किसी प्रकार का क्लेश प्राप्त हो। ठीक इसी प्रकार यशोदा भी दोनों बालकों पर गाढ़ानुराग रखने पर भी प्रयाणावसर पर अश्रुपात करके हानि नहीं पहुंचाना चाहती क्योंकि दोनों शत्रुस्थान पर जा रहे हैं। वह ईश्वर से शुभकामनाओं को प्रदान करने की कामना ही करती हैं। ब्राह्मणों से स्वस्तिक वचनों का पाठ भी कराती हैं जिससे बालकों का कल्याण अप्रतिहत हो। मयूर, गायें, पक्षिगण सबकी कृष्ण के गमन के कारण विकलावस्था है तो मनुष्य, स्त्री और बालकों का तो कहना ही क्या। इन सब के बावजूद भी यशोदा उन सबकी भावनाओं को नियंत्रित करने का प्रयास करती हैं।[२]

यहां पर राधा के वियोग का वर्णन उपस्थित नहीं किया गया है। वह दूती द्वारा ही प्रस्तुत होता है। जो विरह की आतप पीड़ा वाली कृष्ण को ही केवल जीवन का आधार मानने वाली राधा की कृष्ण द्वारा की गयी उपेक्षा को गर्हित समझती है। तभी कृष्ण को राधा की सहचरी एवं संदेशवाहिका विलासवती के दर्शन होते हैं जो विवश हृदय से अत्यधिक प्रिया का आवेदन करती है।

---

१. यशोदा--आर्य समाश्वसिहि, समाश्वसिहि। अयुक्तमिदानीं शोचितुम् अमंगलम् खल्वेतद् प्रवासिनाम्। तद्वर्धयास्व शुभाशीर्भिः। मानयस्व कुलदेवताः। कथ्यन्तां स्वस्तिवाचनिका ब्राह्मणाः। दीयन्तां वायनानि सौभाग्यवतीनाम्। यथा वत्सानां कल्याणमप्रतिहतं भवति।-- कंसवध --अंक ४ पृ० ३९।

२. मायूरा रुदन्ति न रुवन्ति पतंगसंघा गावस्तृणानि न चरन्ति न वान्ति वाताः। भृंगाः पिबन्ति न मधूनि हरौ प्रयाते निर्वीचिता इव दिशः प्रतिभान्ति शून्याः।। तदद्य वत्सप्रवासशोकावेशविकलमात्मानमात्मनैवावष्टभ्य व्रजवासिनो लोकान्परिसान्त्वयाव:। --कंसवध अंक ४ पृ० ४०।

कृष्ण दुखी होकर राधा की विरहावस्था के बारे में पूछते हैं और विशाखवती विरहदता की अवस्था का वर्णन करती है। कृष्ण यहां पर राधा को अपना अंग बताते हैं। जिस प्रकार से चन्द्रप्रभा चन्द्रमा के बिना नहीं रह सकती उसी प्रकार राधा की स्थिति का होना भी स्वाभाविक है। कृष्ण सुदामा से प्रयाणावसर पर होने वाली राधा की विरह दशा का चित्रण करते हुए कहते भी हैं कि-- मेरे वियोग से बाधित राधा की उपेक्षा करना भी मेरे लिए ठीक नहीं है, परन्तु मामा के पास जाना भी रोका नहीं जा सकता है। सब तरफ से शोक की स्थिति ही आसन्न है।[1][2]

इसके पश्चात् सुदामा द्वारा वृन्दावन की अनेक उपमाओं द्वारा प्रशंसा की जाती है और वृन्दावन आ जाने पर कृष्ण भी वहां की शोभा एवं स्मरणों से युक्त होने के कारण वहां पर ही विश्राम करने की बात कह कर अगले दिन मथुरा जाने की बात कहते हैं। अक्रूर द्वारा इस बात का समर्थन किये जाने पर सन्ध्या वेला का आगमन होता है।

इसके पश्चात् पंचम अंक में सुनन्द नामक गोप प्रवेश करता है एवं नन्दगोप की रामकृष्ण के प्रयाणावसर पर दुखी दशा का निवेदन करता है। वह नृशंस कंस पर विश्वास नहीं करता है क्योंकि दुराशय से युक्त कुटिल नीति की निबन्धना में कंस निपुण है। सुनन्द भी कृष्ण को देखने के ब्याज से वृन्दावन जाकर सुदामा से कहते हैं कि नन्द-गोप सुहृद के साथ मन्त्रणा करके शकटाधिरोपित विविध सामग्रियों, गोधन और गोपी-प्रधान से युक्त होकर वृन्दावन शिविर में स्थिर रहे परन्तु वृद्ध गोप, पिता, मां आदि कोई भी दोनों बालकों को रोकने में समर्थ नहीं हुए। इसके बाद राम-कृष्ण का प्रवेश होता है जो यमुनातीर एवं शरद ऋतु को देखते हुए मथुरा नगरी में पहुंच जाते हैं। राजधानी में पहुंचने पर कुब्जक द्वारा रामकृष्ण के लिए राजपुर के योग्य वस्त्र की याचना रजक से करने पर रजक द्वारा उसकी अवहेलना की जाती है। तभी परिचारक कुब्जक नन्दगोप-पुत्र की महिमा एवं साहसिक कृत्यों का वर्णन करता है जो उन्होंने शकटासुर,

---

१. मां विना न क्षणं प्राणान्धारयेदंगी राधिका वामा
न चन्द्रेण विना चान्द्री प्रभा भवितुमर्हति ।। -- कंसवध-- ४।४०

२. वही-- ४।४५ -- राधा को इस नाटक में आभीरकामिनी ही कहा गया है। यह आभीर संस्कृति का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

धेनुक,पूतना,कालिय,अरिष्ट आदि दैत्यों को मार कर किये थे।[1]

रजक अपने स्वामी की महिमा श्रीकृष्ण के छह भाइयों के मार डालने मात्र से ही समझता है तभी कृष्ण की निन्दा इस तथ्य के आधार पर करता है कि श्रीकृष्ण अपने माता-पिता की उपेक्षा करके नलपल्ली में छिपकर अवस्थित रहे। इस दुर्बुद्धि की बात से कंस के महान उद्देश्य की भी सूचना मिल जाती है जिसके लिए रामकृष्ण का आवाहन किया गया है। बलराम शोकाकुल होकर इन बातों को सहने में समर्थ नहीं हो पाते हैं तभी कृष्ण को रजक के वध का आदेश देते हैं।[2] कृष्ण इस बात को स्वीकार करके रजक का वध ही कर देते हैं।

श्रीकृष्ण के महान साहसिक कृत्य को देख कर आश्चर्यचकित होकर श्रीकृष्ण के बल-वैभव पर आस्था रख कर पुरुष का प्रवेश होता है और उन्हें दिव्य वस्त्र प्रदान किये जाते हैं। उन दिव्य वस्त्रों को धारण करके बलराम दिव्य गन्धानुलेप की भी याचना करते हैं। तभी सुदामा आकर राजा के पूजोपकरण हेतु लायी गयी सामग्री में से आसन,अर्घ्य एवं ताम्बूलगन्ध कुसुम प्रदान करते हैं क्योंकि वह श्रीकृष्ण तत्व को पहचानने वाले हैं। सुदामा को पृथ्वी तल पर बालरूप से अवतीर्ण होने वाले श्रीकृष्ण का कारण भी ज्ञात हो चुका है,वह कारण भारावतरण ही है।[3]

इसके पश्चात् श्रीकृष्णदर्शनोत्कण्ठित कुब्जा का प्रवेश होता है। उसे सहसा कृष्ण के दर्शन हो जाते हैं और वह हर्षित होकर उनके रूप-सौन्दर्य की इतनी सुन्दर उद्भावना करती है कि हृदय उस सौन्दर्य से आपूरित हो जाता है।[4] कुब्जा प्राकृत में ही इस सौन्दर्य का वर्णन करती है। इस कोमलकान्तपदावली में सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है।

---

१. कंसवध-- ५।१६

२. वही-- ५।१८

३. भूमिभारावताराय चरन्तीं बाललीलया।
   अनादिनिधनां पूर्णां मूर्तिमेवमुपाश्रितौ ॥--कंसवध ५।२७

४. एष दृश्यते पुण्डरीक नयनो नीलोत्पलश्यामलः
   पादालम्बितकण्ठमालाभूषणः पीताम्बरोऽम्बरः
   गौराङ्गेण च यात्रानुगतो नीलाम्बरोद्भासिना।
   गंगास्रोतसमागता इव यमुनापूरो यशोदासुतः।-- कंसवध -- ५।३१

कंस की अन्त:पुर की परिचारिका त्रिवक्रा नाम की कुब्जा अपने राजा के लिए अंगराग लेकर जाने का अभिप्राय कृष्ण को बताती है। वह भगवान् श्रीकृष्ण की अनन्य भक्त है तभी तो वह भगवान् श्रीकृष्ण से वक्राकृति को सुरूप में करने की अपेक्षा[1] करती है क्योंकि वह उनकी शक्ति-सामर्थ्य से परिचित है। वह अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्णता प्रदर्शित करती है और शब्दों से ही श्रीकृष्ण को इस प्रकार प्रभावित करती है कि जब कृष्ण उसकी वक्रता का निवारण करते हैं उस समयकोई असाधारण बात होने की प्रतीति नहीं होती है क्योंकि वह वह उस दिव्य रूप को प्राप्त करने की उचित पात्र है। कृष्ण कुब्जा से अपने मथुरागमन का उद्देश्य कंसवध,उग्रसेन को राज्याभिषिक्त करना व अपने माता-पिता को कारागार से मुक्त कराना बताते हैं।[2] इसके बाद कृष्ण अपने माता-पिता के चरणकमलों के दर्शन से उत्कण्ठित एवं बन्धुओं के मुख देखने से व्याकुल हुए से राजधानी में प्रवेश करते हैं,तभी बलराम उन्हें सान्त्वना देते हैं कि चिन्ता व्यर्थ ही है क्योंकि कंसवध निश्चित ही है। ऐसे महान् विश्वास के साथ राजकुल में प्रवेश के लिए दोनों के चले जाने पर ही पंचम अंक की समाप्ति होती है।

षष्ठअंक के प्रारंभ में ही वैनपाणि के प्रवेश करने पर उसके द्वारा राजा की उदारता एवं निर्दयता पर आश्चर्य व्यक्त किया जाता है क्योंकि एक तरफ तो वह अपनी बहिन के कितने पुत्रों को मारता है दूसरी तरफ अपने बल से अर्जित राज्य प्राप्त कर लेने पर बन्दीजनों को भी मुक्त कर देता है। क्रूर कंस के द्वारा इस समय भी कृष्ण उपेक्षा के पात्र नहीं है क्योंकि वह आदेश दे चुका है कि बालक होने के कारण अभीतक तो उपेक्षा ही की पर अब उसका वध ही श्रेयस्कर होगा। यह कंस का अपना विचार है।

कंस द्वारा राम-कृष्ण का वध करने के विचार से ही कुवलयापीड हाथी और युद्धकुशल योद्धाओं को बुलाया जाता है। तभी नेपथ्य से इस बात की भी सूचना मिलती है कि कंसकुलकानल हरि द्वारा कुवलयापीड भी पीड़ित कर दिया गया। इस कुवलयापीड के मृत्यु प्राप्त हो जाने पर कंस द्वारा वीरभटों को पहले से की गयी मन्त्रणा के आधार

---

१. दैवकृतं ममाकृतेर्वक्रत्वम्। तदन्यथा किं कर्तुं क्षमम्। -- कंसवध--पंचम अंक,पृ० ६५

२. हत्वा कंसं निहत्याखिलदितिजकुलं तद्भटानुद्भटांश्च
प्रोन्मथ्याशेषसैन्यं निगडनियमितं तत्पदे चाभिषिच्य
कारागारे निबद्धौ चिरतरमविरामाभ्यामभिचित्य च स्वतातौ
प्रत्यावृत्त: कृतार्थ: किल तव भवनस्यातिथित्वं विधास्ये।

--कंसवध--पंचम अंक श्लोक ३८।

पर बुलाया जाता है क्योंकि राम-कृष्ण दोनों को मल्लरंग कौतुक व्याज से मार डालने का विचार है । रूपकता में कंस तो इत्यादि से शलतोशल आदि को द्वार पर रख कर बन्धुओं सहित उन सब पर विजयी होता है । इस प्रकार से वेत्रपाल कोष्ठपाल से मल्लरंगभूमि में पौरजन का परीक्षण करने को कह कर निकल जाता है । उसके बाद राम-कृष्ण चाणूर मुष्टिक सहित प्रवेश करते हैं ।

चाणूर अपने कथन से युद्ध जानने की बात कह कर कृष्ण से कर्म को जानने की अनभिज्ञता प्रकट करता है परन्तु मल्ल तो महाराजा द्वारा गोकुल में महाबली गोपालों सहित मल्लक्रीडा करने वाले कृष्ण के बारे में सुन चुका है, तभी तो वह राजा के प्रमद देखने के कौतुक को और भी पूर्ण करने की बात कहता है ।

कृष्ण उन दोनों से युद्ध विद्या सीखने की याचना कर उन्हें अपना आचार्य समझते हैं एवं उनकी शिक्षा का अनुकरण करने का आश्वासन भी देते हैं । उन बातों को सुनकर दोनों शिक्षा देने के अभिप्राय से अनुकरण करने को कहते हैं और राम-कृष्ण द्वन्द्व-युद्ध का अनुकरण करते हैं क्योंकि वह सर्वज्ञ भगवान् दोनों मल्लों के हृदय की बात जान लेते हैं तभी तो द्वन्द्वयुद्ध में मुष्टिका से जंघास्थल एवं वक्ष को विदीर्ण करके दोनों को शीर्ण कर देते हैं ।

नेपथ्य द्वारा चाणूरमल्ल के हनन के सम्बन्ध में एवं कोष्ठपाल द्वारा मुष्टिका से मुष्टिक के मारे जाने की सूचना मिलती है । मद से मण्डित द्वार को अवरुद्ध करने वाले कुवलयापीड हाथी को भी मार कर दोनों रामकृष्ण रंगभूमि में प्रवेश करते हैं तभी कंस अपनी मृत्यु से भयभीत होकर सामन्त सदस्य से उन दोनों को निकाल देने की बात कहता है ।

कृष्ण को भी मल्लक्रीडा श्रम से क्लान्त शोभा पुते हुए अंगराग से युक्त है, फिर भी कंस कृष्ण के बालस्वभाव से चपल होने एवं गुणदोष से अज्ञात होने पर भी कूट युद्ध से रामकृष्ण को मारने की इच्छा करता है । उसके इस अभिप्राय को जानकर नेपथ्य में स्थित गण दुखी होते हैं ।

नेपथ्य से कंस के भयभीत होने और उसकी राजाज्ञा के उल्लंघन करने से रामकृष्ण को पकड़ने की बात कही जाती है । यहाँ तक कि उसके साथ ही साथ कंस अपने पिता उग्रसेन को मार डालने का विचार करके और अपनी बहिन को भी गाढ़ कारागार में निग्रह करने की बात सोचता है परन्तु कृष्ण इन सब बातों को जानकर भी अपने मामा

कंस को मारने का विचार करने में समर्थ नहीं होते । तभी तो वह करुणाप्रवर अपने मन की बात को भी कंस से कह देते हैं । बलराम कृष्ण को कंस को मारने का प्रोत्साहन देते हैं कि यह समय विचार-विमर्श का नहीं है[1] । तभी कृष्ण आर्य के आदेश का अनुसरण कर कंस को मंच पर से बालों द्वारा कर्षण करके बाज की भांति बालों को पकड़ कर शिला पर पीड़ित करके गिरा देते हैं और कंस मृत्यु को प्राप्त हो जाता है एवं उसमें से निकली ज्योति द्वितीय कृष्ण की भांति भयभीत एवं बुद्धि को चमत्कृत करने वाली होती है[2] ।

बलराम कृष्ण का सहर्ष आलिंगन करते हैं पर कृष्ण अन्यमनस्क से बैठे हुए हैं एवं बलराम उन्हें दैत्यवध से हर्षित होने के लिए कहते हैं । यहां पर कंस का वध रंगमंच पर अभिनीत है जो नाट्यशास्त्र के नियम के विरुद्ध है पर उस दोष का निराकरण इस बात से हो जाता है जब बलराम दैत्यवध से हर्षित होने की बात कह कर सामाजिकों की रसास्वादता में विच्छिन्नता नहीं आने देते क्योंकि क्रूर कंस का वध भक्तों और साधुजनों के लिए श्रेयस्कर है । इस बात से नायक कृष्ण द्वारा हिंसा दोष से लिप्त होने की बात का भी निराकरण हो जाता है ।

सप्तम अंक में विश्वकर्मा भगवान् वासुदेव का आदेश सुनाते हैं कि आज कंस के पद पर उग्रसेन का अभिषेक करने की इच्छा करता हूं । यह सुन कर कंस के भय से पलायन किये गये नगरवासी भी आते हैं और इसके साथ कुलाचार्य शाण्डिल्य का भी प्रवेश होता है । शाण्डिल्य भी आश्चर्यचकित हैं कि भगवान् स्वबल से अर्जित राज्य को कैसे दूसरेको प्रदान कर रहे हैं । वह भी श्रीकृष्ण की महिमा से अनभिज्ञ ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि कृष्ण तो राज्यलिप्सा से कोसों दूर हैं पर विश्वकर्मा भगवान् के महान् स्वरूप का वर्णन कर उनके स्वरूप का ज्ञान करा देते हैं[3] ।

इसके पश्चात् ययाति द्वारा यदु को दिये शाप द्वारा यदुकुल के राज्यभाजन के सम्बन्ध में शाण्डिल्य कहते हैं कि पुराणों में भी इसकी भली कथा है तभी कृष्ण भी स्वार्जित राज्य का भी भोग नहीं करते । विश्वकर्मा द्वारा श्रीकृष्ण का देवकी वसुदेव

---

१. वा क्षत्रियतनय नैष विमर्शकालः पापस्य संगरमुपेदुष एष धर्मः । क्व द्रुहः विल खिलान्निहन्तुं विश्वाश्रयस्य भवतो भवतोऽवतारः ॥

-- कंसवध--षष्ठ अंक ४२ वां श्लोक ।

२. कंसवध--षष्ठ अंक, ४५वां श्लोक ।

के कारागार के गाढ़ बंधन के भेदन हेतु जाने का कारण जानकर शाण्डिल्य भी वहीं का अनुसरण करता है।

देवकी-वसुदेव कृष्ण का आलिंगन करके अत्यन्त हर्षित हो जाते हैं और इसी हर्षातिरेक को निरुद्ध न करने में समर्थ सीमा बांध को तोड़ता हुआ अश्रुजल भी प्रवाहित होने लगता है। देवकी इस बात से भी अत्यन्त दुखी होती है कि उसे अपने बालक के पालन का सुअवसर[1] प्राप्त नहीं हुआ और उससे उत्पन्न बालकों को दुष्टों का संहार कर्म करने में कष्ट भी प्राप्त हुआ।

इस नाटक में देवकी की महानता एवं स्वार्थरहित प्रेम की गंध भी मिलती है। कृष्ण द्वारा उसके क्रूर भाई की मृत्यु का कथन करने पर भी भाई के अन्धप्रेम में न पड़कर अशुभ कर्मों का उपभोग ही मानती है।

श्रीकृष्ण उग्रसेन के अभिषेक का समाचार भी बताते हैं एवं उग्रसेन को लेने के लिए रामकृष्ण द्वारा जाने के बाद पुन: प्रवेश होता है। रामकृष्ण उग्रसेन को देवकी वसुदेव से मिलवाने के लिए जाते हैं और उनका हृदय भी अत्युत्कंठित है। राजा भी देवकी,वसुदेव को स्वजन रूप से ही व्यवहृत करता है।

अन्त में उग्रसेन द्वारा श्रीकृष्ण के आदेश से समस्त जनपदों को पारितोषिक दिया जाता है परन्तु फिर भी वह अपने काम की इतिश्री नहीं समझते एवं कृष्ण से पूछते ही हैं कि और कोई काम तो शेष नहीं रह गया? कृष्ण[2] सब कर्मों की सम्पूर्णता के सम्बन्ध में कह कर सबके साथ निकल जाते हैं और नाटक का अन्त भरतवाक्य से ही हो जाता है।

इस नाटक का समस्त इतिवृत्त मुख्य फल के इर्दगिर्द ही भ्रमण करता है और अन्त में अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है।

इस नाटक में पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्रीपात्रों की संख्या कम है। पुरुष पात्रों में सूत्रधार,कृष्ण,बलराम,नन्दगोप,गर्ग,अक्रूर,कंस,शाल्वंध,सुनन्द,वैतमाणिपुरुष, दैवज्ञ,रजक,चाणूर,मुष्टिक,उग्रसेन तथा स्त्री पात्रों में नटी,विलासवती,कुब्जा,यशोदा देवकी हैं। इस नाटक में नायिका की श्रेणी में तो किसी को भी नहीं रखा जा सकता है। इस नाटक की आधिकारिक कथावस्तु है अतएव इसी उद्देश्यपूर्ति हेतु पात्रों को इसमें रखा गया है।

---

१. कंसवध-अंक सात--८ वां और ९वां श्लोक।
२. वही--२५ वां श्लोक।

रुक्मिणी परिणय (रामवर्मा कृत)

रामवर्मा का परिचय

रुक्मिणी परिणय केरल,देश में विद्यमान वंचि जनपद के युवराज आश्वनेय श्रीरामवर्मा द्वारा प्रणीत किया गया है। कृष्णकथाश्रित नाटकों में यह संभवत: पहला ग्रन्थ है जो कि प्रत्येक दृष्टि से सांगोपांग है। इस नाटक में आचार्य भरत के नाट्यशास्त्रीय नियमों का निष्ठापूर्वक पालन किया गया है।

युवराज रामवर्मा सुप्रसिद्ध दक्षिणात्य नरेश कुलशेखर के वंश में सन् १७५५ ई० में उत्पन्न हुए और दुर्भाग्यवश युवावस्था में ही (१७८७ ई० में) परलोकगामी हो गये। अपने ३२ वर्षीय लघु जीवन में रामवर्मा ने चार सुप्रसिद्ध कृतियां संस्कृत वाङ्मय को दी हैं--कार्तवीर्यविजयचम्पू:,वंचिमहाराजस्तव,शृंगारसुधाकरमाण तथा सन्तानगोपाल प्रबन्ध:।

रुक्मिणी-परिणय युवराज की पांचवीं सुप्रसिद्ध कृति है। रुक्मिणी परिणय की प्रस्तावना से रामवर्मा का सुमधुर,प्रामाणिक,साहित्यिक परिचय उपलब्ध होता है। इस प्रस्तावना में रामवर्मा ने अपने को कुलशेखर रामवर्मा का भागिनेय (भान्जा) बताया है। वह कुलशेखर जो कार्तिकेय की भांति अप्रतिहत शक्ति था,जो अमोघचक्रधारी की भांति शतकोटि अर्थात् अनन्त दान दक्षिणा से सबको विस्मृत करने वाला था,जो हरिचरणपरिचरणधुरीणधिषण था और जिसके चाप की प्रत्यंचा ध्वनि समस्त दिगन्तों में सुनायी पड़ती थी[1]।

उपर्युक्त विशेषणों से कुलशेखर रामवर्मा का अमोघ विक्रम एवं अक्षुण्ण पांडित्य प्रकट हो जाता है। इस संदर्भ में युवराज रामवर्मा ने अपने लिए केवल एक वाक्य लिखा है--

" भागिनेयेन संगीतादिकलाभिज्ञेन रामवर्मनामधेयेन युवराजेन निबद्धं अभिनवं रुक्मिणी परिणयं नाम नाटकम्।" इस अकेले वाक्य से यह सिद्ध हो जाता है कि नवयुवक युवराज संगीत एवं नाट्यादि कलाओं में पारंगत था। प्रस्तावना का अगला अंश यह भी सिद्ध करता है कि वह शेषाधार भगवान् पद्मनाभ का परम भक्त था।

---

१. द्रष्टव्य--रुक्मिणी परिणय की प्रस्तावना,पृ० २।

रुक्मिणी-परिणयम्

इस नाटक की कथावस्तु प्रख्यात है। इसके नायक भी प्रख्यात एवं दिव्य श्रीकृष्ण ही हैं। परन्तु इसमें कृष्ण दिव्य होते हुए भी मानवीय चेष्टाओं के प्रति सजग रह कर उसका सर्वजनग्राह्य बना कर स्वयं में दिव्यता के अनन्त तेजपुंज को अपनी कुक्षि में स्थापित कर मानव ही बने रहे हैं। यद्यपि वह अपनी मूलभूत प्रकृति एवं अंशों सहित अवतरित हुए हैं परन्तु वह गोपपुत्र एवं गोप सब गोपियां ही हैं।

नाटक के प्रारम्भ में ही नान्दी के द्वारा यह बात ध्वनित होती है कि उनका वास्तविक रूप से जन्म नन्द के घर में नहीं हुआ परन्तु फिर भी वह गोपपुत्र रूप से प्रवेश करते हुए सुख प्रदान करते हैं। नटी के गायन के समय सुरभित कमलाओं के मध्य किंचित् गूढ़, उस समय यादवों सहित पृथ्वीतल पर अवतरित होने वाले कामजनक माधव की सूचना प्रकृति की मनोहर छटा रूपी अन्योक्ति से मिलती है जो कमलाएं चिरकाल से किंचित गूढ़ रह कर समयोपरान्त कार्त्तोत्सव पर महीतल पर अवतरित हुई हैं।

प्रस्तावना के बाद नटी के द्वारा विदर्भ नगर में महोत्सव की सूचना मिलती है जिसका प्रमाणीभूत लेख है। वासुभद्र उस लेख को पढ़ते हैं जो विदर्भ नगर स्थित परिवारक उद्धव के द्वारा विज्ञापित किया गया है कि "दमघोष का पुत्र शिशुपाल रुक्मिणी से परिणय की इच्छा करता है।" उसी कथन से नाटक की कथावस्तु के मुख्यफल में विघ्न की संभावना ज्ञात हो जाती है और उसके निवारणार्थ यत्न किया जाता है।

तदनन्तर नायक वासुभद्र की दुःखित मनोदशा का वर्णन है एवं उत्कंठित होते समय वह साधारण मानव की भांति अपने मन को निग्रह करने में भी समर्थ नहीं हो पाते हैं। काम की पराकाष्ठा के परिणामस्वरूप उनका गाढ़ातुर मन जो संयमी था आज स्पन्दित होने में भी समर्थ हो गया है। मस्तिष्क में प्रियतमा की कल्पना तन्तुवाय की तरह ऊहापोह का जाला बुन कर वायु के कम्पन की तरह तरंगित होती रहती है। दारुक सारथि मनःस्थिति को समझकर रथ तैयार होने की सूचना देता है कि शायद अभिलषित का कथन हो जाये और वही होता है।

हृदयावेग को निरुद्ध करने में असमर्थ वासुभद्र कुण्डिनपुर जाने के प्रयोजन को कहकर अपने अभीप्सित कथन को कह देता है। रथवेग की सुन्दर अभिव्यक्ति के साथ

वासुभद्र के " तस्या: नि:सीम,......" इत्यादि श्लोक के पठन से रुक्मिणी के रूप-सौन्दर्य में निमग्न मनोदशा की स्थिति का पता चलता है।

विदर्भ नगर पहुँचने पर सन्ध्या बेला के समाप्त हो जाने पर वासुभद्र का कात्यायनी मन्दिर में प्रवेश होता है। द्वितीय अंक में समाप्त होने पर उद्धव प्रवेश करते हैं एवं रुक्मिणी की परिचारिक के मुख से जो उस अनुरागिणी रुक्मिणी की मन:दशा का जो श्रवण किया था,उसे स्मरण कर तदर्थ महान् कार्य सम्पादित करने का संकल्प करते हैं।

इस समय चैदिराज को छलने के लिए उद्धव द्वारा रुक्मी के गुप्तचर से गूढ़ लेख भी चैदिराज के लिए भिजवाया जाता है। नवमालिका के प्रवेश करने पर भर्तृदारिका के कुशलक्षेमोपरान्त वह अपेक्षा करता है कि इस नवमालिका की सहायता से कार्यसागर से नौका को आगे जाना आसान हो जायेगा। नवमालिका राजकुमारी की स्थिति का वर्णन करती है कि जब से कुमार द्वारा चैदिराज को समर्पित करने की प्रतिज्ञा की गयी है तब से वह म्लान बालकमलिनी प्रतिदिन दुखी होती है। इसका मनोरथ तो वाल्सूर्य वासुभद्र ही है।

उद्धव चित्र-दर्शन करके स्वगत कथन करते हैं कि सकल लोकनयनानन्ददायिनी कुमुदिनी सहज सुन्दर रमणीय चन्द्रमा को देखने की स्पृहा कर रही है। कितना मनोरम कथन है जो प्रकृति की छत्रछाया से पल्लवित होकर नायक नायिका के अभिप्राय को ध्वनित कर रहा है। नायिका नायक की स्पृहा कर रही है।

नवमालिका उद्धव से वासुभद्र के विषय में ही पूछने के लिए ही आती है। तब उद्धव कहते हैं कि" तुम्हारे वचनों के विश्वास से ही हम वासुभद्र को लेकर आये हैं एवं वह कुटिल शिष्य कपंजलि के साथ कात्यायनी मन्दिर में हैं। उद्धव अब उसे राजकुमारी के मनोरथ पूर्ण करने के लिए कहता है। उद्धव यन्त्रशाला में प्रवेश करके निकल जाता है।

इसके बाद विदूषक से वासुभद्र अपने स्वप्न को बतलाते हुए हैं। जिस भीष्मक कन्या पर वासुभद्र का मन अनुरक्त है वही स्वप्न में भी दिखायी पड़ती है। स्वप्न में वासुभद्र द्वारा यह कथन करने पर कि" वह मेरे द्वारा उत्कंठा से धारण करने पर,हिलने पर उनको छोड़ कर चली गयी" यह नायक के स्वप्न में फलप्राप्ति में विघ्न की आशा ही दिखायी पड़ती है। यद्यपि फलप्राप्ति संभव तो दिखायी गयी है फिर भी विघ्न का भय तो प्रदर्शित किया ही गया है।

स्वप्नमें देखी हुई रुक्मी का वर्णन वासुभद्र विदूषक से करते हैं। विदूषक मदनव्याधि की चिकित्सा का उपाय सोचता है। उसी समय वह आलाप सुनता है एवं वासुभद्र से भी ध्यान से सुनने के लिए कहता है।

नेपथ्य से रुक्मिणी की आवाज़ आती है " नवमालिका, शाल्वराज मुझको बलपूर्वक ग्रहण करने नगर में घुस आया है। वह विष से कवलित सर्पदंश है। एक बार उस जन का श्रीमुख पुण्डरीक देख कर कठिन शोकभाजन में अपने को डालने की अभिलाषा करती हूँ।"

इस कथन को सुन कर नवमालिका अपनी सखी से कात्यायनी देवी का पूजन करके मनोरथ संपादित करने के लिए कहती है।

पुष्पदोहन के समय नवमालिका रुक्मिणी से कहती है कि कुरवकशाखा में विलग्न पुष्पों सहित यह कुन्द तुमको लंबा झुका-सा दिखायी पड़ रहा है।"

राजकुमारी द्वारा कुन्द कथन के प्रयोजन का अभिप्राय नवमालिका से पूछने पर "मुकुन्द" का अभिप्राय ज्ञात होता है। नवमालिका कहती है--" चम्पा कुसुम में मिलित माधव की कलिदीपिका मुकुल के समान शोभित है वहां जाकर कलियां चुनें।"

यहां पर कुंद से मुकुन्द का ही अभिप्राय है। वासुभद्र द्वारा इसका विदूषक से अभिप्राय पूछने पर यही निगूढ़ अभिप्राय निकलता है।[१]

एक स्थल पर वासुभद्र के दर्शन न होने पर रुक्मिणी सखी से कहती है कि" इस उद्यान में उस जन के दर्शन होंगे,यह छलना है।" परन्तु सखी नवमालिका मन में तो उद्धव द्वारा की गयी प्रताड़ना सोच कर भी अपनी सखी रुक्मिणी को कात्यायनी के मंगल करने का आश्वासन देकर सांत्वना देती है। तभी नेपथ्य में कोलाहल की ध्वनि के साथ "प्रिय सखी का कोई मायावी विमानचर से बलात्कार करता है" यह नवमालिका का स्वर सुनाई पड़ता है। वह शिशुपाल के सखा शाल्वका दुर्विलास है तभी वासुभद्र सुदर्शनक को आदेश देकर रुक्मिणी को सान्त्वना देते हैं।

---

१. यह संदर्भ निश्चय ही युवराज रामवर्मा को कालिदास से प्रभावित सिद्ध करता है। अभिज्ञानशाकुन्तल के सातवें अंक में भी विद्रोही प्रवृत्तिवाले तथा सिंह शावकों के दांतों को गिनने में व्यापक कुमार भरत को लजाने के लिए आश्रम की महिलाएं कहती हैं-- सर्वदमन, शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व" इस वाक्य में अपनी मां (शकुन्तला) की नामध्वनि पाकर कुमार उनकी ओर बढ़ा जाता है और कहता है कि मेरी मां कहां है?

इसी प्रकार का संदर्भ " रुक्मिणी परिणय" में भी कुन्द से श्रीकृष्ण का अभिप्राय व्यक्त करने के लिए प्रसंग बैठाया है।

तृतीय अंक में रुक्मिणी-वासुभद्र के क्षणिक मिलन के पश्चात् उनके वियोग से दुखित दिखायी पड़ती है। रुक्मिणी श्रीकृष्ण का रूप आलिखित कर कहती है कि" कामदेव को पराजित करने वाले उस घन के रूप को आलेखन करने में चतुरानन भी चतुर नहीं हैं, फिर मनुष्य क्या, फिर भी मैंने साहस किया।" चित्र देख कर यह अभ्यर्थना करती है कि राधा आदि घोष स्त्रियों के ऊपर करुणा करते हुए इस समय वासुभद्र मुझ पर क्यों निर्दयी हो रहे हैं? यहाँ पर राधा घोष स्त्री के रूप में ही कथित है।

चतुर्थ अंक में चैदिराज रुक्मी के गुप्तचर द्वारा लाये गये लेख के विषय में कहते हैं कि यह अन्य अक्षरों से लिखित है। चैदिराज स्वयंवर यात्रा को प्रवृत्त देखते हैं एवं ताम्बूलदायक नारियल, कदली, कटहल से युक्त नगर को देखने के लिए भी चैदिराज से कहते हैं। कात्यायनी के वन्दन एवं वधू के विलोकन के लिए पर्युत्सुक मद श्वेत हथिनी की भाँति विदर्भ नगरी दिखायी पड़ती है।

ताम्बूलदायक के कथन पर कि यह" माधव की वधू का पाणिग्रहण" चैदिराज फौरन इसका निराकरण कर अपने को सामर्थ्य दिखाता है।

इसके बाद विदूषक वासुभद्र से कात्यायनी मन्दिर में गौरी विलास नाम के प्रासाद में जाकर गर्भगृह में स्थित होने के लिए कहता है।

तदनन्तर सादर परिगृहीत सकलपूजोपकरण से युक्त नवमालिका अंगसेना का अनुसरण करती हुई रुक्मिणी मुहूर्त निकट आने पर अत्यन्त भय से ग्रस्त दिखायी पड़ती है एवं कात्यायनी के मन्दिर में ही अपने को समर्पित करने के लिए नवमालिका से कहती है। सखी उसे शुभ होने का आश्वासन देती है। रुक्मिणी के वामनेत्र स्फुरण से शुभ होने की सूचना मिलती है। तभी नवमालिका भौंहों से वासुभद्र को इंगित करती है एवं रुक्मिणी रत्नस्तम्भ से वासुभद्र की आकृति देखती है। इसके बाद दोनों का मिलन होता है।

पंचम अंक में विदर्भेश्वर अमात्य प्रवेश करते हैं। सिंह केतु अमात्य से कहता है कि समर के लिए दृढ़प्रतिज्ञ वासुभद्र को देख कर रुक्मिणी का यह कथन कि तुम्हारे चले जाने पर मेरी क्या गति होगी--वासुभद्र सांत्वना देते हैं कि मेरे रहते हुए कौन मन से भी ध्यान कर सकता है; यह प्रेम की पराकाष्ठा है। भावी घटना को कौन रोक सकता है। फिर भी चैदिपति ने जरासन्ध शाल्व प्रमुख महापति के द्वारा कृष्ण

का मार्ग निरुद्ध करने का अथक प्रयास किया गया था । तदुपरान्त अभीप्सित की प्राप्ति हो जाने पर रथ उज्जयिनी तक पहुंच जाता है । यही फलागम अवस्था है । इसके बाद वासुभद्र वाराणसी की वन्दना करते हैं । वृन्दावन का स्मरण करते हुए वह राधादि का स्मरण करते हैं ।

इस नाटक में कृष्ण धीरोदात्त नायक के रूप में ही चित्रित हैं पर कतिपय स्थलों में वह भावावेश से संयुक्त होकर अपना धीरललित रूप भी प्रदर्शित कर ही देते हैं । इस कथा का मूलस्रोत भागवत में भी विद्यमान है[1] ।

इस नाटक में कवि द्वारा मौलिक उद्भावना भी की गयी है जिसका प्रसंग उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण को दमघोषपुत्र शिशुपाल से रुक्मिणीपरिणय की सूचना पत्रिका द्वारा प्रदान करने में है । भागवत पुराण में मूलकथा का रूप इस प्रकार का नहीं है । इसमें रुक्मिणी स्वयं ब्राह्मण को श्रीकृष्ण के लिए सन्देश दिलवाने भेजती है एवं श्रीकृष्ण से राक्षसविधि द्वारा विवाह करके ले जाने की प्रार्थना करती है[2] ।

इस नाटक में तो रुक्मिणी की स्वीकृति केवल अर्थपूर्ण शब्दों से भी संभावित होती है जो उसकी सखियों द्वारा[3] संदेश में कहे गये थे जबकि लोग रुक्मिणी से कृष्ण के परिणय की आकांक्षा करते थे ।

रुक्मिणी की विनम्रता ,गरिमा शब्दों में ही निहित रखी गयी तभी तो उसका चरित्र और भी उज्ज्वल रूप से कान्तियुक्त हो गया ।

परवर्ती संस्कृत नाटकों की समस्त राजकुमारियों के तुल्य रुक्मिणी भी चित्रकला में प्रवीण थी तभी तो शाल्व द्वारा हरण के समय श्रीकृष्ण के दर्शन कर लेने के पश्चात् उनके रूप का आलेखन करती है ।

१, भागवतपुराण--दशमस्कन्ध--५२-५३ ।

२, वही , १०।५२।२६-४४ ।

३, रुक्मिणी परिणय--चतुर्थांक,पृ० ७४ / कन्यकालीजनाः

रुक्मिणी के साथ-साथ उसकी सखियां नवमालिका एवं अंगसेना अपनी प्रिय सखी के लिए कर्म में सजग प्रतीत होती हैं। यहाँ उनकी विदग्धता का परिचय मिलता है जो प्रिय सखी की विषम परिस्थिति में भी सांत्वना रूपी सेतु का निर्माण करती हैं।

प्रत्येक पात्र अपनी बुद्धि के अनुसार विचार किये हुए कर्म में तत्पर दिखायी पड़ता है।

इस नाटक की कथावस्तु "सुभद्राहरण" के अनुरूप ही प्रतीत होती है और विवाह परम्परा भी दक्षिणप्रान्त की परिपाटियों से युक्त है क्योंकि विवाहोचित समय की शोभायात्रा का जो वर्णन किया गया है वह विशेष रूप से प्राचीन त्रावनकोर दक्षिण भारतीय प्रान्त की राजसी शोभायात्रा का ही स्मरण दिलाती है[१]।

गौरी मन्दिर में रुक्मिणी के शृंगार करते समय नवमालिका[२] जब मामी द्वारा लाये आभरण धारण करने के लिए कहती है उस समय केरल देश में प्रचलित परम्परा का ही उद्घाटन होता है। नाटककार दक्षिण भारत के ही हैं अतएव उस परम्परा का अपने नाटक में भी छाया रूप से आना स्वाभाविक ही है।

इस नाटक का मूल रस शृंगार है। इसी के इर्दगिर्द अन्य रस भ्रमण करते हैं। यह नाटक नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से भी एक उच्चकोटि की रचना है। इस संदर्भ में अगले अध्याय में यथावसर प्रकाश डाला जायेगा।

---

१. 'वीमेन इन संस्कृत ड्रामा'
— डॉ० रत्नमायादेवी दीक्षित, पृ० ३३४।

२. रुक्मिणीपरिणयम् - पृ० ४२ ॥

शंकरलालशास्त्रिप्रणीत श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदयम् (छाया नाटक)

"श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदयम्" को महामहोपाध्याय शंकरलाल शास्त्री ने छायानाटक के अन्तर्गत रखा है । इसको नाटक के रूप में ही क्यों नहीं सन्निविष्ट किया एवं छाया-नाटक ही क्यों कहा गया--इसको जानने के लिए छायानाटक का स्वरूप जानना आवश्यक है ।

यद्यपि इस नाटक में भी पांच अंक हैं और दशरूपक में बताया ही जा चुका है कि नाटक में पांच और अधिक से अधिक दश अंकों का विधान होता है तो फिर कवि इसे नाटक भी कह सकता था । राजशेखर विरचित "बालभारत" को तो नाटक कोटि में ही रखा गया है और उसी की तरह इस नाटक में भी महाकवि ने महाभारत से इतिवृत्त ग्रहीत करके नाटक का प्रणयन किया है ।

नाटक के ग्रन्थन के समय कवि ने कौन-कौन से छाया नाटकोचित मूलभूत तत्वों का सन्निवेश किया है,यह ज्ञात करना समुचित प्रतीत होता है क्योंकि तभी हमारी बुद्धि इसे "छाया नाटक" अभिहित करने में संकोच का अनुभव नहीं करेगी ।

छायानाटक का मूल स्वरूप क्या है एवं किस समय इसका अभिनय हुआ था ?--यह जानकारी प्राप्त करने के लिए नाट्य विषयक इतिहास ग्रन्थों की सहायता लेनी पड़ती है तभी तो इसका रूप शतदलपंखुड़ी की भांति मुकलित हो जाता है और इसका सौन्दर्य स्वत: प्रस्फुटित हो जाता है ।

छाया नाटक के आविर्भाव के सम्बन्ध में विप्रतिपत्तियां हैं । इसका प्रतिनिधित्व करने वाला पहला रूपक मेघप्रभाचार्य का "धर्माभ्युदय" है । इसके भी रंगमंचीय निर्देश में "पुत्रक" इस शब्द के उल्लिखित होने का एवं कवि द्वारा इसे छाया नाटक कहने का निर्देश प्राप्त होता है ।

सुभटविरचित "दूतांगद" को भी छायानाटक के नाम से अभिहित किया जाता है ।

छायानाटक की असत् सूची में प्रोफेसर लूडर्स ने महानाटक को भी जोड़ दिया है । महानाटक की कौन-कौन-सी विशेषताएं इन्होंने बतायी हैं इस पर दृष्टिपात करना अपरि-

---

१. संस्कृत ड्रामा--प्रो० ए०बी० कीथ--पृ० २८६ ।

चाहिए । दूबर्स के अनुसार महानाटक मुख्यत: पद्यबद्ध होता है,गद्य का प्रयोग कम और पद्य भी स्थान-स्थान पर नाटकीय न होकर निश्चित रूप से वर्णनात्मक प्रकार के होते हैं । प्राकृत का अभाव होता है,पात्रों की संख्या बड़ी होती है,विदूषक नहीं होता, ये सारी विशेषताएं छायानाटक से अभिहित दूतांगद में पायी जाने के कारण दूबर्स द्वारा उसे महानाटक कहा गया है[१] ।

इससम्बन्ध में अन्य कोई प्रमाण यथार्थ वस्तुस्थिति को ज्ञात कराने वाला नहीं मिलता अत: वास्तविक साक्ष्य के अभाव में यह तर्क पर्याप्त नहीं है और महानाटक का विवेचन दूसरे रूप में किया जा सकता है ।

छाया नाटक का अर्थ है छाया के रूप में नाटक अर्थात् नाटक के रूप में प्रस्तुत करने के लिए अल्पतम सीमा तक लघुकृत । रूपक द्वारा इसका स्वरूप निर्धारित नहीं हो पाता, क्योंकि रूपक में इसके स्वरूप का विवेचन तो दिया नहीं रहता । श्री राजेन्द्रलाल मित्र का अनुमान है कि यह रूपक दो अंकों के मध्यान्तर दृश्य के रूप में प्रस्तुत किये जाने के लिए लिखा गया था और छाया नाटक शब्द की व्याख्या के आधार पर इसका औचित्य सिद्ध किया जा सकता है ।

छाया नाटक का सन् १२४३ ई० में " अणहिल्लपट्टन" के चालुक्यपाल के दरबार में स्वर्गीय राजा कुमारपाल के सम्मान में अभिनय किया गया था ।

छायानाटक का समानान्तर अंग्रेजी शब्द " शैडो प्ले" है । इस संदर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि प्राचीनकाल में यूनान देश में इस प्रकार के नाटकों की मंचन प्रथा विद्यमान थी । इसमें मंच पर पर्दा लगा कर,हल्के प्रकाश में पर्दे के पीछे पात्रों द्वारा अभिनय किया जाता था जिसकी छाया पुरोवर्ती यवनिका पर पड़ती थी और सामने बैठी दर्शक मण्डली उन छाया अभिनयों को देख कर कथावस्तु को समझती थी । निश्चय ही इस विधि में पात्राभिनय पर्दे के आगे नहीं बल्कि पीछे हुआ करता था ।

परन्तु इस प्रकार की कोई भी अभिनय व्यवस्था भारतीय समाज में कभी प्रचलित नहीं रही । आचार्य भरत से लेकर परवर्ती काल तक के किसी भी नाट्यशास्त्री ने इस प्रकार की अभिनय विधि का कोई संकेत नहीं किया है बल्कि नाट्यशास्त्र के अध्ययन से तो यही सिद्ध होता है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में भी भारतीय नाट्यव्यवस्था उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थी ।

ऐसी स्थिति में " अणहिल्लपट्टन" में छायानाटक का मंचन होना अथवा तेरहवीं शती में चन्देल राजाओं के आश्रय में पले सुभट कवि द्वारा" दूतांगद" नामक छायानाटक

का लिखा जाना या फिर वर्तमान शताब्दी में श्री शंकरलाल शास्त्री द्वारा 'कृष्णचन्द्राभ्युदय' नामक छायानाटक का लिखा जाना प्रमाणों के अभाव में एक भ्रम ही पैदा करता है। सच बात तो यह है कि भारतीय नाट्य वाङ्मय में छायानाटक शब्द का स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं है।

'कृष्णचन्द्राभ्युदय' नाटक तो नाममात्र का छायानाटक है परन्तु इसमें विशेषताएं नाटक के समतुल्य ही प्रतीत होती हैं। नाट्यशास्त्रीय गतिविधियों का अनुकरण इसमें भी किया गया है। इस नाटक में पात्रों की संख्या का तो अम्बार ही लगा है। इतने पात्र और किसी भी नाटक में विद्यमान नहीं हैं। इसमें पुरुष और स्त्रीपात्रों को मिला कर पात्रों की संख्या ४४ हैं जबकि ललितमाधव और बालचरित में भी पात्रों की संख्या अधिक है परन्तु इतनी नहीं है।

लूडर्स ने 'दूतांगद' नाटक को जिस प्रकार से महानाटक की विशेषताओं से युक्त माना उसी आधार पर 'कृष कृष्णचन्द्राभ्युदय' नाटक का भी पात्रों की संख्या अधिक होने के कारण महानाटक की विशेषताओं द्वारा आकलन किया जाये तो यह भी इसी में अन्तर्भूत हो जाता है।

श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदय' पांच अंकों का नाटक है एवं प्रत्येक अंक में श्रीकृष्णचरित, उनकी महिषियों के वार्तालाप और कार्यकलाप वर्णित हैं। घटनाचातुरी का भी सुन्दर रूप से निर्वाह हुआ है और समस्त घटनाएं महेश्वर के प्रसाद से सम्पन्न होती हैं। श्रीकृष्ण सर्वार्थसिद्धि में सहायक रूप से अन्य नाटकों में वर्णित किये भी गये हैं,परन्तु इस नाटक में श्रीकृष्ण के समस्त कार्यकलाप शिव द्वारा ही सम्पादित किये जाते हैं। श्रीकृष्ण द्वारा रचित शिवचरित चित्र दर्शन से श्रीकृष्ण का शिवभक्तत्व सूचक बीज उपन्यास होता है।

इस नाटक के रचयिता भी शैवमत से प्रभावित थे तभी उनके नाटक में इसकी छाया भी विद्यमान है। श्री शंकरलाल शास्त्री ने शिवभक्ति रूप से निहित आन्तरिक भावों के उद्गार इसी नाटक में प्रकट कर दिये हैं और नायक कृष्ण की शैव दीक्षा के लिए व्याघ्रपाद के पुत्र उपमन्यु को रखा है। श्रीकृष्ण की फलसिद्धि में शिव को ही समर्थ प्रदर्शित किया गया है और महेश्वर से कृष्ण का अभेद सम्बन्ध स्थापित करने की भी योजना की है।

अब 'कृष्णचन्द्राभ्युदय' नाटक के पात्रों पर भी दृष्टिपात करना चाहिए कि कौन-कौन से पात्र इस नाटक में अपनी भूमिका प्रदर्शित कर रहे हैं।

प्रधान पात्र तो श्रीकृष्ण ही हैं जिनका अभ्युदय ही इस नाटक में वर्णित किया गया है।

श्रीकृष्ण की पटरानियों में रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, कालिन्दी, भद्रा, सत्या, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा, रोहिणी और नाग्निजिती हैं। राधा श्रीकृष्ण की परम प्रेमास्पद वृषभानुजा है। ललिता, चन्द्रावली, विशाखा, लीलावती राधा की सखियाँ हैं। पार्वती महादेव श्रीकृष्ण के अभ्युदय के लिए देवी-देवता हैं। नारद, शिशुपाल, दन्तवक्र, ब्रह्मचारी, द्वारपाल, देवकी, वसुदेव, उपमन्यु (श्रीकृष्ण का शैव दीक्षाचार्य व्याघ्रपादपुत्र मुनि), शिष्या (उपमन्यु की ही), सुदामा (श्रीकृष्ण के परम सखा), सुशीला (सुदामा की पत्नी), भद्रसेन (सुदामा का मंत्री), उग्रसेन (मथुरा का राजा), बलदेव, भीमार्जुन (सात्यकि, कृतवर्मा, अक्रूर, उद्धव, यादवगण), अन्य राजा पौरा जानपदादय, मदशीला (दासी), मायावती (रति ही दूसरी भूमिका में गृहीत), राजसेवक (शम्बर का भृत्य), चम्पकमाला (जाम्बवती की दासी), साम्ब, रति (कामपत्नी), कामदेव (प्रद्युम्न अवतीर्ण) ।

इस नाटक में चन्द्रावली कोराधा की सखियों में परिगणित किया गया है, जबकि रूपगोस्वामी के 'ललितमाधव' नाटक में बताया ही गया है कि यह भी राधा की तरह कृष्ण की नित्यप्रेयसी हैं और चन्द्रावली ही रुक्मिणी हैं और कृष्ण के साथ विधिवद् विवाह हुआ है, श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी हैं परन्तु इस नाटक में रुक्मिणी सहित दस रानियों को भी पट्टमहिषी माना गया है और चन्द्रावली का नाम रूपगोस्वामी के नाटकों से ग्रहीत करके उसे भिन्न रूप में यहाँ राधा की सखियों की तरह प्रदर्शित किया गया है।

इस नाटक के प्रथम अंक में नान्दीपाठ में श्रीकृष्ण के अभ्युदय से मंगल की कामना की गयी है और कहा गया है कि श्रीमान साम्ब और सदाशिव की अतुल कृपा ही पीयूष-सिन्धु, अमृत सागर है। उससे उत्पन्न चन्द्र का उदय प्रत्येक दिन निशान्धकार के निवारण कर देने के अभिप्राय से युक्त चन्द्रिका के प्रसार से लोकों का कल्याण करने वाला है, उसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र का उदय भी सदाशिव प्रसादजन्य सन्तान की प्राप्ति कराने में सर्वोत्तम लक्षण रूप उपाय सबके कल्याण एवं मनोविनोद के लिए हो--यह कामना की जाती है।

श्रीकृष्णचन्द्र के महद् अभ्युदय के लिए श्रेष्ठ सुवर्ण मणि के समान परम्परानुरक्त प्रियतमाओं के साथ दाम्पत्ययोग सहायक होता है और यही समस्त कवियों के लिए

विलास श्रीकृष्णस्वरूप नायक प्रेयसी के लिए प्रणयपराधीनतावश इष्ट सम्पादनार्थ तपोवनगमनादि क्लेश को स्वीकार करके अनुकूल नायकत्व को प्रतिपादित करते हुए अवर्णनीय रस चर्वणा की सिद्धि करते हैं जो रसपरितोष के लिए कवि द्वारा सन्निविष्ट किया गया है।

इस नाटक में द्वारका में राज्य करने वाले श्रीकृष्ण का अन्तःपुर में विहार करने वाली सोलह हजार स्त्रियों के साथ योगमाया द्वारा युगपद् सान्निध्य सुख का अर्पण करना वर्णित किया गया है। एक बार बहुत सुबह उठ कर श्रीकृष्ण द्वारा किये गये बहिर्गमन को न जानने वाली रानियां निद्रा का परित्याग करके श्रीकृष्ण दर्शन की अभिलाषा से एक दूसरे से पूछती हैं। जब कहीं भी भगवान् के दर्शन नहीं होते हैं तब सत्यभामा यह उद्भावना करती है कि यदि भगवान् कहीं भी नहीं हैं तो निश्चय ही राधा के समीप होंगे क्योंकि सब जानती हैं कि राधा के प्रति कृष्ण का अतिशय अनुराग है। सत्यभामा सरल स्वभाव वाली रुक्मिणी से भी वार्तालाप करती है कि यह विचारणीय है कि किस प्रकार राधा पर तुम्हारे प्राणवल्लभ कृष्ण का प्रेमप्राबल्य है, परन्तु रुक्मिणी ईर्ष्या न करके कहती है कि इसमें हानि ही क्या है, क्योंकि वह कृष्ण की पराशक्ति के रूप में ही राधा को मानती है। इसी कारण जब सत्यभामा कृष्ण के राधा-समीप गमन का विचार करती है तब रुक्मिणी कहती है कि--" मेरे मन में क्लेश नहीं है। नर रूप से अवतीर्ण पुराणपुरुष की शक्ति ही राधा हैं। हम सब तो उसकी कला हैं।[1] इस कथन से सोलह हजार रानियां श्रीकृष्ण की १६ कलाएं बतायी गयी हैं।

सत्यभामा रुक्मिणी के इस कथन से आश्चर्यचकित हो जाती है और सोचती है कि इस प्रकार का कथन रुक्मिणी ने उन्मत्तावस्था में ही कहा है। सत्यभामा को रुक्मिणी की इस बात पर विश्वास नहीं है तभी तो वह ईर्ष्या को धारण करती ही चली जाती है और रुक्मिणी में भी इस भाव को जागृत करना चाहती है तभी तो वह रुक्मिणी के सामने कुब्जा का नाम लेती है, जिससे राधा और कुब्जा के प्रति रुक्मिणी का रोष जागृत हो। रुक्मिणी कोपित होकर इस तरह के विचार की अवधारणा का निषेध करती है। इसी समय जाम्बवती समक्ष उपस्थित होकर रुक्मिणी और सत्यभामा के विचार को निष्फल कर देने के लिए कहती है और भगवान्

१, श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदयम्--पृ० १०।

के विरह से खिन्न दुखों को समूल नष्ट करने के लिए उन करकमलों से चित्रित चित्र को देख कर रात्रि व्यतीत करने के लिए सबसे कहती है । सब सखियां चित्र का अवलोकन करती हैं ।

रुक्मिणी श्रीकृष्ण की कलाचातुरी को देख कर उन्हें निखिल जगत् के चित्र का शिल्पी कह देती है और उनके चित्र की प्रशंसा अवर्णनीय समझती है । श्रीकृष्ण द्वारा शिव चरित्र से सम्बन्धित चित्र देखने से श्रीकृष्ण शिवभक्त दिखलायी पड़ते हैं । इसी अवसर पर लक्ष्मणा द्वारा जब यह कथन किया जाता है कि --" यदि कोई मुझे इस समय प्रभु को दिखा दे तो मैं उसके लिए हीरक हार दूंगी[1]--ऐसा निश्चय प्रकट होने पर भगवान् की प्राप्ति के लिए परम उपाय रूप से भक्ति को ही अग्रसर करके उपायान्तर साध्य का भी देवर्षि नारद ने आख्यान किया है । भगवान् के दर्शन का हारादिसाधन-साध्यत्व आक्षेप केवल कृष्ण की प्रेमभक्ति द्वारा व्यवस्थापना करने के लिए नारद द्वारा कहा गया है । इस प्रकार कहे गये अनुष्ठान से श्रीकृष्ण का शीघ्र ही आगमन होता है ।

सत्कुलोत्पन्न प्रियतमाओं के अवलम्बन,भक्तिरस सेवावश कृष्ण दूर से आ जाते हैं । भक्ति की ही अन्त में विजय होती है और रानियों को दर्शन प्राप्त होता है । सब रानियां कृष्ण के चले जाने के सम्बन्ध में अपने-अपने ढंग से उनकी व्यस्तता के बारे में सोचती हैं । सत्या कहती है कि यशोदा माता नन्द पिता को देखने के लिए ब्रजजनप्रिय चले गये होंगे । रोहिणी के चौंतीसवें श्लोक से नवनीत चोरी एवं चीरहरणलीला के भी संकेत प्राप्त होते हैं ।

इसके बाद नारद का आगमन होता है एवं शिवरात्रि में शिवाराधना का निवेदन होता है । जाम्बवती के पुत्र से--सभी रानियों को समान पुत्रलाभ हो --उस सिद्धि के लिए श्रीकृष्ण का तपस्या के लिए वनगमन का संकल्प कहा गया है । नारद की अनुमति से ही श्रीकृष्ण का प्रस्थान हुआ है --यही इस प्रथमांक की कथावस्तु है । इस अंक में कृष्ण के शिवाराधकत्व का वर्णन है जो कि " सूतसंहिता" में विष्णु के शिवाराधकत्व के समान है ।[2] विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण भी हैं अतएव यह प्रसंग यहां पर भी जोड़ दिया गया है ।

---

१. श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदयम्--प्रथम अंक--२३ ।

२. स ध्यानपदमाविश्य सर्वासामपि माधवः ।
अवलोक्य ततः पश्चाद् दध्यौ ब्रह्म सनातनम् ।।
--सूतसंहिता,यज्ञवैभव खण्ड,अ०१५ ।

द्वितीय अंक में शिशुपाल के आलाप से श्रीकृष्ण के पुत्रहरण आदि का संकल्प कहा गया है। शम्बरकृत मायिक प्रपंच से श्रीकृष्ण के तपभंग के प्रयत्न का आरम्भ ही विष्कम्भक की समाप्ति है। देवकी-वसुदेव भी श्रीकृष्ण की सन्तति की चिन्ता से युक्त नारदोपदिष्ट शिवाराधन करने के लिए तपोवन में कृष्ण को भेजते हैं।

तृतीय अंक में रुक्मिणी आदि श्रीकृष्ण के वियोग में चिन्ताग्रस्त दिखायी पड़ती हैं। वह कृष्ण के कुशल के लिए समस्त तपोवन प्रदेश में अपने-अपने उपवन में एकत्रित होकर तपस्या की पूर्ति के लिए शिवाराधन प्रतिज्ञा करती हैं। शिवस्तुति में लीन उन लोगों का मूर्च्छित हो जाना एवं तभी राधा का आगमन और राधाकृत भगवद् गुणगान से सब रानियां फिर मूर्च्छा का त्याग देती हैं। पार्वती आकर सबको सांत्वना प्रदान करके श्रीकृष्ण के तपोवन वृत्तान्त को समझ कर प्रसन्न होती हैं।

चौथे अंक में समस्त श्रीकृष्ण वृत्तान्त को जानने वाली सब रानियां मण्डप में एकत्रित होती हैं। वहां पार्वती श्रीकृष्ण के तपोवन निवास में संलग्न तपस्या के क्लेश को, रैवताद्रि उपमन्यु समागम आदि द्वारा उपदिष्ट श्रीकृष्ण की शैव दीक्षा को आगे करके शिवाराधन इत्यादि को दिखाने के लिए सब रानियों को दिव्य दृष्टि प्रदान करती हैं। उपमन्युकृत पंचाक्षरी विद्योपदेश सर्वार्थसिद्धिमूल है--यह शास्त्र में कहा गया है।

इसी बीच में गजारूढ़ सुदामा का प्रवेश होता है। स्वर्णागार देख कर रुक्मिणी विस्मित हो जाती हैं। पार्वती समृद्धि के विषय में श्रीकृष्ण के प्रभाव को कह कर रुक्मिणी के विस्मय का निवारण कर देती हैं। सुदामाकृष्णमैत्री माहात्म्य का कथन प्रसंगान्तर प्रसंग है। श्रीकृष्ण द्वारा सुदामा के लिए सालोक्यादि तीन मुक्तियां दानरूप में दे दी जाती हैं। कैवल्यमुक्ति के समर्पण में कैवल्य मुक्ति प्रदान करने वाले शंभु हैं-- ऐसा श्रीकृष्ण सुदामा से कह देते हैं। इस मुक्ति के अर्पण के लिए केदारनाथ का हिमालय से सुदामा के अनुग्रह के लिए सुदामापुरागमन इसी अवस्था का ही निरूपण करता है। श्रीकृष्ण बिल्वपत्र सहस्र कमल से शिवपूजन करते हैं। एक बार सहस्र कमल के बीच मायावी शम्बर ने आकर कमल को हंस रूप में हर लिया तभी श्रीकृष्ण ने अपने नेत्रकमल निकाल कर सहस्र संख्या की पूर्ति की। उससे प्रसन्न शिव ने प्रतिकलत्र से एक पुत्री एवं दश पुत्र होने का आशीर्वाद दिया।

---

१. नमः शिवाय रुद्राय नमःशक्तिधराय च।
सर्वविद्याधिपतये भूतानां पतयेनमः ॥-- भागवतपुराण --८।१६।३२

पंचम अंक में सुदामा और उनकी पत्नी सुशीला तप से प्रसन्न महेश्वर से श्रीकृष्ण की सद्य: इष्टसिद्धि को मांगती हैं । तभी श्रीकृष्ण कृतकृत्य होकर सुदामा के आगे आ जाते हैं । प्रवेश करते हुए श्रीकृष्ण महेश्वर को प्रणाम करते हैं और उन्हें भक्तवत्सल, कृपामृतसिन्धु आदि विशेषणों से सम्बोधित करके कहते हैं --" आपकी कृपा से ही यह कृष्ण सदैव अभ्युदय करता है, वह आपके चरणकमलों में नत होता है ।" यहां पर श्रीकृष्ण अपने भक्तजन के सदृश शिव के प्रति अपने भाव प्रकट करते हैं । यहां पर दास्य भाव की उपासना व्यक्त होती है ।

महेश्वर श्रीकृष्ण को आशीर्वाद देकर कहते हैं -- हे कृष्ण ! तुम्हारा पृथ्वीतल पर अवतरण गीता में कही गयी प्रतिज्ञा " यदा यदा हि धर्मस्य.." इत्यादि.. संभवामि युगे-युगे" के अनुसार भक्त के अभीष्ट साधन के सम्पादन के लिए अनायास ही होता है । यहां पर महेश्वर श्रीकृष्ण की सर्वोत्कृष्टता को व्यक्त कर रहे हैं जो कृष्ण के ब्रह्मरूप से प्रदर्शित है ।

इसके पश्चात् सुदामा श्रीकृष्ण की स्तुति करते हैं और कृष्ण उनसे कहते हैं कि परमेश्वर के पदाम्बुज में तुम्हारी अपनी पत्नी सहित भक्ति कल्याण को ही प्रदान करेगी ।

शंकर द्वारा सुदामा और उनकी पत्नी सुशीला से श्रीकृष्णचन्द्र की सर्वार्थ सिद्धि में उग्र तप द्वारा उत्पन्न क्लेश के परिणामस्वरूप उन दोनों से वर मांगने के लिए कहा जाता है परन्तु सुदामा शिव से कहते हैं " पार्वतीपरमेश्वर के चरणों की भक्ति चिंतामणि के बिना त्रिलोक में और कोई मेरे लिए वांछित वर नहीं है, जिसके लिए याचना की जाये । कृष्ण उसी समय कैवल्य मुक्ति मांगने के लिए सुदामा से कहते हैं जो महेश्वर की कृपा के बिना दुर्लभ है । श्रीकृष्ण ही महेश्वर से इसकी प्राप्ति के लिए अभ्यर्थना भी करते हैं ।

महेश्वर श्रीकृष्ण से ही सुदामा के लिए कैवल्य मुक्ति दान के लिए प्रेरित करते करते हैं । महेश्वर और श्रीकृष्ण में अभेद सम्बन्ध प्रदर्शित करने के अभिप्राय[1] से नाटककार ने महेश्वर से यह कहलवाया है कि" कृष्ण, तुम ही मैं हूं और मैं ही तुम हूं । तुम्हारे

---

१. त्वमेवाऽहमहं च त्वमिति वेत्स्येव निश्चयात् ।
त्वमेव तत्त्वं तत्त्व त्वामिमनायाऽस्मै समर्प्य ।
-- कृष्णचन्द्राभ्युदयम्-- ५।१५

पार्थक्य होने से नाम की गणना भी अनावश्यक है ।" यहां पर दोनों में अभेद का प्रदर्शन करके महेश्वर द्वारा श्रीकृष्ण से ही कैवल्यमुक्ति सुदामा को प्राप्त करने के लिए कहा जाता है । अभेद सम्बन्ध दोनों में स्थापित हो जाने पर महेश्वर श्रीकृष्ण से ही सुदामा को तत्व का उपदेश देने के लिए कहते हैं । श्रीकृष्ण सुदामा को उपदेश देते हैं ।

श्रीकृष्ण उपदिष्ट तत्व,भक्ति से अभिनिवेशित अन्त:करण वाले सुदामा को रुचिकर नहीं लगता तब महेश्वर स्वयं ही सर्वात्मभावानुभव करके कैवल्यमुक्ति देकर कृष्ण एवं सुदामा द्वारा स्तुत्य होकर अन्तर्हित हो जाते हैं । इसके अनन्तर श्रीकृष्ण सुदामा के पुर में प्रवेश करते हैं ।

सुधर्मा सभा में महाराज उग्रसेन तथा वसुदेव-देवकी के समक्ष श्रीकृष्ण की रानियों के सीमन्तोन्नयन प्रसंगवश वस्त्रालंकार आदि देने के लिए भीमसेन इत्यादि आये हैं । इसी बीच में दासियों द्वारा श्रीकृष्ण के पुत्रजन्म का निवेदन किया जाता है । ब्राह्मणों द्वारा आशीर्वाद दिये जाने के बाद दासी भद्रशीला द्वारा रुक्मिणी के सप्तदिवसीय पुत्र का किसी अलक्षित जीव द्वारा अप्रतिहित हो जाने का समाचार मिलता है । तत्काल बच्चे को खोजने के लिए भीमसेन आदि दिशाओं में भेज दिये जाते हैं,परन्तु इस वृत्तान्त को सुन कर ही निष्कम्प हृदय श्रीकृष्ण बलराम के विस्मय को दूर करने के लिए कहते हैं कि "हम शिवभक्तों का अनिष्ट करने में कोई समर्थ नहीं है ।" श्रीकृष्ण की इस दृढ़ निष्ठा को व्यक्त करने के लिए कवि ने मार्कण्डेय पुराण का आश्रय लिया है ।

इसके अनन्तर मायावती (कामपत्नी रति) शम्बरासुर के घर में दासी बन कर निवास करती है और उसकी समस्त मायाओं को जान लेती है । एक दिन राजा द्वारा प्रेषित महामत्स्य को काटती हुई वह उसके पेट से दिव्याकृति कुमार को प्राप्त करती है और आकाशवाणी से सूचित की जाती है कि" यही तुम्हारा पूर्वजन्म का पति है"। इसके अनन्तर शीघ्रतापूर्वक यौवन प्राप्त किये हुए कुमार को रति द्वारा शाम्बरी माया का उपदेश,कुमार द्वारा शम्बर का विनाश तथा राज्यापहरण का वृत्तान्त वर्णित है ।

इधर द्वारका में दुर्योधन की कन्या का अपहरण करने वाला जाम्बवतीनन्दन साम्ब का कुपित कौरवों द्वारा बन्धन होता है । बलराम द्वारा हस्तिनापुर जाकर साम्ब को बन्धनमुक्त कर द्वारका ले आया जाता है । रुक्मिणी के साथ कृष्ण साम्ब को देखने जाम्बवती के भवन में जाते हैं और जाम्बवती को उद्विग्न देख कर कृष्ण कारण पूछते हैं । जाम्बवती द्वारा " रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्न का समाचार न मिलना ही मेरे उद्वेग का कारण है"--बताये जाने पर कृष्ण" महेश्वर प्रार्थना उसके लाभ का उपाय है"

कहकर रानियों के साथ भगवान शंकरकी प्रार्थना करते हैं और तभी पिनाकी मायावती और प्रद्युम्न के साथ समक्ष प्रकट हो जाते हैं । समस्त पटरानियों को सन्तोष देते हैं और अन्त में कृष्ण से पूछते हैं--" तुम्हारा और क्या उपकार करूँ इसके उत्तर में श्रीकृष्ण द्वारा अपने अभ्युदय की पर्याप्तता कह कर भूतल के कल्याण की अभ्यर्थना की जाती है और इस प्रकार राजभक्त रूप मंगलाचरण के साथ ही साथ नाटक समाप्त हो जाता है ।

इस नाटक के रचनाकार महामहोपाध्याय शीघ्रकवि श्री शंकरलाल शास्त्री जी वर्तमान सदी के महान् संस्कृत नाटककार हैं । इनका जन्म आषाढ़ शुक्ल चतुर्थी सम्वत् १६००में तथा महाप्रयाण आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा सम्वत् १६७३ में हुआ ।

गुजरात प्रदेश में विद्यमान जामनगर जिले के गौरवीपुर ग्राम में श्रीकृष्ण माहेश्वर भट्ट के पुत्र रूप में कवि का जन्म हुआ । नाटक की भूमिका में कवि ने गुरु के रूप में महामहिम आचार्य केशव का तथा आश्रयभूत नरपति के रूप में व्याघ्रजित् उपाधि वाले श्री मांधीवा का उल्लेख किया है जो श्रीकृष्ण का परम भक्त पराक्रम,उदारता और स्नेह का आश्रयभूत,प्रजा का कल्याणेच्छुक और कांवावंश से सम्बद्ध था[1] ।

कवि ने अपने पिता और गुरुचरण के साथ ही साथ अपने प्रिय मित्र जटाशंकर का भी स्मरण किया है[2] ।

जामनगर निवासी महामहिम श्री हरिशंकर के पुत्र शास्त्री हाथीभाई ने 'कृष्णचन्द्राभ्युदयम्' की विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है तथा कवि विषयक अपनी भूमिका में श्री शंकरलाल शास्त्री के समस्त वांङ्मय का प्रामाणिक परिचय इस प्रकार दिया है --

नाटक-- सावित्रीचरितम्,ध्रुवाभ्युदय,अमरमार्कण्डेय,गोपालचिन्तामणिविजय,भद्रायुविजय तथा श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदय ।

कथाग्रन्थ--चन्द्रप्रभाचरित

निबन्धग्रन्थ --विद्वत्कृत्यविवेक तथा विपन्मित्र ।

---

१. कृष्णचन्द्राभ्युदयम्-- १।४

२. सद्विद्यासम्पदे वन्दे विद्यासाम्राज्यसिद्धिदौ
   व्याघ्रपतिमात्मानौ श्रीकेशव महेश्वरौ ।-- वही--१।६

महाकाव्य-- श्रीबालाचरितम् (इक्कीस सर्ग)
लघुकौमुदी टीका-- प्रयोगमणिमाला ।
गुजराती भाषा ग्रन्थ-- अध्यात्म रत्नाकरी ।

टीकाकार द्वारा दी गयी सूचना के अनुसार भद्रायुविजय और अमरमार्कण्डेय नाटकों को छोड़ कर कवि के अन्य समस्त ग्रन्थ प्रकाशित हैं । श्री शंकरलाल की प्रसाद मधुर वाणी का रसपान कर मैक्समूलर प्रभृति विदेशी विद्वानों ने भी अत्यन्त सन्तोष व्यक्त किया है जिसका प्रमाण प्रकाशित ग्रन्थों में दी गयी उनकी सम्मतियों से प्रकट हो जाता है ।

हिन्दीकाव्यधारा के बाल्मीकि गोस्वामी तुलसीदास ने मुगलों की राजशाही में हिन्दू धर्म का उत्थान प्राणपण से किया था और उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम और देवाधिदेव शंकर के ऐक्य की कल्पना करके वैष्णवबहुल उत्तरापथ तथा शैवबहुल दक्षिणापथ के भारतीयों को एकताबद्ध करने का प्रयत्न किया था । महामहोपाध्याय शंकरलाल शास्त्री ने भी "श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदयम्" में विष्णु के एक दूसरे अवतार कृष्ण तथा शिव की एकता कल्पित करके वैसा ही युगान्तरकारी सांस्कृतिक प्रयास किया है । निश्चय ही कृष्ण और शिव की यह कल्पित एकता भारतीय जनमानस के लिए कवि की एक सर्वथा नवीन देन है ।

---00---

(ख)-- नाटकेतर रूपककृतियों में कृष्णचरित,

दूतवाक्यम्

एकांकी व्यायोग दूतवाक्य का इतिवृत्त महाभारत से गृहीत किया गया है । इसका प्रतिपाद्य विषय कृष्णोपाख्यान है । गणपति शास्त्री कहते हैं कि यह नाटक या तो व्यायोग है अथवा वीथी[१] । व्यायोग का इतिवृत्त ख्यात होता है, नायक प्रख्यात तथा उद्धत, एवं गर्भ विमर्श सन्धिरहित होता है । युद्ध का कारण स्त्रियां नहीं होती हैं[२] । भावप्रकाश यह सुझाव देता है कि इसमें एक से अधिक नायक हैं[३] ।

व्यायोग के उपर्युक्त लक्षण "दूतवाक्य" में दिखायी देते हैं । नायक प्रख्यात, धर्मी है एवं उसी के अनुकूल इसमें रस की स्थिति भी विद्यमान है ।

इस एकांकी में वास्तविक रूप से युद्ध का वर्णन नहीं है परन्तु दुर्योधन द्वारा कृष्ण को बांधने में यथासंभव उपाय किये गये हैं ।

इस एकांकी को वीथी के अन्तर्गत ~~रखने में~~ रखने का जो प्रयास किया गया है वह समुचित नहीं है । वीथी का जो रूप "दशरूपक" में प्रदर्शित है, उन सिद्धान्तों पर यह खरा नहीं उतरता है क्योंकि वीथी में तो श्रृंगार का प्राधान्य होने के कारण कैशिकी वृत्ति विद्यमान रहती है परन्तु "दूतवाक्य" में तो वीररस ही मुख्य रस है, यहां पर श्रृंगार का तो अभाव ही है । अतएव इस एकांकी को व्यायोग में परिगणित करना ही समुचित प्रतीत होता है । पुरुष पात्रों की संख्या भी इसमें व्यायोग के लक्षण की तरह अधिक है और एक दिन का चरित भी है ।

डॉ० विन्टरनित्स ने "दूतवाक्य" के विषय में कहा है कि यह एकांकी "महाभारत" की विस्तृत कथा को एक अंक में ही समेटे हुए है, फिर भी केवल एक अंक में ही यह अपने प्रयोजन की सिद्धि करता है[४] ।

इस एकांकी में वीररस के प्रधान होने के साथ ही साथ आरभटी वृत्ति की रीति भी हिंसात्मक है । साधारण अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है । उपमाओं का अधिकांशतः प्रयोग है । इस एकांकी में व्यायोग की लक्षण की तरह कोई भी नायक एवं दूती नहीं

---

१. दूतवाक्य--पृ० ३१ ।
२. दशरूपक--तृतीय भाग पृ० ६०-६१
३. गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ नं० ४०, पृ० २४८ ।
४. "भास : ए स्टडी" --ए०डी० पुसालकर, पृ० १६१ ।

है,इसलिए प्राकृत का प्रयोग भी नहीं हुआ है ।

पुरुष पात्रों में सूत्रधार,कंचुकी,दुर्योधन,वासुदेव एवं धृतराष्ट्र हैं ।

कथानक -- भीष्म कौरव सेना के सेनापति बनाये गये हैं । नारायण के आगमन की घोषणा की गयी है,लेकिन दुर्योधन उनके प्रति सम्मान प्रदर्शन पर रोक लगा देता है । यहाँ पर श्रीकृष्ण को ही नारायण कहा गया है ।

दुर्योधन इस समय उस चित्र के पास जाकर बैठता है जिसमें द्रौपदी के प्रति अनादर का चित्रण किया गया है,जबकि उसके पति उसे द्यूत में हार गये थे । अपनी सैन्यशक्ति के परिज्ञानार्थ दुर्योधन मंत्रशाला में योद्धाओं को बुलाता है । उसी समय प्रतिहारी के द्वारा उसे श्रीकृष्ण के दूत के रूप में आने की सूचना मिलती है । कृष्ण अपनी महिमा से सब पर गहरा प्रकाश डालते हुए प्रवेश करते हैं,यहाँ तक कि दुर्योधन भी आसन से गिर जाता है । केशव पाण्डवों की ओर से शान्ति-सन्देश देकर उनके दायाद्य की याचना करते हैं । कपटी दुर्योधन इस पर बहुत खरी-खोटी सुना कर सूई की नोक भर जमीन भी बिना युद्ध किये न देने की घोषणा करता है । दुर्योधन दूत को बाँधना चाहता है तब कृष्ण अपने मायायुधों का आह्वान करते हैं,किन्तु अन्त में रोष त्याग करने को सहमत हो जाते हैं और धृतराष्ट्र का अभिनन्दन स्वीकार करते हैं । यह बात महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है कि महाभारत में विवस्त्र द्रौपदी के तन से ज्यों ही एक वस्त्र अपमानपूर्वक खींचा जाता है त्यों ही कृष्ण उसके लिए नये वस्त्र का विधान करते हुए दिखलायी देते हैं,और इस रूपक में उस चमत्कार का कोई उल्लेख नहीं है ।

यह मान लेना अत्यन्त अविवेकपूर्ण होगा कि इस तथ्य से यह सिद्ध होता है कि भास को इस उपाख्यान का पता न था और यह उनके परवर्ती काल में महाभारत में प्रक्षिप्त हुआ । स्पष्ट है चित्रकार की कला द्वारा इसके प्रदर्शन में कठिनाई थी और यदि उस चित्र में इस तथ्य का संकेत किया जाता तो उसका प्रभाव नष्ट हो जाता । अत: कला के आधार पर इस उपाख्यान की उपेक्षा करना निस्संदेह न्यायसंगत है ।

एकांकी के प्रारम्भ में कंचुकी के द्वारा पुरुषोत्तम नारायण के इस रूप में आगमन की सूचना मिलने पर उनको तिरस्कृत कर दुर्योधन कहता है कि क्या कंस के दास दामोदर तुम्हारे पुरुषोत्तम हैं।[1] मायायुधों के आवाहन करने पर सुदर्शन प्रवेश करता

---

१. किं किं कंसभृत्यो दामोदरस्तव पुरुषोत्तम: । स गोपालकस्तव पुरुषोत्तम: ।

--भासनाटकचक्रम् (दूतवाक्य) पृ० ४४३

है और कहता है कि मैं भगवान् की दयामयी वाणी को सुन कर दौड़ आया हूं। कमलनेत्र वाले क्रोधित हो मेरे द्वारा किसके सिर पर प्रहार करेंगे।" इसके बाद नारायण के स्वरूप का एवं उनके पु-आगमन का कारण कहता है।[1]

यहां भगवान कृष्ण विराट रूप भी प्रदर्शित करते हैं जिसके तेज से दुर्योधन भी आसन से गिर जाता है। श्रीकृष्ण वासुदेव, नारायण, मुरारि इन त्रिविध नामों से भी अभिहित किये गये हैं।

अन्त में धृतराष्ट्र अपने पुत्र के कुकृत्य के लिए कृष्ण से क्षमायाचना करते हैं। भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

चूंकि पात्रों की संख्या अधिक है। भास के पात्र सजीव एवं यथार्थ को प्रदर्शित करने वाले हैं।

कीरकर्थ के अनुसार कहा ही गया है कि भास मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म दशाओं को चित्रित करने में आधुनिक हैं।[2]

इस एकांकी में रस तो वीर एवं अद्भुत है।

---

१. अव्यक्तादिरचिन्त्यात्मा लोकसंरक्षणोद्यतः।
   एकोऽनेकवपुः श्रीमान् द्विषद्बलनिषूदनः ॥
   --दूतवाक्य १।४३
   महीभारापनयं कर्तुं जातस्य भूतले।
   अस्मिन्नेवं गां देव ननु स्याद् विफलश्रमः ॥
   --वही--१।४६

२. जर्नल आफ् एशियाटिक सोसाइटी आफ् बंगाल (१९१७), पृ० २७८।

रुक्मिणीहरण (ईहामृग)--वत्सराज विरचित

<u>वत्सराज का संक्षिप्त परिचय</u>-- इनके विषय में उपलब्ध विस्तृत जानकारी तो नहीं मिलती फिर भी किंचित प्राप्त सामग्री से इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि वह जिस राजा के आधीन थे,उन्हीं के शासनकाल के समय से इनके समय का भी निर्धारण हो जाता है।

इतना तो सत्य ही है कि यह कालिंजर के राजा " परमार्दिदेव " (परमाल) के आमात्य थे तथा उनके पुत्र त्रैलोक्यवर्मदेव के समय में भी उसी पद पर प्रतिष्ठित रहे। परमार्दिदेव का समय ११६३ ई० - १२०३ ई० तक था तथा उनके पुत्र का समय तेरहवीं शताब्दी के मध्यभाग तक था। अतः इतना तो अनुमान लग ही जाता है कि इनका समय १२वें शतक का उत्तरार्ध व १३वें शतक का पूर्वार्द्ध है। यह परमाल देव तो पृथ्वीराज द्वारा पराजित हुए थे इसका वर्णन तो चन्दवरदाई के " रासो " में मिलता ही है।

वत्सराज का तीसरा रूपक ४ अंकों का " रुक्मिणीहरण " ईहामृग कोटि का है। यह अपनी कोटि की प्राप्त रचनाओं में से सर्वप्रथम है। इसका सर्वप्रथम अभिनय कालिंजर में चक्रस्वामी यात्रा में पधारे हुए विदग्ध सामाजिकों के आदेश से चन्द्रोदय के समय हुआ था।

<u>कथानक</u> :-- विदर्भेश्वर भीष्मक की कन्या रुक्मिणी की ओर से उसकी गुरु भगवती सुबुद्धि और धाई सुवत्सला ने आकर द्वारका में कृष्ण से बताया कि शिशुपाल उससे विवाह करने को उत्सुक है और रुक्मिणी स्वयं आपको पतिरूप में वरण कर चुकी है। रुक्मिणी का भाई रुक्मी शिशुपाल के पक्ष में कृष्ण से शात्रव रखता है। इसी कारण कुण्डिनपुराधीश महाराज भीष्मक अपनी कन्या का उद्वाह चाहते हुए भी कृष्ण से तय नहीं कर पाते हैं। रुक्मी और शिशुपाल दोनों के कई पत्र प्रियंवदक नामक दूत ले आया और बलराम के साथ कृष्ण को दिखा कर पत्र की धृष्टतापूर्ण बातों से बलराम का क्रोध प्रज्ज्वलित हुआ। उन्होंने रुक्मी एवं शिशुपाल का अन्त करने की प्रतिज्ञा ले ली।

दूसरे दिन प्रातः प्रियम्वद,रेवती के सौविदल्लदीपक से बलराम का समाचार जानता है। वे चिन्तावश रात भर के जगे हैं। राजसभा में सात्यकि,अक्रूर,उद्धव तथा अन्यान्य युद्धवीर एकत्रित होते हैं। उद्धव रणप्रयाणार्थ शाकुन का प्रस्ताव रखते हैं जो कि बलराम को मान्य नहीं। इसी बीच संधानक चर शिशुपाल की ओर से बारात का न्यौता ले आता है। वसुदेव-देवकी रामकृष्ण को जाने की आज्ञा दे देते हैं। संधानक

अपने पक्ष की बात करता है और ये लोग अपने पक्ष की, पर भेद नहीं खुल पाता है। रुक्मिणी कृष्ण के विरह से व्याकुल है। सुवत्सला एवं सुबुद्धि भी चिन्तित होकर कृष्ण शिविर की ओर प्रस्थान करती हैं। इधर कृष्ण का चित्रपट लेकर रुक्मिणी सखी मकरन्दिका से बात करती है। तबतक दोनों सुहाएं संदेश लेकर आ जाती हैं। राजकुमारी को हर्ष होता है। इसी बीच वरयात्रा का जुलूस रुक्मिणी के महल से चलता है। रुक्मिणी सखि सब कृष्ण दर्शनार्थ अटारी पर चढ़ जाती हैं। संयोगवश चित्रपट च्युत होकर कृष्ण की गोद में गिरता है। उसको ऊपर उठाते ही वे रुक्मिणी को देखते हैं। भीष्मक कृष्ण की अगवानी करते हैं। बन्दी प्रशस्ति के समय रुक्मी के विरोध करने पर बन्दी शिशुपाल के राक्षस रूप का वर्णन करता है। रुक्मिणी भयभीत हो जाती है। इसी बीच इन्द्राणी पूजनार्थ रुक्मिणी सहित सभी स्त्रियां चल पड़ती हैं।

मन्दिर पर कृष्ण रुक्मिणी हरण करके द्वारका चल देते हैं। सात्यकि, बलराम आदि युद्धार्थ रह जाते हैं परन्तु रुक्मी कृष्ण को पीछे से ललकारता है। उत्तर में कृष्ण लौट आते हैं। घोर संग्राम होता है। शिशुपाल की माया का विस्तार देखते ही भगवान गरुडारूढ़ हो आकाश में युद्ध करते हैं और जीवित ही दोनों को पकड़ लेते हैं पर रुक्मिणी के प्रणयवश वध न करके छोड़ देते हैं। नेपथ्य से देवी पार्वती का भरतवाक्य सुनायी पड़ता है।

<u>पात्र</u>-- कृष्ण, बलराम, अक्रूर, सात्यकि, उद्धव, प्रियम्वद, संधानक (चर), वसुदेव, भीष्मक, रुक्मी, शिशुपाल, गरुड (तार्क्ष्य) प्रतीहारी बन्दी, दारुक (सारथि) सूत्रधार एवं स्थापक। रुक्मिणी, मकरन्दिका, सुबुद्धि, सुवत्सला, देवकी।

इसकी कथावस्तु मिश्र है। रुक्मिणीहरण कथा का मूलस्रोत हरिवंश और भागवत हैं। मूल कथा में अनेक परिवर्तन करके लेखक ने इसे नाटकीय स्वरूप प्रदान किया है। पूर्वकथा में सुबुद्धि, सुवत्सला गरुड आदि के कार्यकलाप नहीं हैं। चित्र का प्रकरण भी वत्सराज की निजी योजना है। स्वयंवरार्थी राजाओं की यात्रा का प्रकरण भी युगानुरूप है। पहले के नाटकों में ऐसी यात्रा का समावेश भी नहीं दिखायी देता। इस युग में ऐसी यात्रा का दूसरे रूपकों में भी वर्णन मिलता है।

"रुक्मिणीहरण" में तार्क्ष्य का पात्र बन कर रंगमंच पर आना प्रेक्षकों के लिए विशेष अनुरंजक है।

विवाह सम्बन्ध को सम्पन्न करने के लिए सन्यासियों की योजनाएं कालिदास के युग से ही प्रवर्तित हैं। इसमें सुबुद्धि,भगवती ऐसी ही हैं।[1] कृष्ण स्थान-स्थान पर रसाभिभूत होकर कविता करते हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार विष्कम्भक का सन्निवेश ईहामृग कोटि के रूपक में नहीं होना चाहिए था,किन्तु इसके दूसरे एवं तीसरे अंक के आरम्भ में विष्कम्भक रखे गये हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि विष्कम्भक विषयक इस नियम की मान्यता इस युग में शिथिल थी। वत्सराज के त्रिपुरदाह नामक डिम में भी विष्कम्भक इस नियम का अपवाद है।

वृषभानुजा (नाटिका)--मथुरादासकृत

रूपकों के दशों प्रकारों के अन्तर्गत न आने वाली नाटिका नाटक से तत्त्वतः भिन्न न होने के कारण अपने स्वतंत्र अस्तित्व को परित्यक्त करके रूपक के एक प्रकार नाटक में ही अन्तर्भुक्त कर ली गयी। इसका मूलभूत कारण नाटक की भांति नाट्यशास्त्रीय नियमों का अनुसरण करना मात्र था। केवल अंकों की संख्या ही नाटक से भिन्न होने के कारण नाटिका के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार असंगत है।

"दशरूपक" के अनुसार प्रकरण और नाटक के मिश्रण को "नाटिका" कहते हैं। नायक नाटक से लिया जाता है और वृत्त प्रकरण से। अतएव इसे संकीर्ण रूपकों में परिगणित किया जा सकता है।

रूपकों के अतिरिक्त १८ उपरूपकों का वर्णन भी विश्वनाथ आदि ने किया है। परन्तु उपरूपकों के भेद निरूपणकाल के सम्बन्ध में अनिश्चयता होने के कारण ही दशरूप को रूपकों तक ही सीमित रखा गया है। "दशरूपक" में यद्यपि नाटिका का भी उल्लेख किया गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि धनंजय को अन्य भेदों की जानकारी तो थी परन्तु दशरूपकों का वर्णन करना अत्यधिक अभीष्ट था।[2]

---

१. मध्यकालीन संस्कृत नाटक-- डॉ० रामजी उपाध्याय।
२. संस्कृत नाटक--ए०बी० कीथ,पृ० ३७५।

नाट्यशास्त्र[1] में एक स्थल पर रूपक के एक प्रकार " नाटी " का उल्लेख किया गया गया है,जिसको परवर्ती काल में नाटिका की संज्ञा प्राप्त हुई ।

नाटिका में केवल चार अंक होते हैं । इतिवृत्त प्रख्यात अथवा कवि-कल्पित हो सकता है । श्रृंगार रस के प्राधान्य के कारण कैशिकी वृत्ति प्रधान होती है । नायक प्रख्यात एवं धीरललित,नायिका नृपवंशजा और मुग्धा होती है । नायिका को प्राप्त करने के लिए किया गया नायक का कार्यकलाप देवीप्रसादन रूप फल से फलीभूत होता है । अतएव नाटिका के स्वरूप निर्धारण के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि यह भी नाटक की भांति दर्शकों को रसानन्द की पीयूष वर्षा से आह्लादित करती हुई नाटक के विस्तृत कथा-कलेवर को परिमित आकार में संजो देती है । इसी अपरिमित आनन्द को ही माध्यम बनाने वाली राधाकृष्ण की अलौकिक प्रेमलीला से युक्त " वृषभानुजा " नाटिका दर्शकों के आह्लादनार्थ उपस्थित होती है जिसकी कथावस्तु का विवेचन करने से पहले उसके रचयिता के सम्बन्ध में कतिपय जानकारी अत्यावश्यक है कि वह कहां के निवासी थे एवं किस धर्म के अनुयायी होने के कारण राधाकृष्ण की केलिकथा को आश्रित बनाया ।

वृषभानुजा नाटिका के रचयिता मथुरादास कायस्थकुलोद्भव थे और गंगा यमुना के तट पर विद्यमान सुवर्णशेखर नाम के नगर में रहते थे । यह नगर किसी भी नाम से प्रसिद्धि न प्राप्त करने के कारण अभीतक अज्ञात है । किंचित् मात्रा में भी सामग्री उसको प्रकट प्रमाण से प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं होती है । अतएव इस नगर की प्राचीनता के सम्बन्ध में भी संदेह है ।

इस नाटिका में नान्दी के अन्त में प्रवेश करने वाले सूत्रधार के द्वारा भी कवि के सम्बन्ध में उपर्युक्त बात ही कही गयी है । इससे विस्तृत सामग्री कवि के सम्बन्ध में अन्यत्र नहीं मिलती । कवि का जीवनचरित उनकी रचना " वृषभानुजा " में दो पंक्तियाँ मात्र में सिमट कर रह गया है क्योंकि प्रस्तावना में विस्तृत परिचय देने की गुंजाइश नहीं रहती है । केवल नाटिका की प्रशंसा दर्शकों की जिज्ञासा प्रवृत्ति को शान्त करने एवं उनके

---

१. नाट्यशास्त्र-- १८।५४-५६,
दशरूपक --३।४७।८

अभीष्ट फलों की प्राप्ति में ही सहायक रही है, अतएव नाटिका के दर्शनोत्कंठित भक्ति-रस से सम्पुटित वैष्णव भक्त जनों की आत्मिक एवं मानसिक तृष्णा की तृप्ति भी सुगमता से हो जाती है।

कृष्णकथाश्रित नाटकों के रचनाकाल का प्रवाह ईसा की १६ वीं एवं १७वीं शताब्दी ही मानना चाहिए क्योंकि उस समय ही वैष्णव धर्म के साथ-साथ विशेष रूप से कृष्ण के प्रति भक्तों की अत्यधिक आस्था की धारा द्रुतगति से बह रही थी। अतः इस समय के समस्त नाटकों में गोकुल के बाल व युवा रूप कृष्ण विष्णु अवतार को स्पष्ट रूप से इंगित करते हुए वर्णित किये गये हैं। इस नाटिका का अध्ययन करने से भी हम उस सिद्धान्त का संकेत प्राप्त करते हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि इस नाटिका की रचना भी उसी काल में हुई थी जिस समय वैष्णव धर्म प्रसार हो रहा था।

वृषभानुजा नाटिका की मुख्य कथावस्तु श्रीकृष्ण एवं राधा के आकर्षक युगल के प्रेम से सम्बन्धित है और उनका विवाह गांधर्व विधि से सम्पन्न होता है। यह नाटिका आन्तरिक भावों को मूर्त रूप में व्यक्त करने में सहायक होने के कारण नाटक के अतिरिक्त भावुक कवि हृदय से निःसृत मनमोहिनी कविता से अधिक साम्य रखती है, अतएव इसकी कथावस्तु का विस्तृत विवेचन करना अपेक्षित है।

नाटिका के प्रारंभ में ही सूत्रधार द्वारा सखा रंगमंगल के स्त्रीवृन्दावेष में भूमिका गृहीत करने[1] की सूचना स्पष्ट शब्दों में मिल जाती है जो कि भवभूति के मालतीमाधव[2] से अत्यधिक समता का स्मरण दिलाती है। यहां पर भी इसी तरह का प्रसंग दृष्टिगत है।

इस नाटिका में स्त्री-पात्रों की संख्या पुरुष पात्रों से अधिक है। स्त्रीपात्रों में वृन्दा, कनरसिका, राधा, चम्पकलता, तमालिका, नागरिका, विद्रुमलता, विहंगिका, कदलिका प्रमुख हैं। राधा की सखियों के नाम वृक्षों पर ही आधारित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो स्वनामाधिष्ठित वृक्ष सखियों के नाम से संयुक्त होकर जीवन्त की

---

१. सूत्रधार--आर्ये किमनेककालातिपातेन। नन्वेष: विरचितवृन्दावेष: समागत एव ममान्तेवासी मधुरप्रियां गृहीततत्सहचरीकनरसिकाभूमिकश्च सखा मे रंगमंगल:।
--वृषभानुजा--प्रथम अंक, पृ० २

२. नट: -- सांप्रतजरत्प्रव्राजिकाया: कामन्दक्यास्तु प्रथमां भूमिकां भाव एव एवाधीते। तदन्तेवासिन्यास्त्ववलोकिताया:।
सूत्रधार--बाढम्। एषोऽस्मि कामन्दकी संवृत:।
नट: --अहमप्यवलोकिता।
-- मालतीमाधव--प्रथम अंक पृ० १६-१८।

भांति राधा की परिचर्या में संलग्न हैं । जड़ एवं चेतन सारी प्रकृति राधा के चरण-कमलों की उपासना हेतु कर्मरत होकर भू पर अधीष्ठित हैं ।

पुरुष पात्रों में कृष्ण एवं उनके सखा प्रियालाप जिनकी विदूषक के रूप में ही स्थिति है वह अपने साथ सुबल एवं सुदामा को भी साथ में लिये दृष्टिगोचर होते हैं । इन्हीं सब पात्रों के क्रियाकलाप व वार्तालाप से इतिवृत्त का विकास होता है ।

नाटिका का प्रारम्भ ही प्रथम अंक के उषाकाल में नाटक की भांति नान्दीपाठ रूपी अरुणोदय से होता है । इसमें भी राधाकृष्ण के अलौकिक रूप का स्मरण करते हुए उन्हीं को आराध्य मानकर सर्वप्रथम स्तुति की गयी है ।

राधा के मुखकमल की कांति के समक्ष चन्द्रमा की कान्ति भी म्लानत्व को प्राप्त कर लेती है और इतनी देदीप्यमान कान्ति दिव्य स्त्री या देवी की ही हो सकती है ।

इसी प्रकार दिव्यपुरुषरूप कृष्ण[1] भी नीलकमलकोश के तुल्य कोमल शरीर वाले, कामदेव के मुख को भी मलिन करने वाले, दुकूलयुगल को धारण किये हुए, वाग्वैभव के आश्रित हैं जो राधाकृष्ण की केलिकथा से भक्तजनों को तृप्त करते रहते हैं ।

उनके स्वरूप का वर्णन भी अत्यन्त मनोहारी है क्योंकि उनका वामांसस्थल लटकते हुए सुन्दर कुण्डलों एवं उपवीत की शोभा से युक्त है, त्रिभंगाकृति किये हुए वंशी-वादन में रत श्रीकृष्ण भ्रूभंगिमा से लास्य क्रीडा करते हुए भंवरों के तुल्य श्याम केश में मयूर पंख को शिर पर धारण किये हुए राधादि सैकड़ों प्रमदाओं से आवृत किशोराकृति स्वरूप हैं ।[2]

---

१. नीलाम्भोरुहकोशकोमलतनुं स्मेराननं मालिनं
सुस्निग्धं दधतं दुकूलयुगलं वाग्वैभवस्यास्पदम् ।
स्वीयानां मुदिताकृतीन् सुचयं संतर्पयन्तं सदा
राधा केलिकथासु संततरतं ध्यायामि कृष्णाभिधम् ।। ४
--वृषभानुजा--प्रथम अंक ।

यहां पर कृष्ण नाम में श्लेष है । एक तो दिव्यपुरुष कृष्ण की स्तुति की गयी है एवं दूसरे कृष्ण नाम के कवि के गुरु की वन्दना की गयी है । यह नाटककार द्वारा रचित नान्दीपाठ है जो मंगलाचरण हेतु प्रयुक्त है ।

२. वामांसस्थलचुम्बिकुण्डलरुचा जातोत्तरीयश्रियं
वंशीगीतिमवत्रिभंगवपुषं भ्रूलास्यलीलाकुलम् ।
किंचित्स्नस्तशिखण्डशेखरमतिस्निग्धालिनीलालकं
राधादिप्रमदाशताकुलमहं वन्दे किशोराकृतिम् ।।--वही प्रथम अंक--तीसरा श्लोक ।

कृष्ण और राधा के अलौकिक दिव्यस्वरूप का दिग्दर्शन भक्त दर्शकों के विशुद्ध ज्ञान एवं मोक्ष की कामना हेतु किया गया है । वे सब सायुज्य पदवी को ही प्राप्त करें, ऐसी कामना भी सूत्रधार द्वारा की गयी है । वृन्दावन श्रीकृष्ण की क्रीडास्थली है जहाँ पर दिव्यलीला सम्पादित होती है तभी तो नवघनसदृश श्यामल नन्दपुत्र की गोपियों से आवृत शोभा को देखने के लिए भक्तजन वृन्दावन गमन की कामना करता है । इसी भाव को व्यक्त करने का अभीष्ट उद्देश्य सूत्रधार अपने वृन्दावनगमन के माध्यम से व्यक्त करता है ।

प्रस्तावना के बाद वृन्दा और कनरक्षिका का प्रवेश होता है । वृन्दा कनरक्षिका को राधाकृष्ण के प्रीतिरूपी अंकुर के रूप: प्रस्फुट की संभावना को बताती है क्योंकि वृषभानु गोप के घर वृन्दा का स्वेच्छा से जाने पर सहचरी कन्याओं से आवेष्टित, लीलाओं के रस को अनुभव करती हुई देदीप्यमान अंगकांति से युक्त राधा का दर्शन उसे होता है । तभी से उसके आत्मानुरूप रमणीय गुणों के कारण नवजलधररूप सुन्दर नन्दात्मज के साथ सौदामिनी की भाँति ही राधा के संयोग की कामना कर ली जाती है । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही वृन्दा द्वारा यत्न किया जाता है । यही इस नाटिका का अभीप्सित फल भी है जो बीज रूप में कहा गया है।[1]

वृन्दा वृषभानु द्वारा सत्कृत होने पर अपनी अभीष्टकामना के भावी फलोन्मुख होने की बात उनके समक्ष व्यक्त कर देती है, यह कह कर कि "यह अति ललितांगी राधा कान्तिमान कामदेव की शोभा को भी जय करने वाले रूप की सीमान्तलेखा से युक्त व्रजपति पुत्र की प्रेमभाजी होगी और तुम्हारे लिए अभीष्ट का विधान करने वाली होगी।"[2]

इस कथन का अभिप्राय राधा की प्रतिक्रिया जानने के लिए भी हो सकता है । कि राधा के हृदय में श्रवणपुट से आकृष्ट कृष्ण के प्रति प्रेम का भाव संचारित हुआ या नहीं इसके लिए तो वृन्दा ने राधा का स्नेहरसाभिलाष से रहित भोला एवं लज्जालु रूप ही प्रस्तुत किया है जिससे राधा का अनुराग नन्दपुत्र कृष्ण पर प्रकट हो जाता है ।

---

१. आत्मानुरूपरमणीयगुणेन तन्वी सौदामिनीव रुचिरेण नवाम्बुदेन नन्दात्मजेन सह येन लभेत योगं यत्नं स एव निपुणो त्र मया विधेय: ।

--वृषभानुजा-- १।८ वाँ श्लोक ।

२. इयमतिललितांगी रोचिषामग्रभूमि:, कुसुमशरजयश्री रूप सीमान्तलेखा ।
व्रजपतितनयस्य प्रेमभाजी भविनी, भवति तव नितान्तं वांछितानां विधात्री ।।

-- वही-- १।१०

कृष्ण के अनुराग को जानने के लिए उत्कंठित वृन्दा गोकुल जाने का उपाय करती है,जहां पर राधारूप माधुरी का नन्द के कर्णपथ में प्रवेश हो सके । यहां पर राधाकृष्ण के समागम हेतु वृन्दा द्वारा प्रयत्न किया जा रहा है । गोकुल की वैदूर्य मुक्तामणि से युक्त भूमि नेत्रों को आकर्षित करने में समर्थ हो जाती है और वहां की स्त्रियां भी श्रृंगारकाम की विगत अभिलाषा से युक्त होकर विशुद्ध माधुर्य भाव में ही स्थित रहती है । नन्द का प्रांगण भी तो वैदूर्यमणियों से युक्त है क्योंकि सौन्दर्यनिधि वासुदेव के विद्यमान होने पर विस्मय का अवकाश ही नहीं रह जाता है । कृष्ण के गोचारण हेतु चले जाने पर उनके प्रत्यावर्तन काल तक मां यशोदा की व्यथा का चित्रण भी अत्यन्त मनोहारी किया गया है जो प्रेमसंवलित वात्सल्यरस है ।

उपर्युक्त प्रसंग की योजना राधा के रूपमाधुर्य के प्रकटन एवं कृष्ण के समागम हेतु की गयी है तभी तो इस कथा के बीज के विच्छिन्न होते-होते वनरक्षिका द्वारा यह कथन कह कर "किस प्रसंग से कृष्ण के पिता नन्द के समक्ष राधा नामक स्तवक कर्णाभूषण बनाया गया" इस बिन्दु की योजना की जाती है जो बिन्दु अर्थ प्रकृति इतिवृत्त की योजना में सहायक हुआ है ।

वृन्दा द्वारा वनरक्षिका के पूछने पर बताया जाता है कि नन्द द्वारा समुचित अतिथि सत्कार से सत्कृत करके आगमन का अभिप्राय पूछने पर अभीष्ट का कथन कर दिया गया है कि इस व्रजमण्डल में भ्रमण करते हुए अतिशय शीलरूप सम्पन्न सर्वलक्षणोपेत राधा नामक वृषभानुगोप कन्या की धीरप्रकृति एवं श्री देख कर रूपमाधुर्य में समवयस्क होने के कारण तुम्हारे पुत्र के स्मरण से उत्पन्न दर्शन कौतूहल से आयी हूं ।[1]

इस आन्तरिक जिज्ञासा को फलीभूत करने के लिए ही वन से लौटे हुए कृष्ण का आगमन होता है और इस आगमन को व्यक्त करने में सहायक कृष्ण के साथ गये गोपकुमारों के आलाप हैं ।

इसके बाद श्रीकृष्ण एवं प्रियालाप का प्रवेश होता है और कृष्ण स्वगत कथन करते हैं । वह अत्यन्त दुखी हैं क्योंकि राधा नाम मात्र से ही उनका हृदय आकुल होकर परवश

१, वृषभानुजा-- १।१३

गया है । दुर्लभदर्शना राधा को न देख कर वह अपनेआपको किसी भी प्रकार से आनन्दित नहीं कर पाते हैं ।

इसी समय प्रियालाप के समक्ष उपस्थित होकर वृन्दावन की विहारभूमि में भृंगांगनाओं के शब्द सुनने एवं नृत्य में आसक्त मयूरों से मण्डित वृक्ष से युक्त अपने को आह्लादित एवं तृप्त होने की बात करते हैं जिसके दर्शन मात्र से आन्तरिक प्रसन्नता की अनुभूति होती है ।

प्रियालाप द्वारा उनकी दर्शनलालसा को और भी उत्कंठित करने के लिए ही कहा जाता है कि इससे भी रमणीय कौतुकविशेष रूप अन्य भी इस प्रदेश प्रदेश में संभावित हैं इससे द्रवित हुए कृष्ण अभिलाषा से युक्त तत्काल ही प्रत्युत्तर देते हैं-- "कौन-सी " इससे ही प्रतीत तो हो ही जाता है कि प्रियालाप द्वारा अन्य रमणीय रूप इस प्रदेश में राधा ही हो सकती है,इसको कृष्ण भी समझते हैं परन्तु उनकी औत्सुक्य प्रवृत्ति को अत्यन्त उत्कण्ठित करने के लिए ही कृष्ण द्वारा विस्मयपूर्वक कथन किया गया है ।

प्रियालाप द्वारा कृष्ण की मन:स्थिति का आकलन कर लिया जाता है तभी तो वह वृषभानुनंदिनी के सम्बन्ध में अपने सखा कृष्ण से कहता है कि मदन महोत्सव मनाने के लिए सुखद राधा प्रमुख कुमारियों के साथ वृन्दावन निकुंजवीथिका में आती है परन्तु इस अभीष्ट कथन के पश्चात् भी कृष्ण में कोई प्रतिक्रिया न होने पर प्रियालाप उन्हें चिन्ताग्रस्त समझ लेता है और वृन्दावन को समीप बता कर उन्हें सांत्वना प्रदान करता है ।

तदुपरान्त कृष्ण द्वारा वृन्दावन की शोभा का वर्णन है । कृष्ण द्वारा इधर-उधर विचरण करके शोभा का ही निरूपण किया जाता है पर उससे उत्पन्न परिश्रान्त की भावना जब प्रस्तुत होती है तो उसके निवारण का उपाय प्रियालाप के शब्दों में उस कन्यारत्न राधा में समुत्पन्न अनुराग ही है ।

नेपथ्य में चम्पकलता द्वारा पुष्पों के आहरण की सूचना से प्रियालाप द्वारा माधवी मण्डप में मुग्ध कन्याओं के मृदुशब्द श्रवण से उन्हीं का अनुमान कर लिया जाता है । तभी सखियों सहित राधा का प्रवेश होता है जो कि कुसुमावचयन निमित्त गयी हुई अपनी प्रियसखी चम्पकलता के न लौटने पर दुखी है ।

इसके पश्चात् पुष्पों को पर्णपुट में लिये हुए सस्मिता चम्पकलता का प्रवेश होता है जो कि राधा के सौभाग्य की वृद्धि की कामना करते हुए भी अपनी मनोरथलता के

कुसुमित या फलीभूत होने की बात कहती है और अपने कौतूहल को प्रियसखी द्वारा ध्यान से सुनने के लिए कहती है कि आज निशावसान में मेरे द्वारा कोई स्वप्न देखा गया है, जिसमें सुवर्णयूथिका तमाल के संग ही अवलोकित की गयी है। यह सुन कर राधा लज्जित होकर सस्नेह तमालिका को देखती है और तमालिका द्वारा चम्पकलता से पूछे जाने पर भी समान दर्शन से स्मृतिपथ पर आ जाना कहा गया है।

प्रियालाप द्वारा कहे गये स्वगत कथन में राधा के रूप-लावण्य के विभ्रम में दृढ़ विमुग्ध कहा गया है एवं कृष्ण भी अनुपम सौन्दर्य को देख कर इसी स्थिति के अन्तर्गत आकर चिरकाल से स्थिर नेत्रयुगल को पीछे हटने देना नहीं चाहते, क्योंकि यह राधा के सौन्दर्य को अपलक ही देख रहे हैं।

राधा भी श्रीकृष्ण को देख कर अपने मन में वृन्दा द्वारा पिता के समीप कही गयी बात का स्मरण करती है और समक्ष उपस्थित होकर अपनी सखी चम्पकलता से पूछती है कि यह कैसे संभव हो सकता है ? तब चम्पकलता फल से ही इस प्रसंग के ज्ञापन की बात कह देती है और नवजलधर की विद्युल्लता के समान तमालवृक्ष के संग सुवर्ण यूथिकालता को शोभित करने की बात कह देती है।

कृष्ण की सखी द्वारा कहे गये स्वप्न को सुन कर कर्णसुख का अनुभव करते हुए अपने हृदय को भी उच्छ्वसित करते हैं। राधा अपनी सखी द्वारा स्वप्न की बात सुन कर सप्रणयकोप से युक्त होकर पूजोपकरण सामग्री लाने की आज्ञा देती है तभी नेपथ्य से महादेवी की आज्ञा की घोषणा होती है कि सखी "यशोमति के राधा को शीघ्र लाओ" इस कथन को सुन कर राधा मदनपूजार्थ जाने के लिए चम्पकलता से कह कर चली जाती है एवं कृष्ण लतारन्ध्र में देख कर उच्छ्वसित होते हैं।

द्वितीय अंक का आरंभ वनरक्षिका सहित वृन्दा के प्रवेश से होता है और वह तत्कालीन प्रकृति पर दृष्टिपात करके मृदुलमन्द समीर की शोभा को देख कर उस सौन्दर्य का वर्णन स्वगत कथन से करती है। भगवान सूर्य भी अपनी प्रचण्ड आभा से युक्त दृष्टिगत हो रहे हैं। उस पर दृष्टिपात करके ही वह अनुमान लगाती है कि दिन अपने ही ढंग पर द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है। तभी उसे एकाएक श्रीकृष्ण का स्मरण हो आता है कि गोचारण हेतु गये हुए गोकुलेन्दु क्यों नहीं आये ? क्योंकि उसकी अभीष्ट सिद्धि का उपाय वही हैं। वनरक्षिका से श्रीकृष्ण के आगमन के सम्बन्ध में पूछने पर वनरक्षिका द्वारा समीप में किसी भी मन्त्रणा से कृष्ण के वर्तमान होने का अनुमान लगा लिया

जाता है कि यह कहीं प्रियालाप के सहित मन्त्रणा कर रहे होंगे ।

तत्पश्चात् प्रियालाप सहित श्रीकृष्ण का प्रवेश होता है और इधर प्रियालाप भी माधवीलता मण्डप में मधुरालाप को श्रवण करके कृष्ण को राधा की सूचना देता है और यह अनुमान लगा लेता है कि मदनपूजनार्थ ही राधा का आगमन हुआ है ।

प्रियालाप कृष्ण को भी लतावीथिद्धक मार्ग से जाकर तमाल वृक्ष के नीचे छिपकर राधा को देखने की सलाह देता है और मदनपूजार्थ लायी गयी पुष्पावलि को अंगीकृत कराने के लिए अभ्यर्थना करता है ।

यहां पर प्रियालाप द्वारा गोवर्द्धनपूजा के लिए लायी गयी सामग्रियों का श्रीकृष्ण द्वारा उपभोग किये जाने वाली कथा का भी स्मरण दिलाया जाता है । इसको कहने का एकमात्र अभिप्राय विदूषक के स्वाभाविक पेटूपन गुण को ही अभिव्यक्त करना है,तभी तो प्रियालाप कहता है कि गोवर्धनपूजावलि के समान सब नहीं खा लेना,मुझे भी स्मरण कर लेना[१] । यहां पर इस कथन को सुन कर हास्य की योजना भी होती है,तभी तो कृष्ण भी हंस कर इस कथन को परिहास कोटि में ही परिगणित करते हैं और उनके द्वारा यह कहा भी जाता है कि यह समय परिहासोचित नहीं है वरन् राधा-समागमोचित काल है जिसके लिए योजना क्रियान्वित की जानी चाहिए ।

इस योजना को कार्यान्वित करने हेतु ही दोनों तमालवृक्षमूल की शरण लेते हैं, जहां प्रत्यन्तरीभूत होकर ही श्रृंगार का प्रथम चरण नायिका का दर्शन ही संभाव्य होता है और कृष्ण दूर से ही मधुर ध्वनि को सुन कर राधा की तर्कना करके ही अपने मन में अपनी बात का विचार करते हैं ।

इसके बाद ही राधा का सखियों सहित प्रवेश होता है और चम्पकलता तमाल और राधा को देख कर कृष्ण राधा का ही अनुमान लगा कर इस रहस्यपूर्ण ढंग से अपनी सखी राधा से कहती है--" इस समय कौन तमालमूल में स्थित सुवर्णयूथिका लता की भांति सुशोभित होती है ?" यहां पर वर्णसाम्य के कारण तमाल वृक्ष से श्यामल कृष्ण एवं सुवर्णयूथिका से राधा का उपमान देना तर्कसंगत प्रतीत होता है परन्तु राधा

---

१. गोवर्द्धनपूजावलिमिव सर्वं न भक्षयिष्यसि । बुभुक्षितं मामपि स्मरिष्यसि ।

--वृषभानुजा--द्वितीय अंक,पृ० १६ ।

द्वारा प्रणयमिश्रित क्रोध के कारण ही भ्रूभंगिमा से इस उपमा को असत्य स्वीकार किया जाता है। वास्तविक रूप से ऐसा नहीं है तभी तो चम्पकलता अपनी सखी की आन्तरिक स्थिति का आकलन करके ही इस उपमा को संगत बताती है।

कुसुमायुध की पूजा के समय समस्त सखियों द्वारा मदन देवता से प्रिय सखी के लिए अभीष्ट वर की कामना की जाती है। यहां पर मदन देवता श्रीकृष्ण ही हैं। तभी तो वह सखियों से राधा के अभीष्ट वर के सम्बन्ध में पूछते हैं और सखियां प्रश्नित सी होती हुई किसी भी वर के बारे में नहीं कहती हैं केवल भगवान् कामदेव के पूजन के विषय में ही कहती हैं।

राधा प्रणयमिश्रित कोपदृष्टि कामदेव के मुखस्थ सखीजनों पर डाल कर तिर्यक नेत्रों से देखती हुई अपने मन में ही कहती हैं कि जब इसके दर्शन मात्र से ही हृदय आश्वस्त हो रहा है तब इस जन को दुर्लभ ही समझना चाहिए। कृष्ण राधा के समीप जाकर अभीष्ट कथन को पूछते भी हैं पर वह लज्जा का आश्रय ही ग्रहण करती है। सखियां राधा के मन को आकर्षित हुआ देखकर ही कृष्ण का अनुमान कर लेती हैं तभी तो चम्पकलता कृष्ण के दैहिक सौन्दर्य को देख कर तमालिका से कृष्ण के विद्यमान होने की बात कहती है।

कृष्ण के स्वरूप का वर्णन चम्पकलता करती है जो सिर पर मयूरपिच्छधारी, प्रतिफलितकपोलफलक व विस्तृत नेत्रवाले, देदीप्यमान चन्द्रमा की कांति से युक्त, मुक्ता-फलधारण किये हुए, हिरण्यद्युतपीत कौशेयवस्त्रधारी, दिव्याकृति लावण्यप्रभा से पूरित सखी के मनोभाव को आकर्षित करने वाले हैं। चम्पकलता द्वारा मदनदेवता रूप कृष्ण का अनुमान कर लिये जाने पर ही राधा के अभीष्ट वर श्रीकृष्णदर्शन का भी कथन कर दिया जाता है।

नेपथ्य में गोचारण से लौटे हुए गोपालों द्वारा श्रीकृष्ण एवं प्रियालाप के अन्वेषण की सूचना मिलती है क्योंकि गायें श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ व्याकुल हैं। कोलाहल-श्रवण से चम्पकलता द्वारा कृष्ण से घर जाने की अनुमति ली जाती है परन्तु इसी बीच में राधा द्वारा हार लता के बीच में पड़ी महानीलमणि के गिरने की बात उसके अन्वेषणार्थ ही कही जाती है।

यहां पर महानीलमणि का गिरना राधा की खिन्न मनःस्थिति का परिचायक है जो कृष्ण के वियोग से समुत्पन्न है। चम्पकलता तो उस नीलमणि को दुर्लभ कह देती

है । कुंभ करने का अभिप्राय भी नीलमणिरूप कृष्ण से ही है जिसके अन्वेषणार्थ राधा प्रवृत्त होती है । चम्पकलता की यह उद्भावना है कि राधा के घर जाने की उत्कण्ठा ही महानीलमणि में गिरने सहायक है क्योंकि कृष्णदर्शन से समुत्कण्ठित राधा गृहगमन में महानीलमणि रूप कृष्ण की उस समय उपेक्षा करती है अर्थात् उनसे समागम नहीं करती तभी ऐसी परिस्थिति का समुत्पन्न होना स्वाभाविक है । राधा के चले जाने पर कृष्ण वियोग का अनुभव करते हैं और इसका अनुमान प्रियालाप द्वारा कर ही लिया जाता है । इस अंक में वृषभ का प्रवेश गायों की व्याकुल स्थिति व्यक्त करने के लिए ही हुआ है क्योंकि गायें भी श्रीकृष्णदर्शन संभव न होने के कारण दुखी दिखायी दे रही हैं ।

तृतीय अंक का आरंभ कदम्बक से अनुकूल राधा के प्रवेश से होता है जो कि मन्मथ विकार से विह्वल है परन्तु वह अपने इस विकार को सखीजनों के समक्ष प्रदर्शित करना नहीं चाहती लेकिन राधा की अन्तरंगिणी सखी चम्पकलता अपनी सखी राधा की मनोदशा का विचार करके उसके विश्राम के लिए तमालवृक्ष का आश्रय ही श्रेयस्कर बताती है क्योंकि उसे पूर्ण विश्वास है कि यह वृक्ष वल्लभ के अनुरूप वर्णसाम्य में होने के कारण कृष्णरूप दर्शन की प्रतीति करा कर राधा के संताप निवारण में अवश्य ही सहायक होगा ।

मदनपूजार्थ आयी हुई राधा का दर्शन भी इसी वृक्ष के नीचे गुप्त रूप से प्रकट होने के कारण गोकुलेन्द्र का विश्रामस्थल होने के कारण ही कृष्ण से संयुक्त होकर नायिका राधा के सन्ताप को शान्त करने में सहायक है क्योंकि प्रिय से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु या स्थल नायिका की विरह ज्वाला को भस्मीभूत करने में अग्रभूत रहता है ।

चम्पकलता सखी के कथन के अनुरूप वैसा ही करने पर राधा को कृष्ण की पुष्प वाटिका को अलंकृत करने के साथ ही साथ अभीष्टसिद्धिरूप प्रियालाप सहित कृष्ण के दर्शन होते हैं और मनोरथ के फलीभूत होने पर भी राधा का हृदय आश्वस्त नहीं हो पाता है तभी तो राधा मनोरथसिद्धि पूर्ण होने पर हृदय को आश्वस्त करती है ।

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण की माखनचोरी लीला एवं वल्लभविलासिनियों के चित्तापहरण का संकेत देने के लिए प्रियालाप चम्पकलता से वाटिका के कमलपुष्पों के चुराने के सम्बन्ध में कहता है । इसके कहने का अभिप्राय आगे चम्पकलता द्वारा इस वाक्य से --" युष्माभिः सह गृह गत्वा दधि दुग्धं चोरितम् ,तथापरमपि जानसि लीला

संकेत दिये जाने के कारण पुष्ट होता है। इस स्थल पर ऐसा भी प्रतीत होता है कि सखीजनों के सहित पुष्पवाटिका में राधा को विद्यमान देख कर ही प्रियालाप पुष्पचुराने का सम्बन्ध उन लोगों की कामविषयणी रति से सम्बन्धित करके कृष्ण का हृदय चुराने से संयोजित कर देता है क्योंकि कृष्ण का हृदय राधा द्वारा अपहृत हो चुका है। चित्तापहरणलीला में पहले कृष्ण ही सहायक हैं क्योंकि उन्होंने ही गोकुल में व्रजवनिताओं सहित राधा के चित्त का अपहरण किया था अतएव राधा का ही केवल सर्वप्रथम इस लीला को मूर्त रूप देने में किंचित् मात्र सम्बन्ध न था तभी तो कृष्ण भी प्रियालाप द्वारा कही गयी राधा व उनकी सखी से सम्बन्धित काम-विषयणी रति को पुष्पविषयणी मति से समन्वित करके इस तथ्य का निराकरण कर देते हैं परन्तु चम्पकलता इस लीला का दोष कृष्ण पर ही आरोपित करके अपने कथन से उसकी पुष्टि भी कर देती है।

इसके पश्चात् नेपथ्य से महादेवी द्वारा निर्दिष्ट नागरिका वाटिका में राधा के अन्वेषणार्थ प्रवृत्त होकर राधा के गृहगमन आदेश की सूचना देती है जिसको चम्पकलता एवं तमालिका समझ पाती हैं। कृष्ण राधा के रूप से आकृष्ट होकर आधा दिन व्यतीत हो जाने का अनुमान लगा कर प्रियालाप द्वारा बताये गये केसर कुसुमरस से तमालपत्र पर राधा के स्वरूप का आलेखन करते हैं।

यहाँ पर कृष्ण मदनोत्कंठित दिखायी पड़ते हैं। राधा की चित्रित मूर्ति प्रिया के शब्दों में अश्रुजल से पूर्ण दिखायी पड़ती है क्योंकि राधा समागम न होने के कारण कृष्ण की आन्तरिक विरह-व्यथा इसमें व्यक्त हो जाती है।

इसी प्रकार राधा की उन्मत्तावस्था का अनुभव भी नागरिका राधा के विवर्ण मुख को देख कर लगा लेती है तभी तो वह चम्पकलता से इसका कारण पूछती है और चम्पकलता भी उसकी चतुराननी बुद्धि से अनुमान कर लिये जाने पर विस्मित हो जाती है। राधा की कामपीड़ित दशा कुसुमायुध के वाण की प्रतीति में सहायक है, ऐसा नागरिका द्वारा अनुमान लगा लिये जाने पर ही चम्पकलता चातुर्यपूर्ण ढंग से राधा के विरह का कारण मकरध्वजपूजा-प्रसंग में अपूर्व आश्चर्य रूप तमालवृक्ष का दर्शन बताती है।

राधा का हृदय तमालवृक्ष के प्रसंग को सुन कर श्यामल वर्ण कान्ति से कृष्ण रूप सुगमता से प्रस्फुटित होने के कारण वास्तविक स्थिति के प्रत्यक्षीकरण से भयभीत

हो जाता है परन्तु चम्पकलता तमालवृक्ष का आश्रय लेकर कितने मनमोहक ढंग से असत्य-भाषण का निवारण करके मूल स्थिति का अभिज्ञान नागरिका को करा देती है,तभी तो नागरिका अपने मन में तमालवृक्ष को केन्द्रित करके उसकी अंगकान्ति से कृष्ण का अनुमान लगा लेती है कि स्मितसुधारस से परिपूर्ण,विकसित कमल के समान मुग्धानन स्वरूप वाला,विविध प्रसून संचय की उत्कण्ठा से युक्त पैरों तक लटकती वैजयन्ती व कनकशृंगारभूषणों से युक्त मनोहर कामदेव के सदृश अपने गुणों से विलासिनियों के नेत्रों को विभ्रम करता हुआ नन्दपुत्र ही दृष्टिपथ में राधा के समक्ष उपस्थित हुआ होगा ।

नागरिका द्वारा तमालवृक्ष की दर्शन-लालसा राधिका के हृदय को भयभीत कर देती है क्योंकि उसे कृष्णदर्शन से रति के प्रकट हो जाने का भय है । इसी कारण व्याकुल होकर राधा घर जाने की आकांक्षा व्यक्त करती है और सखियाँ सहित निष्क्रमण कर है ।

कृष्ण राधा के विरह से आकुल होकर राधा का चिन्तन करते हैं और प्रियाला उनकी दशा देख कर विचार-विमर्श करके राधा को लक्ष्य बना कर कहता है कि चौदह लोक में सुरगंधर्वकिन्नर नागकन्याओं के मध्य में कोई भी इस प्रकार की नहीं है जो रूप गुण में राधा के सदृश हो,उसी को देख कर ही तुम अत्यन्त विस्मित हो गये हो ।" कृष्ण अपने सखा के कथन का अनुमोदन करते हैं और अब काम से संतप्त होकर दीर्घ नि:श्वास निकालते हैं ।

यहां पर कृष्ण की कामज्वाला को मन्द करने वाला प्रियालाप ही है जो उनके हृदय को आश्वस्त करता है,माधवीलतामण्डप में बैठ कर मनोविनोद करने को कहता है

उसके बाद श्रीदामा का प्रवेश होता है जो श्रीकृष्ण से कदम्बक की ओर दौड़ती हुई गायों को मुरली नाद से लौटाने के लिए कहते हैं और कृष्ण भी मुरली को ग्रहण कर उस कार्य में प्रवृत्त दिखायी देते हैं ।

चतुर्थ अंक में चम्पकलता राधा की मदनवेदना से दुखी प्रतीत होती है क्योंकि राधा की अन्तरंगिणी सखी होने के कारण वह राधा की व्याकुलदशा देखने में समर्थ नहीं है । काम से सम्बन्धित समस्त विकार राधा में दृष्टिगोचर होते हैं,उसका उन्मूल करने के लिए देवी के द्वारा भी उसे आदेश दिया गया है क्योंकि पुत्री पर आसक्ति हो के कारण ही देवी उसकी जीवनरक्षा का उपाय सोचती हैं । कृष्ण के विरह में राधा के समस्त कार्यकलाप निष्क्रिय हो गये हैं । ऐसी उद्दाम कामावस्था को देख कर चम्पकल राधा से कृष्ण के लिए कामलेख लिखने को कहती है । राधा उसके कथन को अंगीकृत क

धातुरस से कामलेख लिखती हैं। इसके पश्चात् प्रियालाप और कृष्ण प्रवेश करते हैं।

प्रियालाप समीप में कुमारी की कण्ठध्वनि सुन कर राधा का अनुमान लगाकर अपने मित्र कृष्ण से उसी लतामण्डप में स्थित होने के लिए कहता है। कृष्ण जब अधर पर वंशी रख कर बजाते हैं, उस काम के मोहनमन्त्र रूपी वंशी निनाद से राधा और भी उन्मादित हो जाती है। चम्पकलता भी पशुपक्षी आदि को वशीकरण करने वाले मुरली निनाद से कृष्ण का अनुमान लगा कर तमालिका को साथ ले जाये जाने वाले राधा के कामलेख के सम्बन्ध में कहती है।

इसके पश्चात् चम्पकलता कामलेख को ग्रहण करके कृष्ण के समीप धीरे से रख कर लौट जाती है जिससे कृष्ण को उसके आगमन का ज्ञान न हो। प्रियालाप उसे हस्तगत करके कृष्ण के समीप ले जाकर दिखाता है और कृष्ण भी उसके हाथ से उस लेख को ग्रहण करके विश्वाससहित पढ़ कर राधा की कामपीड़ित दशा का अनुमान लगा लेते हैं।

प्रियालाप द्वारा राधा के कामलेख के सम्बन्ध में पूछे जाने पर व्याकुल श्रीकृष्ण प्रिया के दुःख से अभिव्यंजित अक्षरों को भी पढ़ने में समर्थ नहीं होते हैं फिर भी अपने अन्तरंग सखा को पत्र पढ़ कर सुना ही देते हैं जिसमें राधा ने कृष्ण के दर्शन से समुत्पन्न अपनी कामदशा को व्यक्त किया है। प्रियालाप भी राधा की मदनबाधित दशा से दुखी होता है। कृष्ण तो राधा का स्मरण करके कामलेख को हृदय पर रख कर अपनी प्रिया के स्पर्श सुख का अनुभव करते हैं और अपने व्याकुल हृदय को वंशीरव से आह्लादित करते हैं परन्तु राधा इसे वशीकरण मंत्र ही समझती है, क्योंकि यह जड़-चेतन को वश में करने में समर्थ है।

वंशी निनाद से विक्षुब्ध हुई राधा के उपचार के लिए चम्पकलता व तमालिका यह उपाय सोचती हैं कि जब तक राधा का कृष्ण से मिलन नहीं होता है तबतक प्रियसखी के लिए कृष्ण का चित्र आलेखित करके ही उसे जीवनधारण कराया जाये। राधा चित्रस्थ कृष्ण को देख कर निःश्वास लेती है कि यह दुर्लभ जन मेरे मन में नैराश्य को ही उत्पन्न करता है तभी प्रियालाप को चम्पकलता के दर्शन हो जाते हैं और वह फिर पुष्प चुराने की बात कहता है।

इसी बीच में चम्पकलता परिहास के निमित्त अपने पटांचल से मणि को हाथ में छिपा कर प्रियालाप के वस्त्र में धीरे से डाल कर कृष्ण से कहती है कि "आपके मित्र ने मेरी प्रिय सखी के हार के मध्य में से गिरी महानीलमणि प्राप्त की है" इसको सुन कर

प्रियालाप चम्पकलता से क्रोधित हो जाते हैं। चम्पकलता हंस कर लज्जा का आश्रय लेकर राधा के समीप नीलमणि को धारण कराने के लिए जाती है। राधाभास से उपस्थित श्रीकृष्ण के प्रत्यक्षीकरण होने पर अपनी कामपूर्ति समझ कर और लज्जा का आवरण आच्छादित कर लेती हैं।

कृष्ण भी साश्रु होते हुए परभृती को धारण किये हुए राधा के मुखकमल को चकद से पान करते हुए उसकी ~~मममम~~ मूर्ति को मन में स्थापित करके अपने अंक से गिरी मुरली को भी नहीं जान पाते हैं। यहां पर श्रीकृष्ण की साधारण मानवोचित स्थिति का ही प्रदर्शन है।

प्रियालाप राधा के रूपविलास से मोहित अपने सखा की दशा देख कर भ्रमित हो जाता है और वेणुहरण का आरोप चम्पकलता पर आरोपित कर देता है। चम्पकलता उस समय समीप के लता वन में अन्य सखियों के साथ स्थित हो जाती है तभी राधा चकित दृष्टि से इधर उधर देख कर प्रिय सखी का अन्वेषण करती है। कृष्ण तभी आकर राधा से भय त्यागने के लिए और अनेक कन्याओं के गांधर्व विवाह प्रसंग की बात कहते हैं। तत्पश्चात् कृष्ण राधा से गांधर्व विवाह करते हैं और राधा को पुष्पों से अलंकृत करते हैं।

नेपथ्य से राधा के विरह दुःख से दुखी देवी की व्याकुल स्थिति का ज्ञान होता है जो राधा की प्रवृत्ति कैवभिज्ञान के लिए विहंगिका और कदलिका को कालिन्दी जाने का आदेश देती है। गोकुल में कर्णपरम्परा से सुनी गयी लोकप्रवाद को सुन कर इन दोनों सखियों को भी राधा की विरहावस्था का मूल कारण ज्ञात हो जाता है कि यह काम-परवश राधा की अवस्था श्रीकृष्ण दर्शन के कारण ही है।

चम्पकलता एवं तमालिका विहंगिका एवं कदलिका के आलाप को सुन कर राधा के समीप जाती हैं और ~~व~~ चम्पकलता विचार करके तमालिका से कहती है कि प्रिय सखी का कृष्ण के साथ गांधर्व विवाह सम्पादित हो गया है। चम्पकलता राधा के समक्ष जाकर अपने पूर्व वर्णित किये गये स्वप्न के फलीभूत हो जाने पर विशेष फल से अन्वित स्वप्न को परिगणित करती है। राधा इस कथन को सुन कर लज्जान्वित होकर कृष्ण एवं प्रियालाप के साथ कुसुमचयन करती है।

इसके पश्चात् प्रियालाप कृष्ण को चित्रफलक लाकर देता है जिसको कृष्ण ग्रहण करके शय्यातल पर बैठ जाते हैं। राधा स्त्री का चित्र दूर से देख कर अपने हृदय में ईर्ष्या

धारण करती हैं कि यह कौन स्त्री चित्रित है । ईर्ष्या से दग्ध हृदय व्याकुल होकर मान धारण करता है । कृष्ण अपनी प्रिया की विच्छिन्न अवस्था देख कर विषाद का अनुभव करते हैं । उन्हें वास्तविक वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं है कि इस विपन्नावस्था का मूल कारण मूलतः क्या है तभी राधा द्वारा चम्पकलता से मान का कारण कहने पर प्रियालाप उस चित्रफलक को ही इसका हेतु मानता है ।

राधा को प्रसन्न करने के कारण प्रियालाप चित्रफलक को राधा के समक्ष प्रस्तुत कर देता है ताकि उनके मन की शंका निर्मूल हो जाए जो उसके हृदय में परस्त्री से उत्पन्न आन्तरिक हृदयमंथन हो रहा था वह ज्वारभाटा भी समाप्त हो जाए । राधा चित्रफलक पर अपना चित्र अंकित देख कर मान समाप्त करके कृष्ण के प्रति सहज औदार्य भाव से देखती है और अपनी भूल का अनुभव करती है जिससे कि अकारण उनके प्रिय कृष्ण को कष्ट पहुंचा । कृष्ण प्रसन्नचित्त होकर राधा के कमलमुख को देख कर उसके कण्ठप्रदेश में माला धारण करा देते हैं ।

यहाँ वह राधा के रूप गुण से वशीभूत दिखायी पड़ते हैं । राधा कृष्ण का समागम रूप मुख्य फल की प्राप्ति हो जाने पर इस नाटिका का अन्त हो जाता है और कोई अवान्तर अभीष्ट फल ही नहीं है जिसके लिए ~~इतिवृत्त को~~ अग्रिम इतिवृत्त को अग्रिम रूप दिया जाये । नाटिका का अन्त भरतवाक्य से नहीं हुआ है जबकि अधिकांश नाटकों का अन्त भरतवाक्य से ही होता है ।

समीक्षा-- वृषभानुजा नाटिका सम्पूर्ण संस्कृत नाटिकाओं में कृष्णकथा पर आश्रित प्रथम कृति है ।

इसकी कथावस्तु अधिकांशतः कविकल्पित है एवं प्रख्यात कृष्ण को आश्रय बनाया गया है । यह नाटिका शास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित अपने स्वरूप को अंगीकृत करके अपने नायक श्रीकृष्ण का धीरललित रूप ही प्रस्तुत करती है और नायिका भी मुग्धा रूप से प्रस्तुत होती है ।

इस नाटिका का प्रधान रस शृंगार ही समस्त इतिवृत्त में व्यापक रूप से प्रयुक्त है । कृष्ण भी अपने दिव्य स्वरूप का परित्याग करके साधारण मानव की भांति अपनी प्रिया का स्मरण करके दुखी होते हैं । इस तरह की उद्भावना करना नाटिका में उचित ही है राधा में भी ईर्ष्या का अंकुरित होना स्त्रीजनोचित स्वरूप को परिलक्षित करता है ।

पात्रगत विवेचन के आधार पर अन्य पात्रों का विवेचन करें तो पुरुष पात्रों में कृष्ण का मित्र प्रियालाप ही विदूषक रूप में सबसे पहले उपस्थित होता है। प्रियालाप में विदूषक के सब गुण विद्यमान हैं और वह हास्य की योजना करने में सहायक है।

स्त्रीपात्रों में राधा की सखी चम्पकलता, तमालिका, नागरिका आदि आती हैं। समस्त सखियां चित्रालेखन आदि कलात्मक कार्य करने में पटु हैं और अपनी सखी की प्रसन्नता हेतु चित्रांकन कर अपनी दक्षता का प्रदर्शन करती हैं।

पुष्पचयन-प्रसंग में चम्पकलता प्रसूनों का गुंफन करके माला निर्माण कला में भी अपनी कलात्मक, सौन्दर्यात्मक बुद्धि का परिचय देती है।

चम्पकलता ने अधिकांश स्त्रीपात्रों की भांति प्राकृत का ही प्रयोग किया है परन्तु कतिपय स्थलों पर वह संस्कृत के पद्यों की रचना करती हुई दिखायी पड़ती है।

राधा भी कृष्ण को पत्र लिखने में संस्कृत का ही प्रयोग करती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह परवर्ती नाटक है, जबकि 'शाकुन्तल' में शकुन्तला दुष्यन्त को पत्र प्राकृत में लिखती है। इस प्रकार साहित्यिक सौन्दर्याधान करके नाटक का अवसान होता है।

'कृष्णाभ्युदय' प्रेक्षणक -(लोकनाथभट्ट प्रणीत)

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने ग्रन्थ के छठे परिच्छेद में १८ उपरूपकों का व्याख्यान किया है, जिनमें प्रेंखण का प्रमुख महत्त्व है। आचार्य के मतानुसार जिसमें कोई नायक न हो, गर्भ और विमर्श सन्धियां न हों और जिसमें विष्कम्भक, प्रवेशक तथा सूत्रधार न हो उस एकांकी रचना को प्रेंखण कहते हैं।[1]

साहित्यशास्त्र में इसको प्रेंखणक, प्रेक्षणक तथा प्रेक्षणीयक भी कहा गया है। आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा व्याख्यात प्रेरण प्रेंखण से सर्वथा भिन्न है क्योंकि प्रेरण में हास्य और प्रहेलिका का होना अनिवार्य होता है।[2]

---

१. साहित्यदर्पण-- ६।२८३।

२. अभिनवभारती--भाग १ -- हास्यप्रायं प्रेरणन्तु स्यात् प्रहेलिकयान्वितम्'। पृ० १८०-८१।

राजा भोज ने 'शृंगारप्रकाश' में प्रेक्षणक की परिभाषा दी है।[1] भोज की दृष्टि में गली, जनसमूह, चतुष्पद और मंदिर इत्यादि में विशिष्ट पात्रों के द्वारा जो प्रस्तुत किया जाता है वही प्रेक्षणक है। आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्य दर्पण' में भोज के 'शृंगारप्रकाश' से ही प्रेक्षणक का लक्षण ग्रहण किया है। आचार्य सागरनन्दी 'नाटकलक्षणरत्नकोश' में प्रेक्षणक को नृत्तयुक्त मानते हैं। उनके मतानुसार भी समस्त भाषाओं से उपशोभित, समस्त वृत्तियों से सम्पन्न, शौरसेनीप्रधान और प्रतिमुख सन्धि प्रवेशक एवं विष्कम्भक से विहीन रचना प्रेक्षणक होती है।

भावप्रकाशनकार आचार्य शारदातनय ने प्रेक्षणक में कैशिकी, भारती, सात्त्वती और आरभटी वृत्तियों में से किसी एक के युक्त होने की बात कही है।

इस प्रकार उपर्युक्त आचार्यों के व्याख्यानों से प्रेक्षणक का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। राजा भोज ने 'कामदहन', सागरनन्दी ने 'बालिवध', शारदातनय ने 'बालिवध' और 'नृसिंह विजय' तथा विश्वनाथ ने भी 'बालिवध' नामक प्रेक्षणक का उल्लेख किया है। प्रेक्षणकों में सिद्धान्ततः रोष भाषण और बाहुयुद्ध की बहुलता होनी चाहिए।

संस्कृत में विजयनगराधीश बुक्क भूपाल के पौत्र तथा हरिहर के पुत्र महाराज विरूपाक्षदेव ने १५वीं शती के प्रारंभ में 'उन्मत्तराघव' नामक प्रेक्षणक लिखा था। श्रीलोकनाथ भट्ट प्रणीत 'कृष्णाभ्युदय' नामक प्रस्तुत प्रेक्षणक भी उसी कोटि में आता है।

प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि यह प्रेक्षणक कांचीपुराधीश श्री हस्तिगिरिनाथ के वार्षिक ब्रह्मोत्सव के अवसर पर अभिनीत किया गया था। इसके रचयिता लोकनाथ भट्ट श्री वरदार्य के पुत्र हैं जिनका लोकविख्यात नाम कविशेखर था। जनश्रुतियों के आधार पर कहा जाता है कि लोकनाथ भट्ट 'विश्वगुणादर्शचम्पू' के रचयिता वेंकटाध्वरि के मामा थे। वेंकटाध्वरि का समय ईसा की १७वीं शती का मध्यकाल होने के कारण लोकनाथ भट्ट का जीवनकाल भी १७वीं शती सिद्ध होता है।

---

१. रथ्यासमाजचत्वरसुरालयादौ प्रवर्त्यते बहुभिः।
पात्रविशेषैर्यत्तत्प्रेक्षणकं कामदहनादि।

-- शृंगारप्रकाश (भोजकृत)

"कृष्णाभ्युदय" का कथानक वसुदेव और देवकी के पुत्र श्रीकृष्ण का जन्म है। ज्योतिषियों ने देवकी की आठवीं सन्तति द्वारा मथुरा नरेश कंस के मारे जाने की घोषणा की थी जिससे भयभीत होकर उसने देवकी के सात बच्चों का वध कर डाला। देवकी की आठवीं सन्तान कृष्ण को कंस न पा सका क्योंकि महात्मा वसुदेव ने अपने मित्र नन्दगोप के घर कृष्ण को सुरक्षित पहुंचा दिया और बदले में उनकी सद्योजात कन्या उठा लाये। क्रूर कंस ने कन्या को ही आठवीं सन्तति समझ कर मार डाला और इस प्रकार कृष्ण की प्राणरक्षा संभव हो सकी।

"कृष्णाभ्युदय" प्रेक्षणक में देवकी द्वारा अपने सात अपत्यों के शोक में वेदना व्यक्त किये जाने का वर्णन है। विश्ववेदिनी उस अवसर पर देवकी को ढांढस बंधाती है और आठवें पुत्र के जन्म से देवकी का आनन्द और मंगल सम्पन्न होता है।

इस प्रेक्षणक के पुरुष पात्रों में सूत्रधार के अतिरिक्त वसुदेव और पितामह का संदर्भ आया है। उसी प्रकार स्त्रीपात्रों में नटी के अतिरिक्त देवकी, विश्ववेदिनी तथा निपुणिका है।

इस प्रेक्षणक के दृश्य यद्यपि मथुरापुरी के हैं फिर भी इसमें स्थान-स्थान पर दक्षिण भारतीय संस्कार कहीं-कहीं दृष्टिगत होते हैं। जैसे प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है--" यह हमारी सखी नृत्तदीपिका विश्ववेदिनी की भूमिका ग्रहण करके देवी देवकी को आश्वासन देने के लिए वसुदेव के घर जा रही है" इत्यादि।

इस संदर्भ में कवि ने मथुरा के राजमार्ग पर चलती हुई विश्ववेदिनी का जो शब्दचित्र प्रस्तुत किया है उसमें " माहिषदन्तपत्ररुचिरा" शब्द का प्रयोग हुआ है। "कृष्णाभ्युदय" के सम्पादक श्री नरेन्द्रनाथ शर्मा का अभिमत है कि माहिष का तात्पर्य महिषपुर (मैसूर) है जहां का कर्णाभूषण विश्ववेदिनी ने पहना था।[1]

"कृष्णाभ्युदय" कृष्णचरित का आश्रय लेकर लिखी गयी प्रेक्षणक कोटि की संभवतः प्राचीनतम कृति है। अवान्तरकाल में भी इस कोटि की अन्य कोई रचना उपलब्ध नहीं होती।

१, द्रष्टव्य--" कृष्णाभ्युदय"-- पृ० २।

मुकुन्दानन्द भाण (काशीपति)

यह रूपक का एक प्रकार है जिसमें धूर्त चरित का चित्रण हुआ करता है और एक ही अंक में समाप्त हो जाता है। एक दिन की कथा ही भाण में होती है। इसका नायक विट स्वानुभूत अथवा परानुभूत विषयों को सामाजिकों के सामने प्रकाशित करता है। शृंगार एवं वीररस की व्यंजना होती है। भाण की कथावस्तु कल्पित होती है और प्राय: इसमें भारती वृत्ति का प्राधान्य होता है। मुख, निर्वहण सन्धियों की योजना इसमें आवश्यक होती है और सामाजिकों के लिए दसों लास्यांगों का उपन्यास उचित माना गया है। विट अन्य पात्र के न होने पर भी स्वयं आकाशभाषित के माध्यम से अन्य पात्रों की उक्ति की कल्पना कर उत्तर-प्रत्युत्तर रूप में विषय का विस्तार करता है। भारती वृत्ति का प्राधान्य होने के कारण इसमें प्रहसन के गुण आ जाते हैं। इन सब विशेषताओं का मूर्तिमान स्वरूप ही मुकुन्दानन्द भाण है जो मूलभूत तत्वों को ग्रहीत किये हुए है। परन्तु इसकी तकनीक नवीन है।

कथावस्तु कवि-कल्पित स्वीकृत होने पर भी प्रख्यात इतिवृत्त के प्रख्यात नायक श्रीकृष्ण को विट के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भाण में विट के नायकत्व का विधान भी किया गया है। गोपिकाएं स्वेच्छाचारिणी के रूप में प्रस्तुत हैं। यहां पर स्वकीया नायिका तो कोई भी नहीं है परकीया विशेष के ही क्रियाकलापों का वर्णन किया गया है।

एक दिन की कथा होने के कारण मुकुन्द के प्रयाण के समय जो-जो घटित होता है उसी का वर्णन किया गया है। प्रहसन अथवा व्यायोग में प्रख्यात कृष्ण नायक नहीं हो सकते। कृष्ण तो अधिकांशत: नाटक में धीरोदात्त, धीरललित के रूप में ही आये हैं। परन्तु यहां उन्हें विट के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास सर्वथा नवीन है, जिन्होंने प्रख्यात कृष्ण को नायक बनाने का प्रयास अपने भाण में किया। यद्यपि वह पौराणिक दिव्य पुरुष हैं परन्तु उनके क्रियाकलाप, चेष्टाएं निम्नकोटितुल्य विट के समतुल्य ही हैं।

भुजंगशेखर ही कृष्णरूपी नायक एवं गोपिकाएं गुर्वरी हैं। यह कवि के युगान्तकारी दृष्टिकोण का ही परिणाम है। यही इसकी तकनीक के नवीनीकरण का प्रमाण है। इसमें अत्यधिक अन्योक्तियां हैं जो प्रकृति से सम्बद्ध होकर पात्रों पर लागू होती हैं[१]। शृंगारिक वर्णन भी यत्र तत्र दृष्टिगत होता है।

---

१. पुरुषोत्तमाय भक्तो देवायेदमिति मे समर्पयति।
सायंतननीराजनलक्ष्मी वीणर्शतं वधूटी सा ॥ -- मुकुन्दानन्द भाण (७७)

"मुकुन्दानन्द" के कर्ता महाकवि काशीपति के विषय में आधुनिक इतिहास लेखक सर्वथा मौन हैं। निर्णयसागर प्रेस (बम्बई) द्वारा प्रकाशित काव्यमाला के सोलहवें गुच्छक में यह कृति १६२६ ई० में प्रकाशित हुई है। महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद तथा काशीनाथ पाण्डुरंग परब द्वारा दी गयी पादटिप्पणी में केवल इतना संकेत किया गया है कि श्रीकाशीपति द्रविड़ प्रतीत होते हैं और बहुत प्राचीन नहीं हैं। इस संदर्भ में अपने शोधप्रबन्ध (अन्योक्ति साहित्य का उद्भव और विकास) में डा० राजेन्द्र मिश्र ने लिखा है --" मुकुन्दानन्द भाण के अन्त:साक्ष्यों को देख कर सिद्ध हो जाता है कि कवि काशीपति भी रामचन्द्र दीक्षित एवं नल्ला कवि की भांति दाक्षिणात्य ही थे, क्योंकि रामचन्द्र की ही भांति इनका भी कौण्डिन्य गोत्र है[1]।"

इस भाण की नायिका (मंजरी) भी रामचन्द्रविरचित शृंगारतिलक भाण की नायिका हेमांगी की ही भांति रंगपुरी में ब्याही गयी है,जो कि संभवत: दक्षिण का ही श्रीरंगपट्टन है। दोनों कृतियों में नायक भुजंगशेखर है। " शृंगारतिलक भाण" में भी नायिका अपने देवर बाभ्रव्य के साथ ससुराल जाने को उद्यत है और विघ्न डालने पर उसे रोका जाता है। मुकुन्दानन्द भाण" में भी नायिका पति के साथ घर जाने को समुद्यत है और रोकी जाती है। इस प्रकार दोनों भाण कृतियों के कथानकों में पूर्ण साम्य प्रतिलक्षित होता है जिससे सिद्ध होता है कि काशीपति के समक्ष आदर्श रूप में रामचन्द्र दीक्षित का शृंगारतिलक भाण ही रहा होगा।"

रामचन्द्र दीक्षित ने अप्पय दीक्षित के पौत्र श्री नीलकण्ठ दीक्षित से काव्यादि की शिक्षा प्राप्त की थी। नीलकण्ठविरचित नीलकण्ठचम्पू का रचनाकाल सन् १६८३ ई० है। इस प्रकार रामचन्द्र दीक्षित का समय १७वीं शती का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है। उपर्युक्त मंतव्य को दृष्टि में रखते हुए यदि काशीपति को रामचन्द्र दीक्षित से प्रभावित माना जाये तो निश्चित ही उनका समय १८वीं शती स्वीकार करना पड़ेगा।

---

१. कौण्डिन्यवंशरत्नस्य कवे: काशीपते: कृति
मुकुन्दानन्दनामायम् मिश्रभाण: प्रयुज्यते।
--अन्योक्ति साहित्य का उद्भव और विकास (शोध ग्रन्थ)
डॉ० राजेन्द्र मिश्र।

"मुकुन्दानन्द भाण" की दो प्रमुख विशेषताएं परिलक्षित होती हैं--

१. यह एक मिश्रभाण है--मिश्र भाण का तात्पर्य है, रचना में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का युगपद् प्रयोग होना । इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि समस्त भाण कृतियां आद्यन्त संस्कृत भाषा में ही लिखी गयी हैं । मुकुन्दानन्द ही अकेली कृति है जिसमें स्त्रीपात्र प्राकृत बोलती हैं और पुरुषपात्र संस्कृत । काशीपति ने ग्रन्थ के चतुर्थ श्लोक में स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है (मुकुन्दानन्द नामायं मिश्रभाण प्रयुज्यते) ।

२. मुकुन्दानन्द की दूसरी विशेषता है -- इसमें उत्कलिका प्रयोचित ललित गद्य का प्रयोग जिसकी शैली बहुत कुछ कादम्बरी और नलचम्पू से मिलती है ।

मुकुन्दानन्द का नायक भुजंगशेखर श्रीकृष्ण की भूमिका में उतरता है । प्रातः वेला में नायिका मंजरी से वियुक्त होकर वह उसी की टोह में घर से प्रस्थान करता है । मार्ग में उसके अनेक सहचर मिलते हैं जो उसी की भांति वियुक्त हैं और अपनी-अपनी प्रणयकथाएं भुजंगशेखर को सुनाते हैं । वेषवाट में उपयुक्त वेश्याएं मिलती हैं, परस्पर हास-परिहास होता है और अन्ततः सान्ध्य वेला में जटावती के प्रयत्न से नायक-नायिका का मिलन हो जाता है ।

इस रचना में भुजंगशेखर के अतिरिक्त चार और पुरुषपात्र हैं--वसन्तक, वाराहभट्ट, मुद्गलभट्ट और कलंकक । इसी प्रकार नायिका मंजरी के अतिरिक्त ६ अन्य स्त्रीपात्र हैं-- रत्नगुप्त की स्नुषा लीलावती, मरालिका, कांचनलता, चन्द्रमुखी, कनकांगी, पद्मिका,, शुकभाषिणी और तारा ।

जैसा कि प्रारंभ में ही निर्देश किया जा चुका है इस भाण कृति में आद्यन्त कृष्णकथा का आरोप मूल विट कथा पर किया गया है । एक प्रकार से यह कृष्णचरित का अवमूल्यन ही कहा जायेगा क्योंकि भाण रचनाओं का मूल संविधानक वेषवाट से सम्बद्ध माना गया है । यह बात और है कि वेषवाट की यथार्थ स्थिति पर्दाफाश करके कविजन तत्कालीन समाज को सत्पथ पर ले जाना चाहते थे इसीलिए उन्होंने भाणोचित व्यंग्य शैली का आश्रय लिया । फिर भी गोपियों तथा नन्दनन्दन कृष्ण का आरोप वेश्याओं तथा विट पर कर देना धर्म एवं संस्कृति की दृष्टि से ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कवि के इस उपक्रम से असंख्य आस्थावान भक्तजनों के मन में योगेश्वर कृष्ण के छिछोरे चरित्र के प्रति अनभिरुचि तथा घृणा पैदा हो सकती है । वैसे भी कृष्णचरित

की रहस्यमयी यथार्थ स्थिति विरले विवेकीजन ही समझ पाते हैं। जो भी हो, मुकुन्दानन्द काशीपति के उत्कृष्ट भाषा ज्ञान का परिचायक है। संस्कृत और प्राकृत भाषा में बिना किसी परिवर्तन के पढ़ा जाने योग्य निम्नलिखित पद्य कवि की काव्य-प्रतिभा को सिद्ध कर देता है --

इन्दिरावरविहारमन्दिरे मन्दमन्दमरविन्दकन्दरे।
गन्धकुण्डिलमरन्दसुन्दरे बम्भरा इह चरन्ति बन्धुरे ।।

--मुकुन्दानन्द--६६

काशीपति के युग में गौ-ब्राह्मण की हितकामना समाज में सर्वोपरि थी। लोग समयोचित मेघवर्षा की कामना किया करते थे। संभवतः दुष्ट जनों द्वारा समाज में संकट भी उत्पन्न किये जाते थे। कवि समुदाय में काव्य-रचना का प्रचारप्रसार भी था। समाज में अलंकार तथा रसतत्व को समझने वाले विद्वद्गण विद्यमान थे। इसी प्रकार की स्वयुगीन सांस्कृतिक सूचनाएं मुकुन्दानन्द के निम्नलिखित दो पद्यों से प्राप्त होती है --

वर्षन्तु कामं भुवि वारिवाहाः
गोब्राह्मणेभ्यः कुशलानि सन्तु।
तुष्यन्तु सन्तः सुकवि प्रबन्धैः
तेषां च शाम्यन्तु खलोपसर्गाः ।।

-- मुकुन्दानन्द भाण--२५८

कृतिं लसदलंकृतं रसविदाबुधा ये मम
प्रशन्सकृपया वयाञ्जलिधियो बहूकृकृतो
तदीयपदपद्मयोरमयम् प्रणामाञ्जलि
सरोजमुकुलाकृतिशिरसि सन्ततम् न्यास्यते ।।

-- वही--२६० ।

रासलीला (वी० राघवन)

डॉ० वी० राघवन आधुनिक संस्कृत साहित्यकारों में अग्रणी माने जाते हैं। मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृतविभागाध्यक्ष पद से निवृत्त होकर भी आप निरन्तर संस्कृत सेवा में लगे हुए हैं। एक प्रतिभाशाली मौलिक कवि, एक बहुश्रुत समालोचक तथा एक बहुभाषाभाषी विद्वान् के रूप में आज भी आपकी कीर्ति अक्षुण्ण है। आप केन्द्रीय शासन के शिक्षा मंत्रालय से प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका " संस्कृत प्रतिभा " के सम्पादक हैं। अलंकारशास्त्र को आपकी विशेष देन है। महाराज भोज के " शृंगारप्रकाश" नामक अनुपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का प्रकाशन एवं परिचय प्रस्तुत कर आपने संस्कृत जगत का बहुत उपकार किया है।

" दि नम्बर आफ़ रसाज़ " तथा " सम कान्सेप्ट्स आफ़ अलंकार शास्त्र " जैसे विद्वतापूर्ण आलोचना ग्रन्थ आपने प्रणीत किये हैं जिनका प्रकाशन क्रमशः सन् १९४० तथा १९४२ में " अड्यार लाइब्रेरी मद्रास " से हो चुका है। मद्रास विश्वविद्यालय के ही भूतपूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० सी० कुन्हन राजा द्वारा सम्पादित (New catalogus catalogorum) नामक सुप्रसिद्ध सूचीपत्र भी डा० राघवन ने ही तैयार किया है जिसका प्रकाशन मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा १९४९ ई० में हो चुका है।

इसके अतिरिक्त डा० राघवन ने देश-विदेश की सैकड़ों शोध पत्रिकाओं में, अभिनन्दनग्रन्थों में तथा स्मारिकाओं में अपने शोधपूर्ण निबन्ध दिये हैं जिनसे उनकी विद्वत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

"रासलीला" के अतिरिक्त प्रोफेसर राघवन ने " कामशुद्धि" नामक नाट्यकृति भी लिखी है। इस संदर्भ में यह तथ्य विशेष महत्व का है कि डा० राघवन की कृतियाँ "रासलीला" और " कामशुद्धि" रेडियो एकांकी हैं। निश्चय ही इनका संविधान तथा मंचीय दृष्टिकोण से इनका रूप अन्य नाट्यकृतियों से सर्वथा भिन्न है।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में वाचस्पति गैरोला[1] ने (संवत् १९६०) में भागवत पर आधारित संगीतनाटिका, रासलीला और कालिदास के कुमारसम्भव पर आधारित कामशुद्धि नाटिका का उल्लेख किया है।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास--वाचस्पति गैरोला, पृ० ८२० ।

" रासलीला " रेडियो रूपक श्री वी० राघवन द्वारा रचित कृष्ण की रासलीला से सम्बन्धित है। श्रीमद्भागवत की रासलीला से प्रभावित होकर ही " रासलीला " की रचना कवि ने की है। यह श्रीकृष्ण के जीवन के महत्वपूर्ण भाग से सम्बन्धित है क्योंकि इसी रासलीला के माध्यम से परब्रह्मरूप श्रीकृष्ण आत्मारूपी गोपियों के चित्तरूपी वृत्तियों के आवरण का हरण करके उन्हें परमानन्द की अनुभूति कराते हैं। चित्तरूपी वृत्तियों का आवरण ही परमानन्द की अनुभूति में बाधक होता है। भगवान् अपने भक्त में इसका लेशमात्र भी नहीं रहने देना चाहता। इसी अभिप्राय से श्रीकृष्ण की यह रासलीला आध्यात्मिक आवरण का चोला पहन कर और भी मनोरम रूप से सहृदय के समक्ष उपस्थित होती है।

श्री वी० राघवन द्वारा विरचित " रासलीला " १९६३ में संस्कृत रंग वार्षिक में प्रकाशित हुई थी। इससे पहले यह १९४३ में मद्रास की आकाशवाणी से प्रसारित हो चुकी है। यह चार भागों में विभक्त है और चारों भागों को अलग-अलग प्रेक्षणक कहा गया है।

प्रथम प्रेक्षणक एवं अन्य प्रेक्षणकों की कथा तो अधिकांशतः श्रीमद्भागवत की ही कथा से ओतप्रोत है। कवि ने इसमें अपनी मौलिक सूझबूझ का परिचय देना आवश्यक नहीं समझा। भागवत की कथा से स्नात होकर " रासलीला " की भी रचना इसी आधार पर उन्होंने कर डाली। मौलिक उद्भावनाएं करके भागवत की अत्यन्त मनोहारिणी इस लीला में कवि ने अपनी बुद्धि की सूझबूझता का प्रवेश इस भय से नहीं किया कि कहीं भागवत की कथा रोचकता से विमुख न हो जाए। भागवत की कथा से परिपक्व बुद्धि का परिचय तो इसमें मिल ही जाता है कि कवि ने भागवत के मर्म को कितनी अच्छी तरह समझा है।

" रासलीला " की कथावस्तु जानने के लिए प्रथम से लेकर चौथे प्रेक्षणक तक की कथा को प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक है तभी तो इस लीला का रोचक पक्ष प्रत्यक्ष उपस्थित हो सकेगा।

प्रथम प्रेक्षणक में सूत्रधार द्वारा रंगमंच पर भागवतपुराण का एक श्लोक गाया जाता है जिसमें श्रीकृष्ण की अपनी योगमाया के साथ शरद रात्रि में की गयी रासलीला वर्णित है।

गोपियाँ श्रीकृष्ण के वेणुनिनाद से आकर्षित हो ही जाती हैं अतएव श्रीकृष्ण भी वेणुसहित रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। कृष्ण का वेणुनिनाद सुन कर गोपियाँ उन्हें घेर

देती हैं। वह अपने को निवारण करने में समर्थ नहीं हो पाती हैं क्योंकि वह वेणु के जरा-से हुए ध्वनिमात्र से ही व्याकुल-सी हो जाती हैं। श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि में ऐसी आकर्षण शक्ति है जो अपने भक्तजनों को मायामोह के पाश से वियुक्त कर भगवान् के ध्यान में अनुरक्त कर देती है। चराचर जगत भी इस ध्वनि से अपनी सुध-बुध ही खो बैठता है। समस्त ब्रह्माण्ड में ही यह ध्वनि उत्प्रेरण मंत्री की भांति गुंजती रहती है। गोपियां तो भगवान का अभिन्न अंश हैं ही, अतएव सर्वाधिक सुख एवं आनन्द की प्राप्ति की अधिकारी भी वही हैं।

गोपियां भी अपने अन्तस्तल में गूढ़ रूप से विद्यमान रहने वाले अपने अभीप्सित का आख्यान भी श्रीकृष्ण के समक्ष कर ही देती हैं कि वह अपना सब कुछ त्याग कर सकती हैं परन्तु वंशी की मनमोहिनी ध्वनि से अपने को रोक पाने में समर्थ नहीं हो पातीं। भौतिक भोगों से निवृत्त होना तो उचित ही है परन्तु भगवान् से विमुख होना उचित नहीं है, इस गूढ़ अभिप्राय को गोपियां जानती ही हैं तभी तो इस प्रकार की बात कहती हैं। भगवान के समक्ष तो सब कुछ उन्हीं का ही है अतएव त्याग की तो बात ही नहीं रह जाती है।

भगवान श्रीकृष्ण भी अपने भक्तों की परीक्षा लेने के अभिप्राय से गोपियों को घर लौट जाने के लिए कहते हैं कि उनके पति या पिता प्रतीक्षा कर रहे होंगे। दूसरे रात्रि के गाढ़ अन्धकार का भी भय देते हैं परन्तु गोपियां अपनी साधना में सफल ही रहती हैं। गोपियों का हृदय पूर्णरूप से भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति में निमग्न हो गया था, इसी अभिप्राय को जानकर ही श्रीकृष्ण दूसरे प्रेक्षणक में गोपियों के साथ रासलीला करते हैं।

दूसरे प्रेक्षणक में गोपियां यमुना नदी के किनारे खड़ी रहती हैं और श्रीकृष्ण वेणु बजाने में ही तल्लीन रहते हैं। गोपियां श्रीकृष्ण से उनके लिए माला बनाने की बात कहती हैं, तभी श्रीकृष्ण उनको फूल तोड़ने और उसे उनके निकट बैठी वैजयन्ती को देने के लिए कहते हैं। यही गोपी श्रीकृष्ण के लिए माला बनाती है। जब वैजयन्ती फूलों की माला श्रीकृष्ण को देती है तो वह कहते हैं कि यह साधारण फूलों की माला नहीं है। इसको सुन कर गोपियां उस माला को हृदय पर धारण करती हैं जो माला फूलों के रूप में उनके सामने विद्यमान है।

कृष्ण द्वारा माला को सामान्य फूलों से विरचित माला न कहना स्वाभाविक ही लगता है। शरदकाल की रात्रि में असमय ही फूलों का उदय हो जाना अस्वाभाविक

सा ही लगता है। शरदकाल को प्रचण्ड शीत है, पुष्प शीत से मर्माहत हो जाते हैं ऐसी स्थिति में असमय में फूलों का प्रकट होना श्रीकृष्ण की शक्ति का ही प्रभाव है। ऐसा भी प्रतीत होता है मानो पुष्प श्रीकृष्ण की सेवा के लिए असमय में ही उदित हो गये। पुष्प तो भगवान का शिरोभूषण भी होता है।

गोपियां असाधारण फूलों की माला देख कर कृष्ण से कह भी देती हैं कि यदि यह सचमुच में फूलों की माला नहीं है किन्तु हम आपकी नामात्ममाला के समान ही हृदय में धारण करती हैं।[१]

'रास' में प्रत्येक गोपी अपने को महत्वपूर्ण समझ कर अभिमान धारण करती ही है। कृष्ण तो सर्वद्रष्टा हैं ही अतः गोपियों के इस अभिप्राय को जानकर ही उनके दर्पभंग करने के उद्देश्य से अन्तर्धान हो जाते हैं।

तृतीय प्रेक्षणक में गोपियां अपनी भूल का प्रायश्चित करके अत्यन्त विस्मित होती हैं और भगवान् के अन्वेषण में प्रवृत्त हो जाती हैं। वह श्रीकृष्ण के दर्शन करने में सफल नहीं हो पाती हैं। एक गोपी अपने को धैर्य बंधाती है और श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों का दर्शन भी कर लेती है जिससे यह भी सूचित होता है कि श्रीकृष्ण किसी एक गोपी के साथ ही अन्तर्धान हुए हैं। वह अन्य गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के चरणों का अनुसरण करती है। अन्य गोपियां तो उस गोपी से ईर्ष्या करती हैं जिसने श्रीकृष्ण के सहवास में आनन्द की प्राप्ति की। परन्तु वह सब गोपियां भी जब उसी एक पदचिह्न के आगे दुखी होकर खड़ी हुई देखती हैं तो पूछने पर वह बहुत दुःख से बताती है कि श्रीकृष्ण उसको ही साथ लेकर गये थे। जब उसमें भी यह अभिमान जागृत हुआ कि वह ही संसार की सर्वश्रेष्ठ स्त्री है तो वह श्रीकृष्ण से कहती है कि मैं अत्यधिक थक गयी हूं, मुझे कन्धे पर उठा कर ले चलो।" यही सुन कर श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये। इस वृत्तान्त को सुनकर सभी गोपियां उस गोपी के दुःख से दुखी हो जाती हैं। वे सब श्रीकृष्ण के शीघ्रातिशीघ्र लौटने की प्रतीक्षा करती हैं।

चौथे प्रेक्षणक में श्रीकृष्ण के प्रकट न होने पर गोपियों को अत्यन्त मनोव्यथा होती है। सारा अभिमान विरह की ज्वाला में ही भस्मीभूत हो जाता है --यह जानकर ही भगवान् श्रीकृष्ण फिर से प्रकट हो जाते हैं। गोपियां उनको देख कर अत्यन्त प्रसन्न होती हैं।

अन्त में सूत्रधार मंगल श्लोक का गायन करता है और उसी से इस नाटक का अन्त होता है।

१. यत्सत्यमद्य न पुष्पमाला, किन्तु भवतीनामात्ममालामेव हृदयेन वहामि। — द्वितीय प्रेक्षणक, पृ० ४

इस नाटक के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण विलासी नायक के रूप में ही दृष्टिगत होते हैं परन्तु जब गोपियों को घर जाने का आदेश देते हैं उस समय वह अपनी गीता के महानतम उद्देश्य कर्म का ही प्रतिपादन करते हैं । विवेकी गोपियां भौतिक विलास रूपी कर्म को गर्हित समझ कर उसका त्याग कर देती हैं और भगवान् के अभीप्सित अर्थरूप परमानन्द की प्राप्ति सहज रूप से कर लेती हैं ।

राधामाधवीयम् (अभिराजराजेन्द्र प्रणीत)

" राधामाधवीयम् " अभिराज राजेन्द्र " उपनाम से ज्ञात डा० राजेन्द्र मिश्र (प्रवक्ता,संस्कृत विभाग,इलाहाबाद विश्वविद्यालय) द्वारा १९६६ ई० में लिखा गया कृष्णचरिताश्रित एकांकी नाट्यकृति है ।" राधामाधवीयम् " की भूमिका में कवि ने अपनी कृति को " धीरामात्राभिनेयमद्भुतव्यापात्मकम् एकांकीरूपकं " कहा है, जिससे यह नहीं स्पष्ट होता है कि यह नाट्यकृति २८ उपरूपकों की किस कोटि में सम्मिलित की जा सकती है । वस्तुतः कवि हिन्दी साहित्य में प्रचलित आधुनिक एकांकियों के कथाशिल्प से प्रभावित है और उसी पद्धति पर उसने यह रचना भी प्रणीत की है ।

" राधामाधवीयम् " की भूमिका से ज्ञात होता है कि कवि के पितामह का नाम रामानन्द मिश्र था जो श्रीमद्भागवत के महान् मर्मज्ञ और विद्याग्रणी व्यक्ति थे । कवि के पितृचरण का नाम पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र था । अभिराजी देवी का पुत्र होने के कारण कवि स्वयं को " अभिराज " कहता है ।

भूमिका से इस संस्कृत एकांकी के अभिनय का अवसर भी ज्ञात हो जाता है । प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष महाप्राज्ञ पण्डित सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी के सेवा-निवृत्ति महोत्सव से इसका आभिनयिक सम्बन्ध है । सेवानिवृत्ति की तिथि ग्रन्थ की टिप्पणी के अनुसार १६ सितम्बर सन् १९६६ ई० थी ।

" राधामाधवीयम् " की कथावस्तु अवसरानुकूल ही कल्पित की गयी है । कवि के ही शब्दों में कथानक इस प्रकार है --

" मथुरा नरेश कंस के आमंत्रण पर उसका याग समारोह देखने के लिए यशोदानन्दन कृष्ण व्रजग्राम छोड़ कर मधुपुरी प्रस्थान करते हैं । इस आकस्मिक विछोह के कारण नन्दग्राम का समस्त वातावरण सन्तप्त हो उठता है । कृष्ण के पितृचरण नन्द, मां यशोदा तथा अन्यान्य सुपरिचित अनन्य प्रणयी गोपजन अत्यन्त व्यथित हो उठते

हैं ।

परन्तु माधव के वियोग का सर्वाधिक प्रभाव वृषभानुतनया राधिका पर है जो कभी उनकी शैशव सहचरी थी परन्तु अब पौगण्ड प्रेयसी हो गयी है । चन्द्रकला एवं ललिता (सखियों द्वारा) अनेक प्रकार से सन्तोष दिये जाने पर भी राधा का सन्ताप कम नहीं होता । माधव के मधुर सल्लाप की याद व स्मृतियां उसे मूढ़ बना देती हैं । आत्मभर्त्सना एवं भावी वियोग की दाहक अनुभूतियां उसे अचेत बना देती हैं ।

माधव के सुखद स्पर्श से राधिका प्रत्यागत चेतना होती है । अत्यन्त विश्वस्त एवं मधुर वचनों से समस्त पुरवासियों को धीरज बंधा कर कृष्ण एवं बलराम मथुरा को प्रस्थान करते हैं ।

प्रस्तुत एकांकी में कुल ८ पात्र हैं -- सूत्रधार, माधव, बलभद्र, नन्ददेव, अक्रूर, राधिका, चन्द्रकला, ललिता और यशोदा ।

"राधामाधवीयम्" का प्रारम्भ नान्दी के दो ललित श्लोकों से होता है जिनमें कवि ने भंगीभणित के बहाने राधा और कृष्ण के प्रणयात्मक व्यवहार की झांकियां प्रस्तुत की हैं । रचना के अध्ययन से इस एकांकी की अनेक विशेषताएं प्रकट होती हैं --

(क) कवि कोमलकान्त पदावली का पक्षधर है । वह स्वयं को "महाकविचरणरेणु करिपोतक" मानता है जिससे उसकी विनयशीलता प्रकट होती है । यह दोनों तथ्य कवि को कालिदास, श्रीहर्ष, जयदेव तथा पण्डितराज सरीखे व्यंजनावादी सरस लोक कवियों से प्रभावित सिद्ध करते हैं ।

(ख) "राधामाधवीयम्" कवि की प्रारंभिक नाट्यकृति है, क्योंकि सूत्रधार स्वयं कवि के विषय में सूचना देता है कि उसने एम०ए० परीक्षा उत्तीर्ण की है, अनेक स्वर्णपदक प्राप्त किये हैं, अभी-अभी उसने शोधकार्य समाप्त किया है और वह इसी प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग की प्रसूति (प्रोडक्ट) है ।

(ग) "राधामाधवीयम्" में कवि ने विख्यात संस्कृत छन्दों के अतिरिक्त एकमात्रिक गीतिका का भी प्रयोग किया है, जिससे उसकी साहसप्रियता का संकेत मिलता है ।

(नेपथ्ये गीयते)-" त्यज । चातक नववारिधराशाम्

स्वजनजनितमिह सुखमतिकठिनम् मा कुरु मनसि विभाषाम् ।।

(घ) कवि ने प्रस्तुत रूपक में अनेक अन्यापदेशपरक पद्य एवं संवाद लिखे हैं । संभवतः इसका कारण यह हो सकता है कि "अन्योक्ति साहित्य के उद्भव और विकास" पर

शोधकार्य करने के कारण कवि अन्यापदेश पद्धति से अत्यन्त प्रभावित है[1]। कहीं-कहीं कवि ने मानव सम्वेदनावाली सुभाषितों का भी प्रयोग किया है,जैसे--

" सत्यं तीक्ष्णलायकं जनमही लोकस्तृणम्मन्यते (श्लोक ५)

" उद्भूतो यं मसृणमसृण: कोऽपि प्रेमांकुराख्य: छिन्नं भिन्नं प्रणयितृदयं क्षीयमाण: करोति " (श्लोक १६)

(ड०) प्रतिपाद्य वर्णनक्रम में कवि कहीं-कहीं प्राक्तन कवियों से प्रभावित दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ--माधव के चले जाने पर चन्द्रकला उनके वियोग से विधुर-चराचर लोक का हवाला देती है[2] जो कि " कुन्दमाला " में वर्णित " एते रुदन्ति-हरिणा: हरितं विमुच्य " इत्यादि श्लोकों से बहुत कुछ साम्य रखता है।

कवि ने " राधामाधवीयम् " में भरतवाक्य का भी प्रयोगकिया है जो कि नायकादि किसी पात्र विशेष द्वारा नहीं बल्कि नैपथ्य से प्रस्तुत किया जाता है। इस भरतवाक्य में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक व्याप्त भारतभूमि का यशोगान किया गया है। अन्तिम श्लोक में हिमालय से समुद्र तक तथा सौराष्ट्र से आसाम प्रदेश तक विस्तृत भारतभूमि की एकसूत्रबद्ध होने की कामना कवि ने की है। भरतवाक्य में भारतदेश को शत्रुओं का मानमर्दी भी निरूपित किया गया है जो सम्भवत: सन् १९६५ ई० में भारतीय योद्धाओं द्वारा पराजित पाकिस्तान की ओर संकेत करता है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्रीय मान्यताओं की लीक पर न चलते हुए कवि ने "राधामाधवीयम्" की रचना से कृष्णचरिताश्रित नाटककल्पधारा को उपकृत किया है।

---

१. राधामाधवीयम् -- श्लोक १२ (प्रयाग नाट्यमंचगणम्)--वैजयन्त प्रकाशन, द्रौणिपुर,जौनपुर।

२. वही-- श्लोक --१६।

(ग)--आंशिक कृष्णचरित

" भट्टनारायण और उनका वेणीसंहार "

आद्यन्त कृष्णकथाप्रधान नाटकों के अध्ययन के पश्चात् गौण रूप से कृष्णचरित का अवलोकन अपेक्षणीय होगा, जिसमें कृष्ण घटनाओं के संचालक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं जो अभीष्ट फल की प्राप्ति कराने में सहायक होने के साथ-साथ विशिष्ट दैवी गुणों से भी युक्त रहते हैं। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर ही हमारी चक्षुदृष्टि भट्टनारायण के वेणीसंहार पर भी जाती है जहां कृष्ण का महाभारत-सम्मत रूप ही स्वीकार किया गया है।

इस नाटक में कृष्ण को विष्णु के अवतार रूप में ही चित्रित करने का उद्देश्य ही सर्वप्रथम रहा परन्तु कृष्ण का उल्लेख केवल प्रथम एवं षष्ठ अंक के अंतिम भाग में मंच पर प्रवेश के समय हुआ। कृष्ण के मुख से कहलायी गयी--- तत्कथय महाराज, किमतःपरं समीहितं संपादयामि" उक्ति से प्रतीत होता है कि कृष्ण के इर्द गिर्द ही घटनाओं का चक्र घूमता है। नाटक का प्रारंभ भी भगवान श्रीकृष्ण के सन्धि प्रयत्न से होता है, जिसका विस्तृत वर्णन महाभारत के उद्योग पर्व में आया है। समाप्ति भी उनके आशीर्वाद से युधिष्ठिर के राज्याभिषेक पर होती है। तदनन्तर यह भी ज्ञात करना नितान्त आवश्यक है कि भट्टनारायण कहां तक महाभारत से प्रभावित रहे और कहां तक उनकी काल्पनिक दृष्टि नूतन उद्भावना करने में सहायक रही। वेणीसंहार नामक प्रसंग से ही कवि की मौलिक उद्भावना दृष्टिगत होती है क्योंकि महाभारत में भीम द्वारा दुर्योधन के ऊरुभंग का प्रसंग तो है पर उसके रक्त से वेणीगुंथन का प्रसंग नहीं है, इसी प्रकार अन्य कतिपय प्रसंग भी कवि की मौलिकता के परिचायक हैं। इन सब का अवलोकन करने के पश्चात् निष्कर्ष यही निकलता है कि कवि प्रख्यात कथावस्तु का आश्रय लेकर भी अपनी स्वाभाविक कविप्रवृत्ति को नहीं छोड़ पाया, फिर भी स्थान-स्थान पर महाभारत के पात्रों द्वारा कृष्ण की दिव्यता एवं भगवत्स्वरूप ही अभीष्ट होने के कारण विशिष्ट देव ही बना रहने दिया, मानवी नायक की भांति उनके गुणों का आरोपण भगवान श्रीकृष्ण में न होने दिया। नाटककार की कृति का विवेचन करने से पहले अन्य नाटककारों की भांति भट्टनारायण का परिचय भी जान लेना आवश्यक होगा कि इन्होंने महाभारत की कथावस्तु को वैष्णव धर्मावलम्बी होने के कारण आधार बनाया या महाभारत युद्ध को उत्तेजित करने वाले तत्वों का सन्निवेश करके क्षात्रिय धर्म का

परिचय कराने के लिए भीम कैओजस्वितापूर्ण उद्‌गार प्रकट कराये । चाहे जो भी हो, इतना तो जरूर ही है कि हरि, वृषध्वज, धूर्जटि तीनों देवों की स्तुति करने के कारण भट्ट नारायण किसी भी विशिष्ट धर्मावलम्बी मत को मानने के पक्षपाती नहीं रहे हैं। दार्शनिक सम्प्रदायों में भी किसी एक सम्प्रदाय के अंगभूत होकर भी नहीं रहे हैं। यह कवि की अपनी विशेषता रही है कि वह सब धर्मों पर आस्था रखे से प्रतीत होते हैं फिर भी तीनों देवों की साथ-साथ स्तुति करने के कारण शंका का मकड़ी का जाल इतना सुन्दर ताना-बाना बुनता है कि उसे समाप्त करने के लिए कवि का परिचय ज्ञात करना नितान्त आवश्यक है कि वह किस समय हुए एवं कौन-से धर्म के प्रति उनकी अधिक निष्ठा दृष्टिगत होती है।

नाट्यशास्त्र में तो प्रस्तावना में ही कवि के कुल का परिचय और पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख करने का भी विधान है। इसके आधार पर नाटककारों ने अपने जीवन के विषय में यथाकिंचित लिखने का प्रयास किया है परन्तु भट्टनारायण ने तो प्रस्तावना में भी अपना कोई विशिष्ट परिचय नहीं दिया केवल 'मृगराजलक्ष्मा' उपाधि की ही सूचना मिलती है जिसमें सिंह के आधार पर इनका क्षत्रिय धर्मावलम्बी होना तो किंचित मात्रा में सिद्ध होता है पर अन्य अंशों पर भी दृष्टिपात करने पर इसका भी निराकरण हो जाता है इसका कारण तृतीय अंक में राक्षस-राक्षसी संवाद में " ब्राह्मण शोणितं खल्वमिदं ।गलं दहदहत्प्रविशति" संदर्भ से ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन होना ही मुख्य है। प्राचीनकाल में सिंह उपाधि द्वारा क्षत्रिय ही जाना नहीं जाता था वरन् किसी भी जाति का व्यक्ति धर्मावलम्बन के आधार पर किसी विशिष्ट जाति से संयुक्त किया जा सकता था। ब्राह्मण धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से इसी जाति में भट्टनारायण को सन्निविष्ट किया जा सकता है वैसे भट्ट शब्द भी उनके ब्राह्मणत्व को द्योतित करने में सहायक तो है ही। वैष्णव धर्मावलम्बन के पक्ष में कवि का अपना कोई निजी मत भी दृष्टिपथ पर नहीं आता। क्षितीशवंशावली चरितम्[1] के अनुसार भट्टनारायण कान्यकुब्ज निवासी शाण्डिल्य गोत्रोत्पन्न सारस्वत ब्राह्मण था। वह बंगाल के सेन वंश के प्रवर्तक आदिशूर के निमंत्रण[2] पर कन्नौज से बंगाल जाकर बस गया। परम्परा के अनुसार टैगोर वंश का आदि पुरुष[3] मान सकते हैं, इसके लिए सबल प्रमाण नहीं है जो इसकी

---

१. क्षितीशवंशावली चरित (फ्रांड्‌ट ह्यूमलर द्वारा प्रकाशित, जर्मनी १८५२ ई०) ।
२. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर--एस०के०डे । श्रीयुत रामप्रसादचन्द्रकृत (गौडराजमाला) राखालदास बनर्जी, एल०आर० वैद्य, गजेन्द्र गडकर, वरदाचारी, विल्सन आदि अनेक विद्वानों के प्रमाणानुसार ७ से १०वीं शताब्दी के मध्य ५ ब्राह्मण गये थे।
३. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास--कपिलदेव द्विवेदी पृ० ४८२

पुष्टि में सहायक हों परन्तु इतना तो मान ही सकते हैं कि वे ब्राह्मण ही थे ।

<u>समय</u> :-- आचार्य वामन ने अपनी काव्यलंकारसूत्र वृत्ति में भट्टनारायण के पद्य उद्धृत किये हैं (४।३।२८) । भट्टनारायण वामन के पूर्ववर्ती हैं परन्तु यह वामन वैयाकरण काशिकाकार (वामन जयादित्य) से भिन्न है । वामन के समय निर्धारण करने से पूर्ववर्ती भट्टनारायण के समय का भी ठीक-ठीक पता चल जाता है । वामन कश्मीरनरेश जयापीड के मंत्री थे क्योंकि राजतरंगिणी में कहा गया है ।--

> मनोरथ: शंखदन्तश्चटक: सन्धिमास्तथा ।
> बभुवु:कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिण: ।।

इस आधार पर जयापीड के शासनकाल का पता लगाने पर ७५० ई० समय ही उनका ज्ञात होता है अत: पूर्ववर्तिता के आधार पर भी कवि का समय छठवीं या सातवीं शती होना चाहिए । ग्रिल भी इसी मत के समर्थक हैं । विल्सन ईसा की ८वीं या ९वीं शताब्दी मानते हैं । आदिशूर के समकालीन मानने के पक्ष में अबुल फजल कहते हैं कि आदिशूर १३वीं शताब्दी में वर्तमान राज्य बल्लालसेन से पूर्व २३वां राजा था । मध्यवर्ती राजाओं की अवधि ३०० वर्ष मान लेने पर आदिशूर का समय ९वीं शताब्दी ज्ञात होता है । बाण से परवर्ती होने के कारण ६ ठीं या ७ वीं शती समय ही अधिक सार्थक प्रतीत होता है ।

भट्टनारायण के समय का निर्धारण होने के पश्चात् उनकी कृति वेणीसंहार की कथावस्तु का अन्य कृष्णकथापरक नाटकों की भांति विवेचन करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह मूलभूत कृष्णकथा से प्रसंगान्तर सम्बन्ध रखती है जिसका कार्यफल मुख्य रूप रूप से भीम द्वारा दुर्योधन के रक्त से द्रौपदी के केश संयमन करना है । कृष्ण का रूप प्रारंभ में एवं अन्त में जिस प्रकार का भी आया उसी का विवेचन करना कृष्णकथा के प्रसंग में उचित है ।

इस नाटक में महाभारत के कथानक को नाटकीय रूप देने का यत्न किया गया है । भट्ट नारायण को वैष्णव और उनमें भी पांचरात्र सम्प्रदाय का अनुयायी माना गया है[१] किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता है ।

"वेणीसंहार" की नान्दी में राधा के साथ कृष्ण की रासलीला का उल्लेख है । इससे पता चलता है कि आठवीं शताब्दी से पहले यह वृत्तान्त काव्यजगत में विद्यमान था ।

---

१. श्लोक १।२३,६।४३,४५,४६ में कहीं भी ऐसे सिद्धान्त का उल्लेख नहीं हुआ है जो एकमात्र पांचरात्र सम्प्रदाय का सिद्धान्त हो ।

प्रथम अंक (श्लोक २३) में कृष्ण का वर्णन वैसा ही है जैसा होना चाहिए। उसमें कवि के विश्वास की बात कहीं भी लक्षित नहीं होती। पाण्डवों को कृष्ण के देवत्व में विश्वास था और भीम द्वारा कृष्ण की दिव्यता का वर्णन स्वाभाविक है।

भरतवाक्य द्वारा युधिष्ठिर द्वारा कृष्ण के वर्णन में भी युधिष्ठिर की भक्ति के अतिरिक्त और कुछ सिद्ध नहीं होता। युधिष्ठिर का कृष्ण सम्बन्धी मत इतना स्वाभाविक है कि उसमें कवि के मत का दर्शन करना अनुचित है।[१]

शिव,विष्णु,कृष्ण तथा राधा सम्बन्धी उल्लेखों से कवि का इतिहास पुराण तथा भागवत आदि ग्रन्थों से परिचय पता चलता है।

महाभारत के विस्तृत अंश को कवि गृहीत करके संजो नहीं पाया है अत: कथावस्तु में व्यापारान्विति का अभाव है। यदि कवि,नाटक का निर्माण न करके श्रव्य नाटक का निर्माण करता तो अधिक सफल रहता।

सुभद्राधनंजय

महाराज कुलशेखर तपती संवरण एवं सुभद्राधनंजय नाटकों के कर्ता रूप में प्रसिद्ध हैं। वे दक्षिण भारत में विद्यमान त्रावनकोर साम्राज्य के अधिपति थे। उनका समय ८वीं शती ई० माना जाता है। निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित काव्यमाला के द्वितीय गुच्छक में कुलशेखरविरचित एक लघुस्तोत्र ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है-- मुकुन्दमाला।

इस ग्रन्थ में कुल ३४ श्लोक हैं,विविध छन्दों में। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है श्रीकृष्ण का संस्तवन। इस स्तोत्र ग्रन्थ से सिद्ध होता है कि कुलशेखर महान् कृष्णभक्त थे और उनके मन में विराग भावनाएं भरी हुई थीं। ग्रन्थ के अंतिम श्लोक से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि महाराज कुलशेखर के दो परमप्रिय ब्राह्मणवंशोपकारी तथा वेदविद्या-विचक्षण मित्र थे। श्लोक इस प्रकार है --

"यस्य प्रियौ श्रुतिधरौ कविलोकवीरौ मित्रौ द्विजन्मपरिवारशिवावभूताम्।
तेनाम्बुजाक्षचरणाम्बुजषट्पदेन राज्ञा कृता स्तुतिरियं कुलशेखरेण ॥

द्रष्टव्य--मुकुन्दमाला--३४ (काव्यमाला द्वितीय गुच्छक)--निर्णयसागर प्रेस,बम्बई।

कुलशेखर वर्मा ने सुभद्रा धनंजय एवं तपतीसंवरण इन दोनों नाटकों के आख्यान महाभारत से लिये हैं। तपतीसंवरण की कथा महाभारत के आदिपर्व में आयी है। यह ६ अंकों का नाटक है। इसी प्रकार "सुभद्रा धनंजय" भी ५ अंकों का नाटक है।

---

१. धूर्जटि की स्तुति करने के कारण कवि को शैवमतावलम्बी भी समझा जा सकता है, वैसे वह किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे।

इन्होंने "आश्चर्य मंजरी" नामक एक कथा की भी रचना की थी । कुलशेखर वर्मा ने भास की तरह प्रस्तावना का अनुकरण न करके स्थापना की संयोजना अपने नाटक में की है । यह भी पूर्ववर्ती परम्परा का अनुकरण करने वाले हैं ।

कुलशेखर वर्मा का यह नाटक "सुभद्राधनंजय" भी कृष्णकथा पर आश्रित नाटक नहीं है । इसमें सुभद्रा और अर्जुन की प्रणयकथा वर्णित है ।

अर्जुन द्वारा सुभद्रा का हरण कर लिये जाने पर श्रीकृष्ण द्वारा यादवगणों का क्रोध शान्त कराके अर्जुन के साथ बहिन सुभद्रा के परिणय की अनुमति दी जाती है ।

इस नाटक में भगवान् वासुदेव०के ~~नायक~~ अर्जुन के सहायक रूप में ही आये हैं । इसमें मूलत: भगवान् वासुदेव की कथा वर्णित नहीं है फिर भी वासुदेव की उपस्थिति अन्य पात्रों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है ।

प्रधान पात्र तो अर्जुन और सुभद्रा ही हैं । इन्हीं के प्रणय व्यापार को चरम रूप में परिणत करने के लिए ही कथावस्तु का रोचक ग्रंथन कवि ने किया है ।

भगवान् वासुदेव तो सर्वशक्तिमान् हैं ही,अतएव नायक अर्जुन की इष्टसिद्धि भी वासुदेव पर ही आश्रित है । कृष्ण भी अपने मित्र अर्जुन का अनुराग सुभद्रा पर समझ लेते हैं । वह अर्जुन के शौर्य से भी परिचित हैं तभी तो उचित पात्र से अपनी बहिन का पाणिग्रहण करना उन्हें अनुचित नहीं प्रतीत होता है ।

श्रीकृष्ण के भाई ~~अर्जुन~~ बलभद्र भी अन्य यादवगणों की तरह ही क्रोधित होते हैं परन्तु वासुदेव अर्जुन को ही अपनी बहिन सुभद्रा के लिए श्रेष्ठ बता कर उनका क्रोध भी शान्त कर देते हैं ।

इसी प्रकार जब अर्जुन सुभद्रा के वियोग में सन्त्रस्त हैं तब विदूषक अपने मित्र अर्जुन की कामावस्था को देख कर यही कह कर ढाढ़स दिलाता है कि किसलिए तुम अपने को कष्ट दे रहे हो ? वासुदेव सुभद्रा को तुम्हें प्रदान करने के लिए स्वयं ही कहेंगे । वह भी तुम्हारा सुभद्रा पर अनुराग जानते हैं एवं तुम्हारी वीरता से भी परिचित हैं ।[१]

यहां पर विदूषक को दृढ़ विश्वास है कि उसके मित्र अर्जुन की अभीष्ट कामना भगवान् वासुदेव के द्वारा ही पूर्ण होगी । अन्ययादवगणों का विरोध तो अर्जुन के द्वारा सुभद्रा से विवाह करने पर होगा ही,इसे अर्जुन भी समझते हैं परन्तु श्रीकृष्ण पर आत्म-

---

१. सुभद्रा धनंजय--तृतीय अंक,पृ० १०१--कुलशेखर वर्मा ।

विश्वास होने के कारण अर्जुन वासुदेव की आज्ञा की अपेक्षा करते हैं।

इस नाटक में नायक अर्जुन द्वारा नायिका सुभद्रा को प्राप्त करने के लिए जो उद्यम किया जाता है वह निःसन्देह ही एक अभूतपूर्व प्रयत्न है। अर्जुन वेश-परिवर्तन से भगवान् परमहंस के रूप में संन्यासी वेष धारण करके रैवतक के समीप कांचन उद्यान में निवास करते हैं। भगवान परमहंस के दर्शन के लिए जब संकर्षण और वासुदेव प्रवेश करते हैं तो परमहंस रूप में अर्जुन वासुदेव से अपने वेषपरिग्रहादि वृत्तान्त का कारण पत्नीलाभ बता देते हैं।

वासुदेव अर्जुन की सन्यासी वेष में क्लेश को सहते हुए की गयी कठिन तपस्या की प्रशंसा करते हैं और सुभद्रा की प्राप्ति में विघ्न नहीं देते हैं। संकर्षण भी परमहंस रूप में विद्यमान अर्जुन की निस्पृह तपस्या की प्रशंसा करते हैं और कंचुकी से उन्हें कन्यापुर ले जाने का आदेश देते हैं। तभी अर्जुन को सुभद्रा का दर्शन होता है और अर्जुन-सुभद्रा परस्परानुराग से कामपीड़ित दिखायी देते हैं।

चतुर्थ अंक के आरम्भ में नन्दगोप गोपालकों को स्वयं आरब्ध किये गये गिरियज्ञ महोत्सव का अनुभव कराने के लिए गोसमूह सहित रैवतक जाने की आज्ञा देते हैं। गोपालक वही वृत्तान्त गोवर्धनिका को बताता है--यह नन्दगोप द्वारा आरब्ध गिरियज्ञ रैवतक के समीप कांचन उद्यान में है। गोवर्धनिका भी वहीं का अनुसरण करती है।

अर्जुन और सुभद्रा में प्रगाढ़ अनुराग पल्लवित होने के पश्चात ही सुभद्रा का हरण कर लिया जाता है। छद्मवेष धारण करके सुभद्रा के हरण का वृत्तान्त यादवों द्वारा जान लिये जाने पर अन्धक,वृष्णि आदि योद्धाओं द्वारा मार्ग में विघ्न उत्पन्न किया जाता है। इससे चारों तरफ आतंक का वातावरण उपस्थित हो जाता है।

गोपालक भी भैंसों के भय से आतंकित हुआ देख कर भययुक्त वातावरण का कारण जानना चाहते हैं तभी नेपथ्य के कोलाहल के बीच आवाज सुनायी पड़ जाने पर यह पता चलता है कि सुभद्रा का अर्जुन द्वारा हरण कर लिये जाने पर अन्धक वृष्णि द्वारा विघ्न उत्पन्न किया जा रहा है।

इसी बीच में अर्जुन के दर्शन होने पर गोपालक कहता है कि--यह महापुरुष गाण्डीव धनुष पीठ पर चढ़ाये हुए स्वामिनी सुभद्रा के साथ घोड़े की लगाम पकड़े जा रहा है। वह असमय अर्जुन का प्रतिभिज्ञान नहीं कर पाता है।

इसी बीच में दूसरा गोपालक अर्जुन का रूपगुण साम्य कृष्ण की तरह ही होने के कारण कृष्ण का ही अनुमान लगा लेता है।[1] तभी प्रथम गोपालक द्वारा अर्जुन के

---

१ मध्यमा धनंजय--पृ० १३९।

पहचान लिये जाने पर[1] उसकी शंका का निवारण किया जाता है--" यह वासुदेव नहीं वासुदेव-सदृश पार्थ हैं।

यहां पर इस वृत्तान्त का उद्देश्य वासुदेव और अर्जुन में समता प्रतिपादित करना है। इस प्रकार से दोनों में अभेद सम्बन्ध दिखाया गया है।

वासुदेव के गुणों से युक्त होने के कारण भी अर्जुन चरित पर आश्रित इस नाटक में कृष्ण का भी प्रसंग दृष्टिगत होता है। यद्यपि वासुदेव ही इस नाटक में कृष्ण के सहायक रहे हैं परन्तु कात्यायनी देवी द्वारा भी चमत्कारिक ढंग से पांचाली का वेष बना कर सुभद्रा की राक्षसों से रक्षा करके अर्जुन को समर्पण कर नायक की इष्टसिद्धि की प्राप्ति करा दी जाती है। तत्पश्चात् युधिष्ठिर, भीम वासुदेव द्वारा अपने गौरव के अनुरूप अभिनन्दन कर देने पर सुभद्रा और अर्जुन दोनों परमानन्द में निमग्न हो जाते हैं।

यही इस नाटक का संक्षिप्त इतिवृत्त है। इसका अत्यधिक विस्तृत विवेचन करना इसलिए अप्रासंगिक है क्योंकि यह नाटक मूलतः कृष्णचरित पर आश्रित नहीं है। अतः यह शोध के विषय से सम्बद्ध नहीं है फिर भी गौण रूप से भी कृष्णकथा आने पर इसका अध्ययन करना समुचित प्रतीत होता है।

सुभद्रा परिणय (व्यासरामदेवकृत)

" सुभद्रापरिणय " छाया नाटक व्यास रामदेव के द्वारा लिखा गया है। इन्होंने दो और नाटकों की रचना की है जो कि " रामाभ्युदय " और " पाण्डवाभ्युदय " हैं। कवि की इन तीनों में रचनाओं में " सुभद्रापरिणय " ही श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें कवि की विशिष्ट प्रतिभा प्रदर्शित है।

यह तीनों रचनाएं किस काल में प्रणीत की गयीं और किस राजा के आश्रय में इनका प्रणयन हुआ ?--इसको ज्ञात करने के लिए उन नरेशों के राज्यकाल के सम्बन्ध में कतिपय सामग्री की आवश्यकता है, तभी तो उन नरेशों का स्थितिकाल जान लेने के पश्चात् श्री व्यास रामदेव का स्थितिकाल ज्ञात हो सकेगा।

---

१. अरे नैष वासुदेवः। वासुदेवसदृशरूपः पार्थः (प्राकृत से अनूदित संस्कृत)
-- सुभद्रा धनंजय--पृ० १३१।

व्यास रामदेव के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह कलचुरी नरेशों के आश्रित कवि थे। इन राजाओं का राज्यकाल तो संभवत: १४०२ ई० से १४१५ ई० है। श्री एम० कृष्णमाचारियर ने अपने ग्रन्थ "हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर" में भी कवि की यही तिथि बतलायी है।[1] इसी समय कलचुरी भूपालों के आश्रित रह कर तीन नाटकों की रचना की।

"सुभद्रा परिणय" छाया नाटक के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह नाटक हरिवर्मदेव[2] (हरिवर्मा) या हरिब्रह्म राजा के आदेश से प्रणीत किया गया। यही उनकी प्राथमिकी रचना है। कवि ने इस नाटक में अपने आश्रयदाता के यश[3] और दान[4] की प्रशंसा की है।

"रामाभ्युदय" और "पाण्डवाभ्युदय" तो परवर्ती रचनाएं होने के कारण हरिवर्मदेव राजा के पौत्र श्री रणमल्लदेव राजा के आश्रय में निवास करते हुए ही रचा गया, यह संभावना प्रतीत होती है।[5] इस प्रकार से हरिवर्मा के आश्रय में रहने के पश्चात उनके पौत्र के भी आश्रय में कवि की स्थिति होना कवि के दीर्घ जीवन का अनुमान लगाने में प्रमाण सिद्ध करती है।

"व्यास रामदेव" यह नाम कवि[6] की जाति का भी द्योतक है क्योंकि व्यास इस उपाधि से यह ब्राह्मण समझे जाते हैं। परन्तु कैसे ब्राह्मण हैं, इस सम्बन्ध में प्रमाणाभाव के कारण कुछ भी कहना असंगत है।

---

१. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर--एम०कृष्णमाचारियर, पृ० ६८६, नं० ७७२।

२. एकैव रसना ममास्ति तु परं नापि स्थिरं तत्कथं
   वर्ण्यः श्रीहरिवर्मदेवनृपतिर्यस्य क्षमामण्डले।
   शश्वद्दानजलाभिषेकबलाद्भूतलक्ष्म्याः कला
   वप्यस्मिन्निगमावली रुहवती शाखाशतैर्जृम्भते।
   -- सुभद्रा परिणय--श्लोक ६।
   ,, --श्लोक ७।

३. वही--श्लोक ११

४. वही--श्लोक १२

५. सुभद्रा परिणय की भूमिका--नारायण शास्त्री, पृ० ४।

६. सुभद्रापरिणय की भूमिका--नीलकंठ शास्त्री, पृ० ६।

कवि के जीवनपक्ष पर दृष्टि अंकित करने के पश्चात् उनके नाटक 'सुभद्रापरिणय' पर भी दृष्टिपात करना चाहिए कि इसे कवि ने छायानाटक क्यों कहा है ? छायानाटक का स्वरूप 'श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदयं' के वर्णन के समय बताया जा चुका है।

'सुभद्रापरिणय' नाटक में केवल एक अंक का प्रयोग हुआ है और उसमें पात्र मंच पर उपस्थित न होकर छाया से रंगमंच पर अभिनय करते हैं, अतएव इसे छायानाटक कहना तर्कसंगत है।

'सुभद्रापरिणय' का कथानक भी महाभारत से ग्रहीत किया गया है परन्तु लघुतम एक अंक में भी कवि ने महाभारत के कलेवर को समेटने का यत्न किया है और उसमें से रोचक तथ्य निगृहित किये हैं। यद्यपि यह नाटक मूलरूप से अर्जुन और सुभद्रा की प्रेमकथा पर ही आश्रित है फिर भी सुभद्रा के कृष्ण की भगिनी होने के कारण श्रीकृष्ण का भी अन्य पात्रों के साथ उल्लेख किया गया है।

अर्जुन श्रीकृष्ण के मित्र हैं और श्रीकृष्ण भी अपनी मैत्री को प्रगाढ़ रूप देने के लिए यथावसर अर्जुन की सहायता करते हैं जिससे नायक की फलप्राप्ति अवश्यंभावी हो जाती है। इस नाटक में अभिनीत पुरुष एवं स्त्री पात्रों की संख्या निम्नलिखित है।

पुरुष पात्र--सूत्रधार, पुरुष वसुभूति (अर्जुन का मित्र), पुष्कराक्ष: (श्रीकृष्ण का अनुचर), अर्जुन, विश्वसेन, सुनीति, सारथि, वासुदेव।
स्त्रीपात्र-- नटी, चन्द्रलेखा, सुभद्रा, वकुलमाला, लवंगिका, मालतिका और कलहंसिका।

ग्रन्थ के आरंभ में ही सूत्रधार द्वारा कहे गये नटी के कथन से ही वासुदेव भगवान् के साथ अर्जुन का प्रवेश होना सूचित होता है। इसके बाद कृष्ण का अनुचर पुष्कराक्ष और अर्जुन का मित्र वसुभूति प्रवेश करता है और दोनों में वार्तालाप होता है। वसुभूति रात की शोभा के साथ ही होने वाली उषा का भी वर्णन करता है कि "यह उदयगिरि शिखर से भगवान् सूर्य सुशोभित हो रहे हैं।" इसके बाद उसकी अरुणिमा का वर्णन करता है। नित्य नवीन आभा को धारण करने वाली द्वारका नगरी भी उसे मनोहारी प्रतीत होती है।

मधुसूदन के अनुचर पुष्कराक्ष के द्वारा मधुसूदन का धनंजय पर निरतिशय प्रेम द्योतित होता है। पुष्कराक्ष और वसुभूति दोनों धनंजय की वीरता एवं रणकुशलता के बारे में वार्तालाप करते हैं। वसुभूति कहता है--" एक बार कुरुराजधानी में गगन-

मध्याह्न भगवान् सूर्य की किरणों के राजद्वार पर पड़ने पर किसी के द्वारा अपहृत गोधन और गोपजन के पराभव की घोषणा से कोलाहल हुआ । तभी शत्रुओं के पराभव के अभिप्राय से धनंजय गाण्डीव ग्रहण करके वासभवन में प्रवेश किया । अर्जुन शत्रुओं का पराभव करके गोधन को वापस ले आते हैं और तीर्थयात्रा प्रसंग से सरस्वती के संगम से देदीप्यमान महोदधि के समीप जाते हैं । तीर्थयात्रा प्रसंग को सुन कर श्रीकृष्ण शीघ्र आकर वार्ष्णेय मन से प्रमद का अनुभव करते हुए साथ ही द्वारवती पहुंच कर लीलोद्यान के निकटवर्ती विविक्त कंदर्पन्त विलास भवन में दिन-रात व्यतीत करते हुए नवीन उपचारों से युक्त होकर कितने दिन व्यतीत करते हैं ।

इसके पश्चात लीलोद्यान में ही अर्जुन द्वारा किसी कामिनी के नूपुर की ध्वनि को सुन कर सुभद्रा की उपस्थिति का आभास हो जाता है । अर्जुन और सुभद्रा दोनों ही कामावस्था से संतप्त दिखायी पड़ते हैं । अर्जुन अपने मनोद्वेग को रोकने में समर्थ नहीं हो पाता है उसी प्रकार नायिका सुभद्रा भी अपने भावों को छिपाने में समर्थ नहीं है । कामपीड़ित दशा में ही उसका साक्षात्कार अर्जुन से होता है और कुछ देर बाद ही श्रीकृष्ण उपस्थित होते हैं और अपनी बहिन की मनोकामना समझ कर उसे पूर्ण करने में सहायक सिद्ध होते हैं ।

अर्जुन इस नाटक में अपनी पराक्रमोचित परिपाटी का ही अनुसरण करता है । उसकी शक्ति के समक्ष यादवगण भी नहीं टिक पाते हैं । जब वह सुभद्रा का हरण करके ले जाता है तब नेपथ्य में ही शूर, वृष्णि, अन्धक आदि को इसकी सूचना दे दी जाती है । तब विजयसेन के इस कथन से--" क: सन्देह: किमसाध्यं नाम धनंजयस्य" से अर्जुन की शूरता का परिचय मिलता है ।

यद्यपि इस नाटक का इतिवृत्त अर्जुन और सुभद्रा के इर्दगिर्द ही भ्रमण करता है परन्तु इसमें कृष्ण प्रधान रूप से न आकर भी अपने भगवत्स्वरूप का परिचय करा देते हैं । अर्जुन श्रीकृष्ण के भक्त एवं सखा होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा इष्ट की प्राप्ति करते हैं । सर्वज्ञाता भगवान् श्रीकृष्ण भक्तों के अभिलषित को समझने वाले एवं उसी के अनुकूल फल देने वाले ही हैं ।

इस नाटक का मूल्यांकन करना इसलिए अपेक्षित है कि प्रधान कृष्णकथा के साथ ही साथ यह कथा भी गौण रूप से श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का परिचय देती है । अतएव इस नाटक का उल्लेख करना समुचित प्रतीत होता है । इसी दृष्टिकोण को ध्यान में

रख कर रुक्मणीय कृष्ण पर ही दृष्टि न डाल कर कथा के प्रधान अंश को भी उभारा गया है जिससे श्रीकृष्ण का स्वरूप भलीभांति प्रतिबिम्बित हो सके ।

कृष्णकथाश्रित नाटकों के विषय में विशेष वक्तव्य

प्रस्तुत अध्याय में शोध प्रबन्ध के विषय को ध्यान में रखते हुए प्रमुख संस्कृत नाटकों में प्रतिपादित कृष्णकथाओं का कथानक विवेचन किया गया है। इस संदर्भ में एक तथ्य विशेष महत्व का है--वह यह कि संस्कृत नाटकों में कृष्णचरित का प्रतिपादन रामचरित की अपेक्षा अत्यन्त अल्पमात्रा में हुआ है। इसका एक प्रमुख कारण यह कल्पित किया जा सकता है कि कृष्ण का बहुमुखी चरित्र राम की तुलना में उन्हें उच्चकोटि का धीरोदात्त नायक नहीं सिद्ध कर पाता। कृष्ण यमुनातटवर्ती निकुंजों में गोपवधूटियों के साथ विहरणपरायण हैं। रासलीला के आयोजक हैं और गोचारण में आसक्त हैं--यह घटनाएं उनके जीवन का ललित पक्ष तो प्रस्तुत करती हैं फिर भी उन्हें महापराक्रमी नहीं सिद्ध कर पातीं।

गोकुल छोड़ कर कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उनके जीवन का धीरोदात्त पक्ष अभिभावी हो उठता है। वह कंस का वध करते हैं, द्वारका की स्थापना करते हैं, पारिजात का अपहरण करते हैं, सुभद्राहरण में अर्जुन के सहायक बनते हैं, प्रद्युम्न के अभ्युदय में संरक्षण प्रदान करते हैं, कौरवों और पाण्डवों के युद्ध में दौत्य कर्म तथा साहाय्य कर्म करते हैं। इस प्रकार उनके जीवन का मथुरोत्तर पक्ष उन्हें एक महान् अभियन्ता, युद्धवीर, प्रजारक्षक तथा लोकोपकारक सिद्ध करता है। वस्तुतः कृष्ण का यही चरित संस्कृत नाटकों की भावभूमि पर उतारने लायक रहा है।

विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर कृष्ण दो प्रकार के चरितों के आश्रय हैं। नन्दनन्दन के रूप में धीरललित और वासुदेव अथवा द्वारकाधीश के रूप में धीरोदात्त हैं। परन्तु कवि सर्वतन्त्र स्वतंत्र होता है जिसके प्रमाणभूत हैं--कवि काशीपति जिन्होंने कृष्ण पर विटत्व का आरोप करके उन्हें "मुकुन्दानन्द भाण" का भी नायक बना दिया है।

शोधकर्त्री ने सर्वप्रथम उन प्रमुख नाटकों का ही विवेचन किया है जिनमें आद्यन्त कृष्णचरित का प्रतिपादन हुआ है। परन्तु बाद में कुछ ऐसी भी नाटक कृतियों पर भी प्रकाश डाला गया है जिनमें कृष्णचरित आधिकारिक नहीं बल्कि प्रासंगिक अथवा आंशिक रूप में प्रतिपादित है। यह न भी लिया जाता तो भी कोई अनौचित्य न था, क्योंकि निश्चय ही यह कृतियां कृष्णकथाश्रित प्रमुख नाटकों में नहीं थीं। फिर भी शोधकर्त्री ने वेणीसंहार, सुभद्राधनंजय तथा सुभद्रा परिणय सरीखी कृतियों का भी विवेचन किया

है--केवल कृष्णकथाश्रित नाटकों की उभयविधि प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए ।
यह प्रकृति दो प्रकार की है ।

१--कृष्णकथा का नाटकों में आद्यन्त प्रतिपादन ।
२--कृष्णकथा का नाटकों में आंशिक प्रतिपादन ।

अनपेक्षित होने पर भी नाटकेतर कृतियों में कृष्णचरित का प्रतिपादन शोधकर्त्री ने प्रस्तुत किया है । इसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि इससे कृष्ण के व्यक्तित्व की बहुरूपता और कृष्णचरित की भी विविध रूपकोचित उपयोगिता सिद्ध हो जाये । इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि शोधकर्ता ने व्यायोग, ईहामृग, नाटिका, भाण, प्रेक्षणक, रेडियो रूपक तथा आधुनिक एकांकी-सरीखी नाट्यविधाओं को दृष्टि में रख कर प्राय: प्रत्येक कोटि की एक ही एक कृष्णचरिताश्रित कृति का विवेचन किया है । निश्चय ही इस विवेचन से कृष्णचरित की महनीयता सिद्ध होगी ।

--0--

चतुर्थ अध्याय

कृष्णकथाश्रित नाटकों का नाट्यशास्त्रीय विवेचन

कृष्णकथाश्रित नाटकों के यथोपस्थित इतिवृत्त का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् उनका नाट्यशास्त्रीय विवेचन ही एकमात्र शेष रह जाता है। नाटकों में रसास्वादन करने के साथ हीसाथ काव्यमर्मज्ञ की दृष्टि नाटक के प्राणतत्व पर भी टिक जाती है,जो नाटक के स्तम्भ हैं और जिन तत्वों के बिना किसी भी नाटक का प्रणयन असंभव ही लगता है। अगर इसके अभाव में नाटक का प्रणयन कर भी लिया जाता है तो वह नाटक की कोटि में परिगणित न होकर केवल रसानुभूति का साधन बननेवाला काव्य रह जाता है।

कुछ काव्यमर्मज्ञ रसास्वादन हेतु ही नाटक का पारायण करते हैं। उनकी बुद्धि को उसी आनन्द में विश्रान्ति मिल जाती है परन्तु इस प्रकार के मनुष्यों को सहृदय तो कहा ही जा सकता है,नाट्यशास्त्र का अध्येता नहीं। अतएव नाटक के मूलतत्वों को दृष्टि में रख कर जो नाटक का आस्वादन करते हैं,उन्हें रसास्वाद तो होता ही है और साथ ही साथ उनकी बुद्धि को भी अवकाश मिलता है,जिससे वह नाट्यशास्त्रीय अन्वेषण में प्रवृत्त हो जाती है।

नाट्यशास्त्र,दशरूपक,साहित्यदर्पण तो मुख्य रूप से नाट्य सम्बन्धी विस्तृत जानकारी देने वाले ग्रन्थ हैं। इनका सम्यक् पारायण करने के पश्चात् ही नाटककार या कवि अपनी रचनाओं में नाट्यशास्त्र-विषयक सामग्री प्रस्तुत करता है।

दशरूपक में नाट्य (रूप = रूपक) का लक्षण प्रस्तुत करते हुए उसका नृत्य[१] तथा नृत्त से भेद प्रदर्शित किया गया है।

साथ ही दस रूपकों[२] (नाटक,प्रकरण,भाण,प्रहसन,डिम,व्यायोग,समवकार,वीथी, अंक और ईहामृग)का उल्लेख करके रूपकों के भेदक तीन तत्वों--वस्तु,नेता एवं रस--का भी निर्देश किया गया है।

दस रूपकों में नाटक प्रमुख होने के कारण उसका ही सबसे पहले विवेचन दशरूपक में किया गया है,परन्तु गौण रूप से अन्य रूपकों का भी निरूपण किया है।

---

१. अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम् एवं नृत्तं तालल्याश्रयम्। -- दशरूपक,प्रथम प्रकाश,पृ० ६-१०।

२. नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यंकेहामृग इति ।। -- वही,पृ० ८।

कृष्णकथाश्रित नाटकों के अध्ययन के साथ ही साथ रूपक के अन्य भेदों में भी माण, व्यायोग, ईहामृग आदि में जहां-जहां पर भी कृष्णकथा प्राप्त होती है, उनका अध्ययन करना भी समुचित प्रतीत होता है। अतएव इसी दृष्टिकोण से को ध्यान में रख कर रूपकों में कृष्णकथा का निर्देश किया गया है।

प्रहसन, डिम, समवकार, प्रकरण, वीथी, अंक में तो कृष्णाख्यान मिलते ही नहीं हैं। माण के अन्तर्गत एकमात्र 'मुकुन्दानन्द माण' ही आता है जो कृष्णकथा पर आधारित है। इसमें कृष्ण सरीखे महापुरुष में विटत्व का आरोप किस प्रकार से किया गया है, यह ज्ञात करने के लिए माण का अध्ययन करना भी उचित जान पड़ता है।

इसी प्रकार व्यायोग का लक्ष्य भासरचित 'दूतवाक्य' एकांकी पर घटित होता है, अन्य कोई भी कृष्णचरित पर आधारित व्यायोग दृष्टिपथ में नहीं आता है।

'रुक्मिणीहरण' भी ईहामृग की कोटि के अन्तर्गत आता है, क्योंकि नाट्यशास्त्र के अनुसार ईहामृग में स्त्री के लिए मृग के समान ईहा होती है। यहां पर प्रतिनायक ऐसी नायिका की प्राप्ति के लिए चेष्टा करता है जो उससे प्रेम नहीं करती। यहां रति उभयनिष्ट नहीं है अतः श्रृंगाराभास है।[१] इसी लक्षण को ध्यान में रख कर 'रुक्मिणी-हरण' को ईहामृग कहा गया है। कृष्णकथाश्रित अन्य ईहामृग दृष्टिगत नहीं होते।

नाटकेतर कृतियों का भी संक्षेप में विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् नाटकों का नाट्यशास्त्रीय व्याख्यान संक्षेप में ही प्रस्तुत किया जा रहा है जो दशरूपक पर आधारित है। कृष्णकथाश्रित नाट्यकृतियों का काव्यशास्त्रीय अध्ययन स्वयं में एक उपलब्धि है। परन्तु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में, इसके लघु परिवेश को देखते हुए, समस्त कृष्णकथात्मक कृतियों का काव्यशास्त्रीय अध्ययन एक दुरूह तथा कठिन कार्य होगा। ऐसी स्थिति में यही समीचीन जान पड़ता है कि किसी एक आदर्श कृति का पूर्ण रूप से काव्यशास्त्रीय व्याख्यान किया जाये और अन्य कृतियों की अत्यन्त महत्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय विशेषताएं स्पष्ट कर दी जायें। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर कृष्णकथाश्रित नाटकों का ही संक्षिप्त विवेचन किया गया है। इनमें से 'विदग्ध माधव' नाटक का ही केवल विस्तार के साथ व्याख्यान किया गया है, अन्य की तो मूलभूत विशेषताओं का ही स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

---

१. साहित्यदर्पण-- ३।२६२

"दशरूपक" में नाटिका का भी विवेचन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि धनंजय एवं धनिक उपरूपकों के भी नाट्यशास्त्रीय महत्व से परिचित थे।

भरतमुनि ने भी "नाट्यशास्त्र" (१८, ५७) में नाटिका का विवेचन किया है।

अभिनवगुप्त का कथन है कि भरतमुनि ने नाटिका का लक्षण करके अन्य संकीर्ण रूपकों का भी दिग्दर्शन करा दिया है।[१] संकीर्ण रूपकों में नाटिका ही वांछनीय है,इसी कारण इसका विवेचन करना भी आवश्यक है। इन सबको ध्यान में रख कर "दशरूपक" के वस्तुविवेचन के आधार पर कृष्णपरक नाट्यकृतियों का शास्त्रीय मूल्यांकन किया जा रहा है।

संस्कृत रूपक रसास्वादन कराने के साथ ही साथ "रामादिवद्वर्तितव्यं,न रावणादिवत्" का उपदेश देते हुए धर्म,अर्थ,काम इस त्रिवर्ग की फलप्राप्ति कराते हैं। इसीलिए आचार्य ने कहा था "त्रिवर्गसाधनं नाट्यं"। यही परम्परा प्रेक्षकों के मन में औचित्य की कसौटी बनी रही है।

भामह आदि प्राचीन आचार्यों ने तथा विश्वनाथ[२] इत्यादि अर्वाचीन आचार्यों ने चतुर्वर्ग की प्राप्ति को काव्यों का फल स्वीकार किया भी है। परन्तु धनिक के अनुसार मोक्ष कभी भी रूपक के इतिवृत्त का फल हो नहीं सकता,इसीलिए त्रिवर्ग को ही स्वीकार किया गया है।

दशरूपककार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही नाट्यशास्त्रीय विवेचन के त्रिविध मानदण्डों की उद्घोषणा की है --

"वस्तुनेतारसस्तेषां भेदक:" अर्थात् नाटक का कथानक,नाटक के पात्रगण और नाटक का रसविधान ही उसके मूल्यांकन का आधार होता है। दूसरे शब्दों में यही वे तत्व हैं जिन्हें प्रमाण मान कर किसी नाटक का काव्यशास्त्रीय अध्ययन किया जाना संभव है।

---

१. दशरूपक की भूमिका-- धनिक,पृ० २४

२. साहित्यदर्पण-- विश्वनाथ, १।२।

इन्हीं व्यवस्थाओं को प्रमाण मान कर विदग्धमाधव और अन्य कृष्णकथाश्रित नाटकों का व्याख्यान यथापेक्षित रूप में प्रस्तुत किया जायेगा ।

कथावस्तु,नेता और रस के अतिरिक्त और भी अनेक काव्यशास्त्रीय अथवा नाट्य-शास्त्रीय तत्व हैं जिनकी दृष्टि से किसी नाट्यग्रन्थ का विवेचन किया जाना आवश्यक हो जाता है । नाटक में अर्थप्रकृतियां किस प्रकार से प्रयुक्त हुई हैं,दशाएं कैसे व्यवस्थित हुई है और किन स्थलों पर मुख,प्रतिमुख आदि सन्धियां विद्यमान हैं अथवा नाटक में कहां-कहां चौंसठ सन्ध्यंगों का प्रयोग हुआ है,इसका विचार होना ही चाहिए ।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे मानदण्ड हैं जिनके अनुसार किसी भी नाट्यग्रन्थ का व्याख्यान किया जाना चाहिए । दशरूपककार ने तीन दृष्टियों से नाट्यकथावस्तु का विभाजन किया है । यद्यपि उन्होंने अपने दृष्टिकोण को कोई शीर्षक प्रदान नहीं किया फिर भी ऐसा लगता है जैसे उनका पहला विभाजन स्वरूप की दृष्टि से,दूसरा विभाजन सहृदय दर्शकों की दृष्टि से और तीसरा विभाजन रंगमंच पर विद्यमान पात्रों की दृष्टि से किया गया है ।

१-- वस्तु विवेचन-- स्वरूप की दृष्टि से नाटक का कथानक आधिकारिक और प्रासंगिक होता है । प्रासंगिक कथा भी पताका और प्रकरी इन दो रूपों में विभक्त की जाती है । दर्शकों की दृष्टि से कथावस्तु-दृश्य एवं सूच्य होती है । सूच्य कथा की सूचना दर्शकों को जिस माध्यम से दी जाती है उसी को आचार्य धनंजय अर्थोपक्षेपक कहते हैं । इनकी संख्या पांच है -- विष्कम्भक,प्रवेशक,चूलिका,अंकास्य और अंकावतार ।

रंगमंचीय पात्रों की दृष्टि से कथा सर्वश्राव्य (प्रकाश)अश्राव्य (स्वगत),नियत-श्राव्य होती है । नियतश्राव्य कथा का माध्यम जनान्तिक तथा अपवारित होते हैं । इस प्रकार कथानक विवेचन के इन त्रिविध मानदण्डों को दृष्टि में रख कर कुछ कृष्णपरक नाट्य-कृतियों का व्याख्यान किया जाना उचित है ।

आचार्यों ने स्वरूप की दृष्टि से नाटक के आधिकारिक वृत्त तथा नायक के प्रख्यात कोटिक (ऐतिहासिक) होने का विधान किया है,जिससे कथानक के लोकप्रसिद्ध होने के कारण कवि को नायक के औचित्य एवं अनौचित्य के विषय में कोई भी भ्रम न रह जाये[१] ।

---

१. अतएव च भरते प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वंच नाटकस्यावश्यकर्तव्यतयो-पन्यस्तं , तेन हि नायकौचित्यानौचित्यविषयेकविनिव्यामुह्यति ।
-- ध्वन्यालोक,पृ० ३३१ ।

इसी मंतव्य को ध्यान में रख कर कृष्णकथा पर अगर दृष्टिपात करें तो वह सर्वाधिक उपयुक्त एवं लोकप्रसिद्ध है। कृष्णकथाश्रित पुराण एवं महाभारत कृष्णकथा के नाटकों को व्यापक रूप देने के लिए प्रस्तुत हो रहे हैं, जिसकी छत्रछाया में संस्कृत का ललित साहित्य भी पल्लवित हुआ। पुराणों एवं महाभारत की कथा में अगर कवि या नाटककार द्वारा किंचित परिवर्तन कर भी दिया जाता है, तब भी औचित्य की हानि नहीं होती है।

आनन्दवर्धनाचार्य ने लिखा भी है--" इतिहास आदि में विविध कथाओं के रसवती होने पर भी उनमें जितना कथाभाग विभावादि के औचित्य से युक्त हो, वही ग्राह्य होता है और दूसरा नहीं।[1]

महा कालिदास के काल से ही ऐतिहासिक वृत्तों में से परिवर्तन की परम्परा चली आ रही है। इसी आधार पर व्यास द्वारा "भागवतपुराण" एवं "महाभारत" पर लेखनी चलाने के पश्चात् भी रूपगोस्वामी आदि ने अपने नाटकों में यथासंभव परिवर्तन किये हैं।

स्वरूप की दृष्टि से नाटक का कथानक आधिकारिक एवं प्रासंगिक होता है।[2]

आधिकारिक कथावस्तु का लक्षण दशरूपककार ने इस प्रकार किया है --अधिकार का अर्थ है, फल का स्वामी होना। उस फल का स्वामी "अधिकारी" कहलाता है। उस अधिकारी द्वारा किया हुआ या उससे सम्बद्ध (काव्य) में अभिव्याप्त इतिवृत्त आधिकारिक कहलाता है।[3]

उपर्युक्त आधिकारिक कथावस्तु के लक्षण के अनुसार ही कृष्णकथाश्रित नाटकों का मूल्यांकन करना चाहिए कि इसमें आधिकारिक कथावस्तु है या नहीं ?

---

१. इतिहासादिषु कथासु रसवतीषु विविधासु सतीष्वपि यत्तत्र
विभावाद्यौचित्यवत्कथाशरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत् ।
-- ध्वन्यालोक, पृ० ३३४ ।

२. वस्तु च द्विधा ।
तत्राधिकारिकं मुख्यमंगं प्रासंगिकं विदुः ।।-- दशरूपक-- १।११

३. अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ।।
-- दशरूपक-- १।१२

कृष्णचरित प्रख्यात है,अतएव अधिकांशत: नाटकों में आधिकारिक कथावस्तु ही है। प्रोफ़ेसर विण्टरनित्स का कथन है कि समाज प्रत्येक शताब्दी में ,भगवान् से सम्बन्धित कथाएं और धार्मिक आख्यान को ही कवि के नाटक की कथावस्तु के लिए प्रदान करता है[1]।

भासरचित "बालचरित", रविवर्माविरचित "प्रद्युम्नाभ्युदय", शेषकृष्णरचित "कंसवध", रूपगोस्वामीविरचित "विदग्धमाधव" और "ललितमाधव" में आधिकारिक कथावस्तु ही है क्योंकि इनमें फल के साथ नायक का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। "प्रद्युम्नाभ्युदय" में प्रद्युम्न नायक है अतएव उन्हीं को पत्नीप्राप्ति तथा वज्रनाभ के वध से सिद्धिरूपफल की प्राप्ति होती है।

आधिकारिक एवं प्रासंगिक दोनों को मिला कर इतिवृत्त के तीन प्रकार--ख्यात, क्लृप्त और मिश्र--बनते हैं[2]।

"रुक्मिणीहरण" ईहामृग में मिश्र और "वृषभानुजा" नाटिका में उत्पाद्य इतिवृत्त है। ईहामृग और नाटिका के लक्षण इन दोनों पर ही घटित होते हैं[3]। "ललितमाधव" नाटक की कथावस्तु को भी आधिकारिक न मानकर मिश्रकथावस्तु में ही मानना अधिक उचित होगा।

प्रासंगिक कथावस्तु भी कृष्णकथाश्रित नाटकों में विद्यमान है। प्रासंगिक का लक्षण भी दशरूपककार ने इस प्रकार से दिया है -- दूसरे (आधिकारिक कथा) के प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है,किन्तु प्रसंगत: उसके अपने प्रयोजन की भी सिद्धि हो जाती है[4]।

"बालचरित" नाटक में द्वितीय अंक में चाण्डाल युवतियों का प्रवेश ही प्रासंगिक कथावस्तु है,जिसका विनियोग नायक कृष्ण की फलसिद्धि के लिए ही किया गया है और साथ ही साथ चाण्डालवेषधारी शाप के प्रयोजन की भी सिद्धि हो जाती है,क्योंकि

---

१. ऐ हिस्ट्री आफ़ ड्रामा (हिस्ट्री आफ इंडियनलिट्रेचर भाग १,वाल्यूम ३)-- एम०एम० विण्टरनित्स।

२. प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्।
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदत:। -- दशरूपक प्रथम--१५।

३. नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् क्लृप्तवृत्ता तु नाटिका।
ईहामृग: मिश्रवृत्त इति नाट्यविभाषितम्॥
--रूपगोस्वामीरचित नाटकचन्द्रिका (१३)

४. प्रासंगिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगत:।
-- दशरूपक,प्रथम प्रकाश,पृ० १३।

मधुक ऋषि द्वारा कंस को दिये गये शाप को भी उसे सार्थक करना था और विष्णु की आज्ञा का पालन करके उसे सार्थक करना था और विष्णु की आज्ञा का पालन करके उनका भी प्रसादन करना था । यहां पर चाण्डालवेषधारी शाप के कंस के अन्त:पुर में प्रवेश करते ही इन दोनों प्रयोजन की भी सिद्धि हो जाती है ।

प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेदों में पताका और प्रकरी आते हैं । इसका भी लक्षण दशरूपक में दिया गया है कि उनमें अनुबन्ध सहित (दूर तक चलने वाला) प्रासंगिक वृत्त पताका कहलाता है और एकदेश में रहनेवाला प्रकरी[1] ।

दूर तक चलने वाले प्रासंगिक वृत्तपताका के अन्तर्गत 'प्रद्युम्नाभ्युदय' नाटक में भद्रनट का वृत्तान्त ही आता है जो नायक प्रद्युम्न की फलप्राप्ति में सहायक है । भद्रनट को प्रद्युम्न और प्रभावती का संयोग कराना ही अभीष्ट था,उसके इस उद्देश्य की सिद्धि भी उसी के प्रयत्न से हो जाती है ।

'ललितमाधव' नाटक में पौर्णमासी और उद्धव का चरित्र 'पताका' है क्योंकि पौर्णमासी और उद्धव के प्रयत्न से ही सत्यभामा रूप से प्रकाशित राधा,कृष्ण को मिलवा का प्रयास ब्रजलीला नाटक का अभिनय दिखा कर किया जाता है । पौर्णमासीऔर उद्धव का चरित्र इतिवृत्त में दूर तक चलने वाला प्रासंगिक इतिवृत्त है ।

प्रकरी के अन्तर्गत 'ललितमाधव' नाटक में ही नववृन्दा का चरित्र भी रखा जा सकता है । नववृन्दा तृतीय अंक में सबसे पहले पौर्णमासी के साथ प्रवेश करती है । इसके बाद अन्य अंकों में भी कहीं-कहीं दृष्टिगत होती है । तृतीय अंक में तो वह श्रीकृष्ण के मथुरागमन पर दु:खी दिखायी देती है और षष्ठ अंक में चन्द्रावली नववृन्दा के हाथ में ही सत्यभामा रूप राधा को समर्पित करती है । नववृन्दा का चरित्र इतिवृत्त में बहुत दूर तक नहीं चलता,अतएव उसे प्रकरी की कोटि में रखना ही अधिक समुचित है ।

इसी प्रकार 'कंसवध' नाटक में कुब्जा का वृत्तान्त भी प्रकरी कोटि में ही आता है । कुब्जा का प्रवेश पंचम अध्याय में निरूपित किया गया है और यह वृत्तान्त केवल उसी अध्याय में ही चलता है,अतएव 'प्रकरी' कहा भी जा सकता है ।

---

१. सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ।

--दशरूपक,प्रथम प्रकाश--१३ ।

वस्तुत: नाट्यव्यापार प्रस्तावना से प्रारम्भ होता है। भास के नाटकों में प्रस्तावना की जगह स्थापना है। जो घटना सरस पात्रों से सम्बद्ध एवं रंगमंच पर अभिनय के लिए उपयुक्त होती है,वह अंक में समाविष्ट होती है। अंक में प्राय: एक दिन की घटना रखी जाती है[1]।

जब अंक किसी अंक के अन्दर रख दिया जाता है,उसे गर्भांक समझना चाहिए[2]। इसी लक्षण को ध्यान में रख कर "प्रद्युम्नाभ्युदय" में मद्रनट द्वारा "रम्भाभिसरण" नामक प्रेक्षणक का वृत्तान्त रखा गया है। यह नाटक में नायक के प्रति नायिका प्रभावती के भावों को उद्दीप्त करने में उद्दीपन का कार्य करता है।

कुन्तक ने गर्भांक को प्रबन्धवक्रता का हेतु माना है। उनके अनुसार जिस किसी नाटक में कवि की कुशलता निखरती है उसमें अंक के बीच में प्रस्तुत किया गया दूसरा नाटक,समस्त रूपक की प्राणस्वरूप वक्रता को समुल्लसित कर देता है-- जैसे बालरामायण में चतुर्थ अंक के बीच[3]।

यहां कुन्तक ने त्रुटिपूर्ण स्मृतिवश तृतीय अंक के स्थान पर चतुर्थ अंक कह दिया है।

गर्भांक का दूसरा उदाहरण "ललितमाधव" नाटक में भी व्रजलीला नाटक द्वारका में दिखाये जाने पर प्राप्त होता है। यह नाटक भी कृष्ण के भावों को उद्दीप्त करने में सहायक है और श्रीकृष्ण वृन्दावन का स्मरण करने लगते हैं। इस नाटक का आयोजन पौर्णमासी द्वारा किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि "प्रद्युम्नाभ्युदय" से ही प्रभावित होकर रूपगोस्वामी ने गर्भांक का उदाहरण दिया है। प्रद्युम्नाभ्युदय नाटक में गर्भांक मद्रनट द्वारा "रम्भाभिसरण" नाटक का अभिनय करके रखा गया उसी प्रकार इस नाटक "ललितमाधव" में भी पौर्णमासी ही व्रजलीला नाटक का अभिनय कराती है।

इसके पश्चात् दर्शकों की दृष्टि से भी कथावस्तु का विभाजन करना चाहिए। रूपक में समस्त वस्तु का दो प्रकार का विभाग किया जाता है,कुछ वस्तु तो सूच्य होनी चाहिए और दूसरी दृश्य तथा श्रव्य[4]।

---

१. दशरूपक-- ३।३६-३७

२. अंकस्य मध्ये योऽङ्कः स्यादसौ गर्भांक ईरित: ।-- नाटकचन्द्रिका, २९६ ।

३. क्वचित्प्रकरणस्यान्त:स्मृतं प्रकरणान्तरम् सर्वप्रबन्धसर्वस्वकल्पां पुष्णाति वक्रताम् ।
क्वचित्--कस्मिंश्चित् कविकौशलोन्मेषशालिनि नाटके न सर्वत्र--अंकान्तरगर्भाङ्कृतम् इति यावत्। यथा बालरामायणे च चतुर्थांके ।-- वक्रोक्ति जीवित,पृ० २३५ ।

४. द्वेधा विभाग: कर्तव्य: सर्वस्यापीह वस्तुन: ।
सूच्यमेव भवेत् किंचित् दृश्यश्रव्यमथापरम् ।। -- दशरूपक--१।५६

वस्तु का जो भाग नीरस हो या जिसका रंगमंच पर दिखाना अनुचित हो,उसकी भलीभांति सूचना देना आवश्यक है। किन्तु जो भाग चित्ताकर्षक,उदात्त तथा रस एवं भाव से पूर्ण हो उसे रंगमंच पर दिखाना चाहिए[1]। सूच्य कथावस्तु की सूचना जिस माध्यम से दी जाती है उसी को आचार्य धनंजय अर्थोपक्षेपक कहते हैं। विष्कम्भक,प्रवेशक,चूलिका, अंकास्य,अंकावतार इन पांच अर्थोपक्षेपकों द्वारा सूच्य वस्तु का प्रतिपादन करना चाहिए[2]।

विष्कम्भक के लक्षण के अनुसार कृष्णकथाश्रित नाटकों में विष्कम्भक का अन्वेषण करना चाहिए। विष्कम्भक संक्षेप में भूत तथा भावी कथाभाग को सूचित करने वाला होता है। विष्कम्भक की परिभाषा दशरूपककार ने इस प्रकार से दी है -- बीते हुए और आगे होने वाले कथाभागों का सूचक,संक्षिप्त अर्थ वाला तथा मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त जो अर्थोपक्षेपक है,वह विष्कम्भक कहलाता है[3]।

इसे सदा अंक के आरम्भ में रखा जाता है। यह दो प्रकार का होता है --शुद्ध और संकीर्ण।

एक या अनेक मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक शुद्ध कहलाता है और मध्यम तथा अधम पात्रों द्वारा मिल कर प्रयोजित विष्कम्भक संकीर्ण कहलाता है[4]। मध्यम पात्र संस्कृत बोलते हैं और अधम पात्र प्राकृत शौरसेनी[5]।

कोहल का तो यह भी मत है कि विष्कम्भक का प्रयोग केवल प्रथम अंक के आरम्भ में होता है,अन्य अंकों में इसका प्रयोग नहीं होता[6]। यह निराधार-सा लगता है,क्योंकि अन्य अंक के आरम्भ में भी विष्कम्भक का नाटकों में प्रयोग होता है। कृष्णकथाश्रित नाटकों में भी विष्कम्भक के दोनों भेद प्राप्त होते हैं। अब यह ज्ञात करना आवश्यक है कि इन नाटकों में विष्कम्भक की योजना किस उद्देश्य के लिए की गयी और इसमें किस तरह के पात्र प्रयुक्त हैं। पात्रों के भाषा-प्रयोग से भी विष्कम्भक को दोनों भेदों में से किसी भेद के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

---

१. नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
   दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ।। -- दशरूपक-- १।५७
२. वही-- १।५८
३. वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
   संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यमात्रप्रयोजितः ।।-- वही--१।५९
४. एकानेककृतः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यमैः। -- वही--पृ० ६७
५. नाट्यदर्पण--१।२०
६. वही-- १।२०

" प्रद्युम्नाभ्युदय" नाटक के पंचम अंक के आरम्भ में भद्रनट के निकल जाने पर शुद्ध विष्कम्भक है । इस विष्कम्भक का उद्देश्य मंच पर अभिनीत न होने वाले वज्रनाभ के वध को सूचित करना था क्योंकि वध का नाट्यशास्त्र में मंच पर अभिनीत होना निषेध किया गया है । इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर इसकी सूचना दी गयी है । वज्रनाभ के वध की भावीघटना की सूचना देना भी आवश्यक था, क्योंकि यही एक महान् कार्य शेष रह गया था जो कि भविष्य में घटित होने वाला था ।

इस विष्कम्भक में भूत घटना का भी संकेत दिया गया है । प्रद्युम्न और प्रभावती दोनों में परस्परानुराग एवं निर्विघ्न यौवनफल का लाभ अनेक उपायों द्वारा भद्रनट द्वारा कराया ही जा चुका है । प्रभावती के मुख से गद और साम्ब के साथ वज्रनाभ के भाई सुनाभ की दोनों कन्याएं चन्द्रवती और गुणवती का भी संगम भद्रनट सुन चुका है । सब कार्यों की सिद्धि हो जाने पर भद्रनट यही सोचता है कि वज्रणाभ का वध ही शेष रह गया है । वासुदेव इस प्रकार का सन्देश दे ही चुके हैं कि जब वज्रणाभ स्वर्गविजय के लिए प्रयुक्त हो तब कुमार द्वारा उसे मारना चाहिए । इसमें उद्योग को करने के लिए भद्रनट को निवेदित किया गया है ।

भद्रनट वज्रणाभ को मारने के इच्छुक परिकर सहित कुमार प्रद्युम्न को देख कर कहते हैं कि अगर यह दानवपति के द्वारा प्राप्त कर लिया जाये तो महान् कार्य हो जाए । इसी बात को बताने के लिए भद्रनट देवकीनन्दन के पास जाने के लिए निकल जाता है, तभी विष्कम्भक का आयोजन होता है ।

भद्रनट के कथन का आगामी कथा से भी ~~सम्बन्धकी~~ पौर्वापर्य सम्बन्ध जुड़ जाता है । कृष्ण नारद को प्रद्युम्न द्वारा किये गये वज्रणाभ के वध का वृत्तान्त बताते हैं जो कि नारद को वचन के समक्ष चरितार्थ होता दिखायी पड़ता है । विष्कम्भक में रखे जाने वाले महान् उद्देश्य की पूर्ति आगामी कथा में फलीभूत दिखायी पड़ती है । अतएव इस विष्कम्भक को रखने का उद्देश्य भी भूत और भविष्य की घटना से सम्बद्ध होकर सफलीभूत हो जाता है ।

इस विष्कम्भक में भद्रनट मध्यमकोटि का पात्र है और संस्कृत ही बोलता है, अतएव शुद्ध विष्कम्भक कहना समुचित जान पड़ता है ।

" रुक्मिणी परिणय" नाटक में भी द्वितीय अंक के आरम्भ में विष्कम्भक दिया गया है । इसको देने का कारण आगे आने वाली घटना रुक्मिणी के साथ कृष्ण के

परिणय का उपाय उद्धव द्वारा संभावित दिखाया जाता है । उसने सारे उपाय कर लिये हैं ।

इस विष्कम्भक का पिछली कथा से सम्बन्ध इस प्रकार है -- प्रथम अंक में जब रुक्मिणी के परिचारक उद्धव से रुक्मिणी का पत्र पाकर वासुभद्र विदर्भनगर दारुक के रथ में बैठकर जाते हैं तो विदर्भ नगर की शोभा को देख कर दारुक उत्कंठित होता है ,तब वासुभद्र कहते हैं--" न केवलं विदर्भनगरं विदर्भराजकन्यारूपमपि ।"

--रुक्मिणीपरिणय,पृ० ७ ।

नवमालिका के कथन से भी रुक्मिणी का कृष्ण के प्रति अनुराग प्रदर्शित हो जाता है, क्योंकि जब से शिशुपाल के साथ विवाह करने की प्रतिज्ञा रुक्मी करता है तभी से वह म्लान हो जाती है और वासुभद्र को देखना ही उसका मनोरथ रहता है[१] ।

इधर उद्धव के कथन से मदनपराधीन कात्यायनी मन्दिर के समीप कपिंजलि नाम के विदूषक के साथ वासुभद्र दिखायी देते हैं । नवमालिका द्वारा यह कहना--आर्य उद्धव, आपके हाथ में राजकुमारी का जीवन है" यह उद्धव से वासुभद्र के साथ रुक्मिणी का विवाह कराने के लिए ही कहा गया है ।

इस पूर्वकथा से अगली कथा का भी पौर्वापर्य सम्बन्ध है । वासुभद्र स्वप्न में भी रुक्मिणी की श्री का वर्णन करते हैं । इस प्रकार पारस्परिक अनुरागाधिक्य से भावी काल में घटित होने वाला वासुभद्र के साथ रुक्मिणी का परिणय यथासंभव उद्धव के उपायों द्वारा संभव दिखाया गया है । इसके कारण इसकी सूचना प्रारम्भ में ही दे दी गयी है । विष्कम्भक का पूर्व और आगामी कथा से सम्बन्ध दिखलाने का तो एकमात्र यही उद्देश्य है कि परम्परानुराग के फलीभूत होने के कारण ही यह कार्य उद्धव द्वारा संभावित किया गया ।

इसमें पात्र उद्धव और नवमालिका ही हैं जो कि मध्यम कोटि के हैं । उद्धव तो संस्कृत का ही प्रयोग करते हैं परन्तु नवमालिका प्राकृत में ही वार्तालाप करती है क्योंकि स्त्रीपात्र अधिकांशतः प्राकृत में ही वार्तालाप करती हैं ।

"रुक्मिणीपरिणय" में शुद्ध विष्कम्भक पांचवें अंक में अमात्य के निकल जाने के बाद प्रयुक्त किया गया है । इसमें सिंहकेतु,अमात्य,सेनापति यह मध्यम कोटि के पात्र आये हैं और सब संस्कृत भाषण करते हैं ।

---

१. रुक्मिणीपरिणय,पृ० १२ ।

शुद्ध विष्कम्भकों को रखने का उद्देश्य वासुभद्र द्वारा रुक्मिणी का हरण करके एवं उनके साथ विवाह करने की बात को बताने के लिए है। रुक्मिणी का हरण वासुभद्र जैसे लोकोत्तर पुरुष के लिए मंच पर दिखाना गर्हित है परन्तु परस्परानुराग के वशीभूत होने के कारण यह अनुचित प्रसंग भी नहीं है इसलिए इसकी सूचना देना भी आवश्यक है जो विष्कम्भक में दी ही गयी है।

सिंहकेतु कहता है--जरासंध शाल्व प्रमुख राजाओं द्वारा मार्ग निरुद्ध करने पर भी वासुभद्र को समर के लिए उद्यत देख कर रुक्मिणी कहती है--"आर्यपुत्र। आपके चले जाने पर मेरी क्या गति होगी" तब कृष्ण प्रत्युत्तर देते हैं-- भीरु, मेरे चले जाने पर भी कौन तुम्हें मन से भी ध्यान कर सकता है।"[१] यह रुक्मिणी के प्रति कृष्ण के प्रगाढ़ अनुराग को द्योतित करता है।

रुक्मी भी राक्षस विवाह होने पर भी वासुभद्र की महती महिमा और प्रणयिनीप्रणयानुरोध से युक्त पराक्रम से मौन हो जाता है। इस प्रकार से विवाह में कोई अनौचित्य भी नहीं दिखायी पड़ता। इसी की सूचना देने के लिए अमात्य कंस के पास जाता है।

मिश्रविष्कम्भक तृतीय अंक के आरम्भ में कंचुकी, हंसवेग अधम पात्रों के आने के कारण है। यह विष्कम्भक रुक्मिणी का चेदिराज शिशुपाल के साथ विवाह होने की भावी घटना को सूचित करता है। वासुभद्र के प्रति रुक्मिणी का अनुराग तो प्रारम्भ से ही है, इस वृत्तान्त का पता भी कंचुकी को नवमालिका से मिल ही जाता है। कंचुकी को महाराज द्वारा आदेश दिया ही जा चुका था कि उनकी पुत्री की इस प्रकार की अवस्था किस कारणवश हो गयी? उसका पता लगाने पर इसका कारण ज्ञात ही हो जाता है। रुक्मी चेदिराज से रुक्मिणी का विवाह करना चाहता है इस भावी घटना की सूचना भी हंसवेग द्वारा कंचुकी को बताने से मिल जाती है। हंसवेग कंचुकी से कहता ही है-- "युवराज के आदेश से वर चेदिराज का गोदानमंगल मुहूर्त निर्वृत न हो, ऐसा पुरोहित से पूछा गया।"

इस कथन को रखने के उद्देश्य के कारण विष्कम्भक रखा गया जो भावी घटना की सूचना के साथ-साथ अधम पात्रों के प्राकृत वार्तालाप से युक्त होने के कारण मिश्र विष्कम्भक

---

१. रुक्मिणी--आर्यपुत्र। त्वयि विनिर्गते का मे गतिः।
वासुभद्र -- भीरु, मयि गते को हि नाम भवतीं मनसापि ध्यायेत।
--रुक्मिणीपरिणय, पृ० ४५।

में ही रखा गया ।

सूच्य कथावस्तु का दूसरा प्रकार प्रवेशक है । प्रवेशक की परिभाषा भी दशरूपककार ने इस प्रकार से दी है --" प्रवेशक (भूत और भविष्य के कथांशों का सूचक) नीच पात्रों द्वारा अनुदात्त उक्तियों से प्रयुक्त,दो अंकों के मध्य में स्थित तथा शेष अर्थ का सूचक होता है ।[1]"

प्रवेशक का वर्ण्य अर्थ भी विष्कम्भक की तरह ही संक्षिप्त होता है । अधम पात्रों के कारण संस्कृत भाषा का प्रयोग तो बिल्कुल ही नहीं होता है । प्राकृत भी निम्न कोटि की शकारी,आभीरी,चाण्डाली आदि होती है ।

"बालचरित" नाटक के तृतीय अंक में वृद्धगोपालक एवं दामक का दामोदर का हल्लीसक नृत्य देखने के लिए चले जाने पर प्रवेशक है । यह अंक के बीच में होने के कारण और वृद्धगोपालक,दामक नीच पात्रों द्वारा अनुदात्त उक्तियों द्वारा कृष्ण की भूतकाल में गोकुल में की गयी लीलाओं का वर्णन करने के कारण प्रवेशक कहा गया है । पात्र नीच होने के कारण निम्नकोटि की प्राकृत बोलते हैं ।

दामोदर द्वारा भूतकाल में गोकुल में की गयी अलौकिक लीलाओं को यहां पर रखने का उद्देश्य दामोदर की शूरता का परिचय कराना है जो कि भावी घटित होने वाली कंसवध की घटना से भी सम्बन्धित है । वृद्धगोपालक और दामक बालक की बाल्यपन की अलौकिक लीलाएं जैसे पूतनामरण,शकट दानव को मार डालना,माखनचोरी लीला, उलूखलबंधन,यमलार्जुनउद्धार,बलराम द्वारा प्रलम्बासुर वध,धेनुक वध,केशी वध का वर्णन करने के उपरान्त दामोदर द्वारा किये गये हल्लीसक नृत्य के बारे में भी कहते हैं ।" हल्लीसक" ही रासलीला है ।

इस प्रवेशक का पिछली कथा से भी सम्बन्ध है । द्वितीय अंक में चाण्डाल युवतियों-सहित चाण्डालवेशधारी शाप का आगमन कंस के अपशकुनों को सूचित करके आगे आने वाली कथावस्तु को भी सूचित करता है । राज्यलक्ष्मी भी विष्णु की आज्ञा से कंस को छोड़ कर चली जाती है । कंस का वैभवच्युत हो जाने पर उसका विनाश अवश्यंभावी है । कात्यायनी और उनके सेवक कुण्डोदर,शूल,नील,मनोजव,कात्यायनी सब दामोदर की फलसिद्धि में उपकरणमात्र रहे हैं । अतएव सब तरफ से कंस का विनाश होना संभव बता कर दामोदर

---

१. तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजित: ।
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्त: शेषार्थस्योपसूचक: ।।
--दशरूपक,प्रथम प्रकाश,६० ।

की अलौकिक बाललीलाओं का प्रदर्शन वृद्धगोपालक और दामक की उक्तियों से करा दिया जाता है जिससे आगामी कथा से भी पौर्वापर्य सम्बन्ध जुड़ जाता है।

आगामी कथा में अरिष्टर्षभ का वध वर्णित है और कालिय के वध के सम्बन्ध में दामोदर द्वारा विचार भी किया जाता है। इन सब कथाओं का उद्देश्य दामोदर के शौर्य को प्रतिपादित करके कंसवध रूपी फल प्राप्ति को संभाव्य दिखाया गया है।

पिछली कथा से ही कंस के वैभव का विनाश देख कर कंस के विनाश की भावी सूचना मिल जाती है। इसकी और अधिक संभावना दिखाने के लिए ही तृतीय अंक में प्रवेशक रखा गया जिससे दामोदर की वीरता के प्रतिपादन से कंसवध होने में सन्देह नहीं रह जाये और इसी महान् उद्देश्य को लेकर घटना सरस रूप से आगे बढ़ती है।

'कंसवध' नाटक में भी चतुर्थ अंक के मध्य में प्रवेशक है। जब दैवज्ञ और रत्नापीड पुत्र सहित जाने वाले गोपवृद्ध के चरणों का अनुसरण करने के अभिप्राय से निष्क्रमण करते हैं। यहां पर भी अधम पात्रों के प्रयुक्त होने के कारण प्रवेशक है।

इस प्रवेशक को रखने का उद्देश्य श्रीकृष्ण और बलराम का अक्रूर सहित मथुरा-प्रस्थान को सूचित करना है। कंस की आज्ञा से ही अक्रूर इस कर्म में नियुक्त किये गये, इसकी सूचना दैवज्ञ और रत्नापीड के वार्तालाप से मिल जाती है। यद्यपि श्रीकृष्ण और बलराम के मथुरा प्रस्थान के बारे में सूचना तृतीय अंक में अक्रूर द्वारा मिल ही जाती है कि कंस के द्वारा दोनों बालकों को मथुरा बुलाया गया है, फिर भी इसी अंक में आकर कंस के दुराशय के सम्बन्ध में संभावना की जाती है जो कि भावी घटना को सूचित करने के लिए है। भविष्य में घटने वाला कंस का दुराशय यहां प्रस्फुटित हो गया है, क्योंकि वही बाद में षड्यन्त्रपूर्ण ढंग से दोनों बालकों को मरवाने की बात सोचता है।

इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी प्रवेशक के प्रसंग दृष्टिगत होते हैं।

सूच्य कथावस्तु का तीसरा प्रकार चूलिका है जिसका लक्षण इस प्रकार से दिया गया है --" जवनिका के भीतर स्थित पात्रों द्वारा किसी अर्थ की सूचना देना चूलिका कहलाता है।[१] नाटकों में इसके प्रसंग बहुत दृष्टिगत होते हैं। इसे नेपथ्योक्ति भी कह सकते हैं।

---

१. अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना।

--दशरूपक-- १।६२।

बालचरित नाटक में अगर चूलिका का उदाहरण देखें तो यहां पंचम अंक में चूलिका दिखायी पड़ती है।

नेपथ्य में महाराज कंस को दामोदर द्वारा गिराये जाने पर जब सब महाराज हाहाकार करते हैं तो नेपथ्य में ही वृष्णि योद्धाओं को अंकमरण की सूचना स्वामी के पिण्ड निष्क्रमण काल से दी जाती है,अतएव यहां पर चूलिका है।

(पुनर्नेपथ्ये भो भो वृष्णियोधा। अनावृष्टिरिवकहृदिकपृथुकशोभदवाहूरप्रमुखाः। अयं खलु भर्तृपिण्डनिष्क्रमस्य काल। शीघ्रमागच्छन्तु भवन्त।)

-- बालचरित,पंचम अंक।

नाटकों में अंकास्थ की गवेषणा करने से पहले अंकास्य का लक्षण भी ज्ञात करना आवश्यक है कि यह लक्षण अंकास्य का उदाहरण होने में घटित होता है या नहीं ?

" अंकास्य अंक के अन्त में आने वाले पात्रों के द्वारा (पूर्व अंक से) असम्बद्ध अग्रिम अंक के अर्थ की सूचना देने के कारण अंकास्थ कहलाता है।"[1]

नाट्यशास्त्र में इसे अंकमुख कहा गया है तथा तथा इसे अंकावतार के बाद में रखा गया है। भरतमुनि के अनुसार जहां किसी स्त्री या पुरुष पात्र द्वारा पूर्व अंक में दूसरे अंक की विच्छिन्न प्रारंभिक कथा की सूचना दी जाती है,वहां अंकमुख होता है।[2] दशरूपक में भी इसी का अनुसरण किया गया है। नाट्यदर्पण[3] के अनुसार अंकास्थ और अंकमुख एक ही है और लक्षण भी इसी प्रकार का है।

साहित्यदर्पणकार भिन्न है। उन्होंने पंचम अर्थोपक्षेपक को अंकमुख कह माना है--" जहां एक अंक में अन्य अंकों की कथा की सूचना दी जाती है और जो बीजार्थ को प्रकट करने वाला होता है।"[4] साहित्यदर्पणकार ने दशरूपक के अंकास्य का लक्षण तथा उदाहरण भी दिखलाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनसे पूर्व अंकास्य और अंकमुख दोनों का पृथक्-पृथक् लक्षण माना जाने लगा होगा।[5]

---

१. अंकान्तपात्रैरंकास्यं छिन्नांकस्यार्थसूचनात्।-- दशरूपक,पृ० ६६।
२. नाट्यशास्त्र--२१।११६।
३. नाट्यदर्पण-- १।२२ ।
४. साहित्यदर्पण--६।५६-६०।
५. दशरूपक,प्रथम प्रकाश--पृ० १००।

"नाटकचन्द्रिका" में श्रीरूपगोस्वामी ने तो अंकास्य की परिभाषा और उसका उदाहरण भी इस प्रकार से दिया है -- जब किसी एक ही अंक में सभी अंकों की घटनाओं की संक्षेप में सूचना दी जाये और नाटकीय बीज को भी संकेतित किया जाये तो उसे अंकास्य समझना चाहिए[1]।

इसका उदाहरण भी इन्होंने "ललितमाधव" से दिया है जहाँ पर इस नाटक के प्रथम अंक में गार्गी और पौर्णमासी के संवाद से "अंकास्य" सम्पन्न किया गया। अगले अंक की समस्त घटनाओं का संकेत संक्षेप में गार्गी और पौर्णमासी के वार्तालाप से मिल जाता है। पौर्णमासी द्वारा चन्द्रावली और राधा को चन्द्रभानु और वृषभानु की पत्नी के गर्भ से आकृष्ट करके ब्रह्मा के वर से विन्ध्यपत्नी के गर्भ में स्थापित कराया जाता है जिससे दोनों के भगिनी होने की सूचना मिल जाती है। पौर्णमासी चन्द्रावली और राधा का विवाह गोवर्धनमल्ल और अभिमन्यु के साथ होना, इसे योगमाया का विवर्त गार्गी को बता देती है। इसी प्रकार अन्य घटनाओं की भी सूचना मिल जाती है।

बालचरित नाटक के तृतीय अंक के अन्त में भी अंकास्य देखने को मिलता है। जब उस अंक की समाप्ति हो जाने पर दामोदर द्वारा यह कहा जाता है-- कालिय दर्पयुक्त नाग मैंने सुना है, उसके दर्प का विनाश मैं करता हूँ[2]" ऐसा कह कर पूर्व अंक से असम्बद्ध अग्रिम अंक की कथावस्तु की संक्षेप में सूचना देने के उपरान्त यही पात्र चतुर्थ अंक में प्रवेश करते हैं, इसलिए यहाँ पर अंकास्य है। तृतीय अंक में यह सूचना दी जाती है कि "स्वामी संकर्षण यमुना ह्रद में कालिय नाग को उठा हुआ सुन कर उस पर्वत से लौट आये हैं। स्वामी संकर्षण को रोकें।" कालिय की सूचना देने के पश्चात् ही दामोदर द्वारा कालिय के दर्पभंजन के सम्बन्ध में दामोदर का यह कहना अंकास्य की अवतारणा करना है।

अंकावतार का वास्तविक रूप जानने के लिए पारिभाषिक दृष्टिकोण से अंकावतार पर विचार करना आवश्यक होगा। "जहाँ पूर्व अंक का अन्त हो जाने पर (अग्रिम) अंक का अभिन्न (अविच्छिन्न) रूप से अवतरण हो जाता है, वह अंकावतार कहलाता है[3]।"

१, नाटकचन्द्रिका--पृ० १४२ ।

२, कालियो नाम यथापि श्रूयते सदर्पः पन्नगपतिः ।
भव त्वहमस्य दर्पप्रशमनं करोमि । -- बालचरित, तृतीय अंक ।
"भासनाटक चक्र--सी०आर० देवधर, पृ० ५४५ ।

३, अंकावतारस्त्वंकान्ते पातोऽंकस्याविभागतः । --दशरूपक-- १।६२

नाट्यशास्त्र के अनुसार अंकावतार का लक्षण है--" जहां प्रयोग का आश्रय लेकर पूर्व अंक के अन्त में ही अग्रिम अंक अवतरित हो जाता है, वह बीजार्थ की युक्ति से युक्त अंकावतार कहलाता है।[1]

नाट्यदर्पण का लक्षण तो दशरूपक से मिलता-जुलता है।" जहां पूर्व अंक के पात्रों द्वारा (विष्कम्भक आदि के माध्यम से अन्य पात्रों के आगमन की) सूचना दिये बिना ही दूसरे अंक का आरम्भ कर दिया जाता है, वह अंकावतार कहलाता है।[2] साहित्यदर्पण में भी इसी प्रकार का लक्षण है।[3] इसमें और भी स्पष्टता के साथ अंकास्य का लक्षण दिया गया है।

अंकावतार का उदाहरण अगर" बालचरित" में देखा जाये तो वहां चतुर्थ अंक के (तेरहवें श्लोक) के अन्त में दामोदर द्वारा कंस के मरण की सूचना देने के कारण इस अंक के अविच्छिन्न अगले अंक पंचम की कथावस्तु की योजना का विन्यास करने के कारण अंकावतार है।

इसके पश्चात् नाट्यधर्म की दृष्टि से भी वस्तु का तीन प्रकार से विभाजन किया गया है[4] -- सर्वश्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्य।

सर्वश्राव्य के भी प्रकाश और स्वगत यह दो भेद किये गये हैं। सबके सुनने योग्य वस्तु" प्रकाश" तथा किसी के भी न सुनने योग्य वस्तु" स्वगत" कहलाती है।[5]

इस प्रकार के प्रसंग तो नाटकों में अधिकांश ही दृष्टिगोचर होते हैं फिर भी किसी एक नाटक में, क्रमिक रूप से प्रयुक्त हुए, इनके स्वरूप के प्रकटन के लिए उदाहरण दिया ही जा सकता है।

" रुक्मिणीपरिणय" नाटक में युगपद प्रकाश और" स्वगत" का उदाहरण मिलता है--

दारुक: (स्वगतम्) हन्त, हस्याश्चिबद्धिचनीकस्य मानयोनया लावण्यसुधापंके निमग्न इव लक्ष्यते देव:। (प्रकाशम्) आयुष्मन्, सज्जस्ते रथ:।

---

१. नाट्यशास्त्र--१८।११५

२. सोऽङ्कावतारो यत् पात्रैरंकान्तरमसूचनम्" --नाट्यदर्पण, १।२३

३. साहित्यदर्पण--६।५८

४. नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते।-- दशरूपक १।६३
   सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च।--वही।

५. सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् -वही १।६४

नियतश्राव्य भी जनान्तिक और अपवारित के भेद से दो प्रकार का होता है[1]।

जनान्तिक के सम्बन्ध में कहा गया है कि नाटक में जब वार्तालाप के संदर्भ में जो त्रिपताका-रूप हाथ के द्वारा अन्यों को बचा कर बहुत से लोगों के मध्य में दो पात्र आपस में बातचीत करते है,वह जनान्तिक है[2]।

अपवारित वहां पर होता है जहां (किसी पात्र के द्वारा) मुंह फेर कर दूसरे (व्यक्ति) से गुप्त बात कही जाती है,वह अपवारित कहलाता है[3]।

इन दोनों के उदाहरण नाटकों में अधिकांशत: मिलते हैं।

प्रद्युम्नाभ्युदय नाटक में प्रभावती कलहंसिका से इसी विधि से वार्तालाप करती हैं जिससे मंच पर बैठे पात्र सुन न सकें।

"प्रभावती (जनान्तिकम्) सखि कलहंसिके । कथं स महाभागो मया समासादयितव्य:[4]।"

अपवारित का उदाहरण भी इसी नाटक में विद्यमान है--

"कलहंसिका (अपवार्य) पिअसहि । फलिदो अह्माणं मणोरहो[5]।"

इसी प्रकार "विदग्धमाधव" नाटक में भी इसका सुन्दर उदाहरण मिलता है जहां राधा का स्वगत कथन प्राकृत में एवं अपवारित संस्कृत में है[6]।

राधिका (स्वगतम्) हिअअ,समस्सस समस्सस । (इति सर्वेदमपवार्य संस्कृतेन) (हृदय,समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

वृषभानुजा नाटिका के चौथे अंक में चम्पकलता के कथन में जनान्तिक,अपवारित एवं सर्वश्राव्य कथावस्तु सबके उदाहरण मनोहारी रूप में मौजूद हैं।

(चम्पकलता-- (राधां निरूप्य । जनान्तिकम्) हला तमालिए,तक्केमि इमाए पिअसहीए कन्हेण सह गन्धव्वविआहो संवुत्तो । (प्रकाशम् ।सनर्म-स्मितम् ।अपवार्य) हला राहे,वत्थि मे तस्स सिविणस्स को वि फलविसेसो[7]।

---

१. द्विधान्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम् ।--दशरूपक,पृ० १०४

२. वही--१।६५

३. वही--१।६६

४. प्रद्युम्नाभ्युदय (रविवर्माविरचित)--तृतीय अंक,पृ० ३०

५. वही--पंचम अंक,पृ० ९६

६. विदग्धमाधव नाटक (रूपगोस्वामी विरचित)--पृ० ६६ ।

७. वृषभानुजा नाटिका (मथुरादासकृत)--चतुर्थ अंक,पृ० ५८ ।

आकाशभाषित के उदाहरण भी नाटकों में विद्यमान हैं। कैसे भाण कृति में तो इसका बहुत प्रयोग हुआ है।

"जहां कोई अकेला पात्र दूसरे पात्र के बिना तथा किसी के बिना कहे भी मानो सुनकर ही " क्या कहते हो ? इस प्रकार का कथोपकथन करता है, वह आकाशभाषित है।[1] साहित्यदर्पण में भी आकाशभाषित का लक्षण दशरूपक के समान ही है।[2]

नाट्यदर्पण के अनुसार " दूसरे पात्र के बिना स्वयं ही प्रश्न तथा उत्तर का कथन आकाशोक्ति कहलाता है। " इसमें कोई पात्र कभी तो किसी प्रश्नकर्ता के बिना ही प्रश्न की कल्पना करके स्वयं उत्तर देने लगता है और कभी स्वयं प्रश्न करके किसी उत्तरदाता के बिना ही उत्तर की कल्पना कर लेता है।[3]

वृषभानुजा नाटिका में आकाशभाषित का उदाहरण मिलता है। विद्रुमलता ही इस प्रकार का कथन करती है। विद्रुमलता (आकाशे) मृणालिके, अत्यस्वस्था प्रियसखी राधिका तस्याः कृते दीर्घिकातः बिसिनीपत्राण्यानेतुं गता प्रियसखी कदलिका दृष्टा त्वया।

यह कथन विद्रुमलता द्वारा प्राकृत में ही कहा गया है परन्तु इसका संस्कृत रूपांतर ही ऊपर दिया गया है।[4]

आकाशभाषित के सुन्दर उदाहरण तो " मुकुन्दानन्दभाण " में मिलते हैं। (आकाशे) किं ब्रूथ--इह क्रीडावलगत्कुवलयदृशामेतदधरप्रभावीचीरीतिर्विलसति न बालातपरुचिः।

असावप्येतासां वदनकमलामोदलहरी
न तु क्रीडावापीसरसिजवनीसौरभकरी ।।--मुकुन्दानन्दभाण-८८ ।।

वस्तुविन्यास को अग्रसर करने वाली पांच युक्तियां भी बतलायी गयी हैं। इनमें से पांच को एक वर्ग के अन्तर्गत रख कर अन्तर सन्धि कहा गया है। स्वप्न, पत्रलेख, दूत या सन्देश, नैपथ्योक्ति और आकाशभाषित।[5]

---

१. किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ।।-- दशरूपक--१।६७
२. साहित्यदर्पण--६।१३८
३. नाट्यदर्पण--१।११
४. विद्रुमलता (आकाशे) मुणालिए, अदिअत्था पिअ सही राहिआ। ताए किदे दीहिआदो विसिणिवत्ताइं आणेदुं गदा पिअसही कअलिआ दिट्ठा तुए।
--वृषभानुजा नाटिका, पृ० ३६
५. संस्कृत नाटक--ए०बी० कीथ, पृ० ३२३।

नाट्यशास्त्र ने अन्तर सन्धि शब्द की उपेक्षा करके सन्ध्यन्तर शब्द का प्रयोग किया है। अन्य तत्वों के साथ स्वप्न,लेख और दूत का भी समावेश कर दिया है[१]। रूपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ" नाटकचन्द्रिका" में इक्कीस सन्ध्यन्तर या अन्तरसंधियां बतायी हैं,जिसकी योजना नाट्यरचना में की जानी चाहिए[२]।

कभी-कभी वस्तुविन्यास को अग्रसर करने के लिए अन्ययुक्तियों का भी समावेश कर दिया जाता है। रंगमंच पर" छद्मवेष धारण" करना यह भी ऐसी ही युक्तियों में समाविष्ट किया जा सकता है।

"विदग्धमाधव" नाटक में जब सुबल राधा के रूप में और श्रीकृष्ण गौरी के रूप में छदमवेष धारण करके आते हैं तो उसे छलप्रपंचयुक्त युक्तियों में ही रखा जाता है।

चित्र का प्रयोग तो अधिकांश नाटकों में होता है। यह तो संस्कृत नाटक की परिपाटी ही रही है कि चित्र द्वारा नायिका की कामावस्था को शान्त करने का प्रयत्न सखियों द्वारा किया जाता है।

रूपगोस्वामी द्वारा बताये गये इक्कीस सन्ध्यन्तरों में गोत्रस्खलित मद आदि हैं जिनका मनोरम रूप उनके नाटकों में मिलता है।

गोत्रस्खलित का मनोरम उदाहरण विदग्धमाधव नाटक में मिलता है। गोत्रस्खलित की परिभाषा इस प्रकार से दी गयी है--" नामों को उलट-पलट कर विपरीत भाव से कह देना" गोत्रस्खलित कहलाता है[३]।

"विदग्धमाधव" नाटक में मानधारण की हुई चन्द्रावली को प्रसन्न करने के लिए श्रीकृष्ण कहते हैं--" जंगल के बीच में मिलती हुई मधुर रस वाली तथा शीतल स्पर्श वाली अमृतमयी राधा तुम्हारे विरह में मेरे संताप को दूर करने के लिए उत्पन्न हुई है[४]। यहां पर भी श्रीकृष्ण गोत्रस्खलन से " धारा" के स्थान पर" राधा" कह जाते हैं ,अतएव यही गोत्रस्खलन का मनोरम उदाहरण बन जाता है।

मद मद्यपान से होने वाला नशा होता है[५]। इसका उदाहरण" ललितमाधव" के पांचवें अंक में बलराम की दशा से ज्ञात होता है।

---

१. नाट्यशास्त्र XIX ५३-५७,१०५-१०६।

२. साम,दान,भेद,दण्ड,प्रत्युत्पन्नमति,वध,गोत्रस्खलित,ओज,धी,क्रोध,साहस,भय,माया, संवृत्ति,भ्रान्ति,दूत्य,हेत्वधारण,स्वप्न,लेख,मद तथा चित्र।--नाटकचन्द्रिका १२६-२८

३. तद्गोत्रस्खलितं यन्तु नामव्यत्ययभाषणम्।--नाटकचन्द्रिका,१३५।

४. विपिनान्तरे मिलन्ती मधुररसा शीतलस्पर्शा।
अमृतमयी त्वद्विरहे समजनि मम तापनुत्ये राधा।।--विदग्धमाधव--४।६

५. मदस्तु मद्यज:।--नाटकचन्द्रिका,पृ० ६५।

भी व्यक्त बलराम की मदमत्त दशा को व्यक्त करते हैं । बलराम शेषनाग के अंश ही हैं तभी उनमें भी उसकी तरह ही मद दिखायी दे रहा है और उनका मस्तक हिल रहा है । भीष्मक कहते हैं--" ये राजा रूपी चीटियां तो घबराकर किलों में समा गयी हैं । मैं ही इससंसार के अण्डकटाह को दो टूक कर सकता हूं पर ऐसा करने से श्री हरि क्रुद्ध नहीं होंगे ऐसा नहीं होगा । अरे इन्द्राणी से पाले हुए मृगपोत,तू व्यर्थ ही मुस्करा कर क्यों शोर मचा रहा है । देख,बलदेव जी मदमत्त हो अपना मस्तक हिलाते हुए इधर आ रहे हैं ।[1]"

इस प्रकार से रूपगोस्वामी द्वारा बताये गये सन्ध्यन्तर तो अत्यधिक हैं अतएव प्रत्येक का उदाहरण देना विस्तारभय की दृष्टि से संभव नहीं है । इसलिए अपनी दृष्टि में जो मनोरम उदाहरण सर्वाधिक लगे उनका ही उल्लेख यहां पर किया गया है ।

नाटकों में पताकास्थानक का भी विशेष स्थान है । इसके माध्यम से नाटककार भावी घटना की सूचना अन्योक्ति अथवा समासोक्ति द्वारा मनोहारी रूप से प्रस्तुत करता है,जिससे नाटक में सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है ।

आचार्य धनंजय ने दशरूपक में पताकास्थानक का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अन्योक्ति अथवा समासोक्ति केमाध्यम से वर्तमान अथवा भावी घटनाओं की जब सूचना दी जाती है तो उसे पताकास्थानक कहते हैं । वह समान इतिवृत्त तथा समान विशेषण भेद से दो प्रकार का होता है ।[2]

आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में पताकास्थानक की चार विधियों का सूक्ष्म व्याख्यान किया है । इन विधियों में अन्योक्ति अथवा समासोक्ति के न रहने पर पर भी वाक्यविशेष से ही भावी घटना की सूचना दे दी जाती है । उदाहरणार्थ" उत्तरराम-चरित" के प्रथम अंक में दुर्मुख का" देव उपस्थित:" वाक्यांश राम के" परमसहपस्तु विरह:" कथन से जुड़ जाता है । यहां भविष्य में घटने वाला सीता का निर्वासन दुर्मुख के वाक्य से नाटकीय ढंग से जुड़ जाता है,फलत: पताकास्थानक की सृष्टि होती है ।

रामवर्मा विरचित" रुक्मिणी परिणय" नाटक के प्रथम अंक में वासुभद्र का सारथि दारुक रथ लेकर आता है । मूल संदर्भ इस प्रकार है --दारुक: (स्वगतम्)हन्त

१." ललितमाधव" नाटक-- ५।४९

२. प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम् ।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ।।

--दशरूपक--२।१२ ।

कस्याश्चिद्धनीकस्य मानवांकनाया: लावण्यसुधापंकेनिमग्ना इव लक्ष्यते देव: ।
(प्रकाशम्) आयुष्मन्,सज्जस्ते रथ: ।
वासुभद्र-- मनोरथमेति वक्तव्यम् ।

-- रुक्मिणी परिणय,पृ० ५ ।

प्रस्तुत संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि दारुक मूलत: रथ के तैयार होने की बात कहता है,परन्तु इस " तैयार " (सज्ज:) शब्द का सम्बन्ध श्रीकृष्ण अपने मनोरथ से जोड़ लेते हैं । निश्चय ही श्रीकृष्ण का मनोरथ रुक्मिणी की प्राप्ति है और वह रुक्मिणी भी सर्वात्मना कृष्ण के प्रति समर्पित है । ऐसी स्थिति में रुक्मिणी प्राप्ति रूपी भावी घटना दारुक के वचन से नाटकीय ढंग से कह दी गयी जाती है ।

पताकास्थानक का दूसरा सन्दर्भ भी इसी अंक में है । दारुक के साथ वासुभद्र विदर्भ नगर के कात्यायनी मन्दिर के उपवन में पहुंचते हैं । सारथि उपवन की शोभा को निर्दिष्ट करता हुआ कहता है-- दारुक:-- स्मैराश्चम्पककोरका इव भृशं दीप्रा प्रदीपांकुरा:

--रुक्मिणी परिणय-२५ श्लो

वासुभद्र :--सूत,प्रतापांकुरा इति वक्तव्यम् ।

प्रस्तुत संदर्भ में चम्पकपुष्प की नुकीली पुष्पकलिकाओं का परिचय देता हुआ सारथि कहता है कि यह कलियां देदीप्यमान दीपशिखा की भांति चमक रही हैं । श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं कि यह चम्पे की कलियां दीपशिखा की भांति नहीं बल्कि मेरे प्रताप की शिखा की भांति चमक रही हैं । भविष्य में शिशुपाल के साथ होने वाले श्रीकृष्ण युद्ध में उनका जो प्रताप या पराक्रम प्रस्फुटित हुआ है,उसकी नाटकीय अभिव्यक्ति चम्पककोरकों के माध्यम से पहले ही मिल गयी है । फलत: यह भी पताका-स्थानक का रमणीय उदाहरण है ।

--

२-- **पात्र विवेचन**-- नाटकों की कथावस्तु का विवेचन करने के पश्चात् पात्र-विवेचन शेष रह जाता है। किसी नाटक में पात्रों की क्या व्यवस्था है ? नायक के अतिरिक्त पीठमर्द विद्यमान है या नहीं ? विदूषक और कंचुकी है या नहीं--इसका विवेचन किया जाना चाहिए।

नाटक के नायक का व्यक्तित्व भी आलोचना का विषय बन सकता है। वह इस दृष्टि से कि नायक उदात्त,ललित,उद्धत अथवा शान्त में से किस प्रवृत्ति का है अथवा साहित्यदर्पण इत्यादि ग्रन्थों में नायक के जो दक्षिण तथा शठ इत्यादि भेद बतलाये गये हैं[1],नाटक का नायक इनमें से किस व्यक्तित्व का नायक है। नाटक की नायिका और अन्य स्त्रीपात्रों के विषय में भी नाट्यशास्त्रीय विवेचन होना अपेक्षित है क्योंकि नाट्यशास्त्र प्रभृति शास्त्रीय ग्रन्थों में नायिका भेद पर विशेष श्रम किया गया है। उन्हीं दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर ही नाटकों में पात्र विवेचन करना चाहिए।

नायक के कौन-कौन से गुण विद्यमान होने चाहिए इसका व्याख्यान तो दशरूपक के द्वितीय प्रकाश के प्रारम्भ में ही किया गया है। नायक विनीत,मधुर,त्यागी,चतुर, प्रिय बोलने वाला,लोकप्रिय,पवित्र,वाक्पटु,प्रसिद्ध वंशवाला,स्थिर,युवक,बुद्धि-उत्साह, स्मृति,प्रज्ञा-कला तथा मान से युक्त शूर,दृढ़,तेजस्वी शास्त्रों का ज्ञाता होता है[2]।

दशरूपककार ने नायक के चार प्रकार बतलाये हैं--ललित,शान्त,उदात्त और उद्धत[3]।

विश्वनाथ और शिंगभूपाल ने इसके सम्बन्ध में भिन्न अभिप्राय व्यक्त किये हैं। इनके अनुसार नाटक का नायक धीरोदात्त तो हो सकता है पर धीरललित,धीरप्रशान्त और धीरोद्धत नहीं[4]।

भरत मुनि के वर्गीकरण में भी औदात्य गुण अपेक्षित गुण दिखलायी देने के कारण नाटक के नायक को धीरोदात्त प्रतिपादित करता है।

---

१. साहित्यदर्पण--७८-५।

२. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
   रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा।
   बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
   शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥ --दशरूपक-- २।१-२॥

३. भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम्।-- दशरूपक,द्वितीय प्रकाश पृ० ११३।

४. साहित्यदर्पण--६।९ तथा रसार्णव सुधाकर ३-१३०॥

भरतमुनि के नायक वर्गीकरण के सम्बन्ध में हेमचन्द्र का विश्वास है कि भरतमुनि ने जो धीरोदात्त आदि का अपने सिद्धान्त के समय उल्लेख किया है,वे किसी एक नायक की विभिन्न स्थितियों के परिचायक हैं जिनमें वह अपने औदात्य और ललित,औद्धत्य एवं शान्ति का परिचय देता है। हेमचन्द्र ने यहां प्रकृति और वृत्ति को एक मान लिया है। वृत्ति पात्र की अस्थायी मानसिक स्थिति है जबकि प्रकृति स्थायी। अत: दोनों को एक मान लेना बड़ी भूल होगी[१]।

यही विचार मानवीय लगता है।

रूपगोस्वामी ने "नाटकचन्द्रिका" में नायक के तीन प्रकार से भेद किये हैं। उन्होंने नायक को दिव्य,दिव्यादिव्य और अदिव्य बता कर तीन भेद किये हैं[२]।

"जो स्वयं अपने ऐश्वर्य को प्रकट करने में सक्षम हो,ऐसे श्रीकृष्ण आदि को "दिव्य" नायक समझना चाहिए। जो दिव्य होकर भी मनुष्यों के समान आचरण करें वे श्रीराम आदि "दिव्यादिव्य" नायक कहलाते हैं। यद्यपि राम और कृष्ण की दिव्यता एवं दिव्यादिव्यता के संदर्भ में आचार्य रूपगोस्वामी का मत यही है फिर भी तर्क की कसौटी पर उनका यह मत खरा नहीं सिद्ध होता क्योंकि यदि राम दिव्य होते हुए भी मनुष्यवत् आचरण करते हैं तो कृष्ण किसी भी रूप में उनसे कम मानवीय आचरण नहीं करते। सच बात तो यह है कि कृष्ण का जीवन राम की भी अपेक्षा मानव जीवन के संघर्षों से कहीं अधिक जुड़ा है। राम की अपेक्षा कृष्ण गार्हस्थ के बन्धन में कहीं अधिक जकड़े हुए दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों के बीच उपर्युक्त अन्तर करना संतोषप्रद नहीं प्रतीत होता।.. जो धर्मराज युधिष्ठिर जैसे सत्याचरणशील पुरुष हों उन्हें "अदिव्य" नायक समझना चाहिए। सभी नायकों के गुण एक साथ विद्यमान रहने के अतिरिक्त अपने अप्रतिम सर्वोत्तम गुणों को विशेष रूप में रखने के कारण श्रीकृष्ण को ही सर्वोत्तम नायक माना जाता है।

दूसरे,श्रीकृष्ण में ललित एवं अन्य गुणों की (अन्य नायकों की अपेक्षा विशेष तथा एक साथ) शोभापूर्ण अभिव्यक्ति की जा सकती है,अतएव शृंगाररसबहुल नाटक में श्रीकृष्ण को नायक बनाना उपयुक्त रहता है[३]।

---

१. संस्कृत नाट्यकला--श्री रामलखन शुक्ल (१९७०) पृ० १७।

२. दिव्येन दिव्यादिव्येन तथा दिव्येन वा युतम्।--नाटक चन्द्रिका,पृ० १।

३. नाटक चन्द्रिका--रूपगोस्वामी (नायक का लक्षण) ७-१०।

विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में भी दिव्य, दिव्यादिव्य या गुणवान् तीन प्रकार के नायकों की चर्चा की है। दुष्यन्त आदि राजर्षिपात्र, श्रीकृष्ण दिव्यपात्र, राम दिव्यादिव्य पात्र के अन्तर्गत हैं।[1]

अगर विचार किया जाये तो दुष्यन्त की भांति श्रीकृष्ण और राम को भी राज्य का भार सम्भालने के कारण राजर्षि कोटि में रखा जा सकता है।

रूपगोस्वामी ने अपने नाटक 'विदग्धमाधव' और 'ललित माधव' में श्रीकृष्ण को अपने ललित, उदात्त गुणों से युक्त होने पर भी अपने अप्रतिम सर्वोत्तम गुणों को प्रकाशित करने के कारण सर्वोत्तम नायक माना है। इन नाटकों में श्रीकृष्ण के धीरललित स्वरूप का प्रदर्शन होने पर भी उनकी लीला को दिव्य लीला ही माना है। इस कारण से वह दिव्य नायक कहे जा सकते हैं।

इसके पश्चात् 'दशरूपक' के अनुसार ही नायक के भेदों पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि कृष्णकथाश्रित नाटकों के शास्त्रीय विवेचन का आधार दशरूपक को ही बनाया गया है।

(क) नायक-विवेचन-- दशरूपक में सबसे पहले धीरललित नायक का स्वरूप बतलाया गया है। धीरललित नायक निश्चिन्त, कलासक्त और विशेषतया विलासी होता है। शृंगार भाव की विशेषता होने के कारण वह कोमल स्वभाव तथा व्यवहार वाला होता है। इसी कारण उसे मृदु कहा गया है।[2]

नाटिका का नायक तो विशेष रूप से प्राय: धीरललित ही होता है। 'वृषभानुजा' नाटिका में श्रीकृष्ण धीरललित रूप से ही आये हैं। श्रीकृष्ण का यह स्वरूप यद्यपि नाटकों में भी विद्यमान है परन्तु धीरोदात्त रूप से भी परिलक्षित होते हैं। धीरोदात्त से ~~सन्निवि~~ सन्निविष्ट ही श्रीकृष्ण का धीरललित रूप दिखायी पड़ता है।

श्रीकृष्ण का धीरललित रूप उनके धीरोदात्त रूप से भी अधिक नाटकों में प्रतिपादित हुआ है। परवर्ती रचनाकारों ने अधिकांशत: इसी को आधार भूमि बना कर अपने काव्य

---

१. साहित्यदर्पण--विश्वनाथ-- ६।११

२. निश्चिन्तो धीरललित: कलासक्त: सुखी मृदु।--दशरूपक २।३

और नाटकों की पृष्ठभूमि तैयार की । हिन्दी साहित्य भी इसी रूप से बहुत प्रभावित रहा है ।

धीरशान्त नायक तो श्रीकृष्ण नाटकों में नहीं दिखलायी देते । धीरशान्त नायक सामान्य गुणों से युक्त द्विज आदि होता है[1]। नायक के जो विनय आदि सामान्य गुण कहे गये हैं,उनसे युक्त द्विजप्रकरण का नायक होता है । निश्चन्तता आदि गुणों के न रहने पर भी प्रकरण के नायक में शान्तता तो होती ही है,लालित्य नहीं ।

धीरशान्त के सम्बन्ध में यह भी ज़रूरी नहीं कि वह विप्र ही हो । क्षत्रिय राजा भी इन गुणों से युक्त होकर धीरशान्त हो सकते हैं । श्रीकृष्ण तो प्रकरण के नायक ही नहीं रहे इसलिए इनका धीरशान्त रूप परिलक्षित नहीं हुआ है[2]।

---

१. सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।--दशरूपक पृ० ११४

२. कुछ आधुनिक समालोचकों ने" ललितमाधव" की दशांकता से प्रभावित होकर उसे प्रकरण कह दिया है । परन्तु उनका यह मत शोधकर्ती को मान्य नहीं क्योंकि कोई नाट्य कृति केवल दस अंक की होने भर से प्रकरण नहीं हो जाती । नाट्यशास्त्रीय मान्यताएं स्पष्ट कर देती हैं कि प्रकरण का नायक कोई नवयुवक,ब्राह्मण अथवा वैश्य होता है । इसकी नायिका भी निश्चित रूप से कोई गणिका या परकीया होती है । हां,अंकों की संख्या प्रकरण में दस ही होती है ।

इस दृष्टि से विचार करने पर" ललितमाधव" प्रकरण रचना सिद्ध नहीं होती, क्योंकि इसके नायक कृष्ण न तो ब्राह्मण हैं और न वैश्य । उनका आचरण भी उन्हें धीरप्रशान्त नहीं बल्कि धीरललित-प्रकृतिक सिद्ध करता है ।

अभिमन्यु से विवाहित तथा नाटक की नायिकाभूत राधा को भी परकीया मान लेना बड़ी भारी भूल होगी,क्योंकि राधा परकीया है ही नहीं । इसके लिए" विदग्ध-माधव" के प्रथम अंक में कवि द्वारा पौर्णमासी की व्यवस्था पर ध्यान देना चाहिए ।

(पौर्णमासी --(प्रकाशम्) सुन्दर,कृतमनौत्कण्ठ्या । सा विष्णुपदवीधीसंचारिणी राधा गोकुले कैन लभ्यताम् ।) -- विदग्धमाधव,पृ० ३६ ।

इसके अतिरिक्त आचार्य रूपगोस्वामी ने" नाटकचन्द्रिका" में भी राधा के स्वकीयात्व की स्थापना भलीभांति कर दी है । इस संदर्भ में विस्तृत व्याख्यान शोधकर्ता ने तृतीय अध्याय में ही यथावसर किया है ।

" वेणीसंहार" नाटक में युधिष्ठिर को धीरशान्त नायक माना जा सकता है ।

धीरोदात्त नायक के गुणों को प्रतिपादित करना भी इसलिए अपेक्षणीय है कि उन गुणों की छत्रछाया में विद्यमान श्रीकृष्ण का स्वरूप नाटकों में भलीभांति प्रतिबिम्बित हो सके । श्रीकृष्ण में धीरोदात्त के गुण भी अधिकांश दिखायी देते हैं ।

धीरोदात्त नायक उत्कृष्ट अन्तःकरण वाला, अत्यन्त गंभीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर, अहंकार को दबा कर रखने वाला, दृढ़व्रती नायक होता है ।[1]

महासत्व का अर्थ है--जिसका अन्तःकरण शोक-क्रोध से अभिभूत नहीं होता है ।

जब किसी विशेष नायक में स्थिरता यह गुण हो तो उसका तात्पर्य यह है कि यह गुण उस नायक में अतिशय मात्रा में है । इस प्रकार के नायक का उदाहरण "कंसवध" नाटक में श्रीकृष्ण के धीरोदात्त गुणों से प्रदर्शित करके तथा उन्हें धीरोदात्त नायक बता कर दिया गया है । दुष्टों का दमन अभिलषित होने पर भी अपने क्षमाशील स्वरूप के कारण श्रीकृष्ण कंस का वध करने के सम्बन्ध में भी विचार करते हैं । बलराम द्वारा ही उन्हें कंस को मारने के लिए प्रेरित किया जाता है, तभी कंस का वध होता है ।

"प्रद्युम्नाभ्युदय" नाटक में प्रद्युम्न भी धीरोदात्त नायक है । इसी प्रकार "बालचरित" नाटक में भी धीरोदात्त नायक है, परन्तु "रुक्मिणी परिणय" नाटक में श्रीकृष्ण धीरोदात्त होते हुए भी धीरललित गुणों से प्रभावित हो जाते हैं ।

नायक के चारों प्रकारों में " धीर" शब्द आने का क्या कारण है ? इसकी व्याख्या करने की भी आवश्यकता है ।

आप्टे के "शब्दकोष" में " धीर" शब्द का अर्थ धीर किया गया है ।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक" में " धीर" शब्द का अर्थ "धैर्य" किया है । " धीर" शब्द का अर्थ है चित्त की स्थिरता या धैर्य ।

"धीर" शब्द का अर्थ यदि चित्त की स्थिरता ही लिया जाये तो यह चारों नाटकों में ही घटित हो जायेगा । समास की दृष्टि से रूपकुपा समास से इसकी व्युत्पत्ति भी ठीक नहीं हो सकेगी क्योंकि यह दृष्टान्त धीरोद्धत नायक का परिपोषण करता है । धीरोद्धत में भी चित्त की स्थिरता की आवश्यकता हो जायेगी, अतएव आप्टे द्वारा लिया गया धीर अर्थ ही समुचित प्रतीत होता है ।

---

१. महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।।-- दशरूपक-- २।४

'नाट्यशास्त्र' में भी भरत मुनि ने नाटक के चारों नायकों का विभाजन 'धीर' शब्द का अर्थ 'धीर' करके ही किया है।[1] इस प्रकार के चारों नायकों की व्युत्पत्ति इस प्रकार से हो जायेगी।

धीरोदात्त नायक -- धीर एवं उदात्त
धीरललित नायक -- धीर एवं विनोदी
धीरशान्त नायक -- धीर एवं शान्त
धीरोद्धत नायक -- धीर और अभिमानी

यद्यपि कुछ रचयिताओं द्वारा रसप्रसंग के संदर्भ में इस वर्गीकरण को स्वीकार भी किया गया है तब भी नायक की रत्यादिक भावनाओं को प्रदर्शित करने के लिए अभी कुछ और करना शेष रह जाता है।

सर्वसाधारण और सर्वप्रसिद्ध वर्गीकरण भरतमुनि के द्वारा पुरुष और स्त्री को भी संयुक्त करके उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकारों से किया गया है।[2] प्रधान नायक जो नाटक में आदि से अन्त तक धीरोदात्त ही रहता है अतः वही उत्तम कोटि का नायक भी है।

धीरललित नायक में धीर और ललित गुणों का समावेश रहता है तभी तो श्रीकृष्ण भी इन गुणों से समन्वित नायक दिखलाई देते हैं।

धीरोद्धत नायक के सम्बन्ध में यह तथ्य विशेष महत्व का है कि कृष्णचरिताश्रित किसी भी नाटक में अथवा अन्य व्याख्यात रूपक कृतियों में कोई धीरोद्धत नायक नहीं है। इसका मूल कारण नाटक अथवा अन्य रूपक कृतियों का अपना संविधानिक अथवा इतिवृत्तात्मक रूप विशेष ही है।

इस प्रकार का नायक मुख्यतः व्यायोग कृतियों में और इसके अलावा डिम और ईहामृग में ही आता है। नाटक में तो धीरोद्धत स्वभाव वाला प्रतिनायक ही होता है।

धीरोद्धत के सम्बन्ध में दशरूपककार ने कहा है कि जिसमें घमण्ड (दर्प) और 'डाह' (मात्सर्य) अधिक होता है, जो माया और कपट में तत्पर होता है, जो अहंकारी, चंचल, क्रोधी तथा आत्मश्लाघा करने वाला होता है।[3]

---

१. नाट्यशास्त्र, पृ० ४५८।

२. वही, पृ० २८०।

३. दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥ --दशरूपक--२।५

भासरचित "दूतवाक्य" में कुरुपति दुर्योधन धीरोद्धत नायक कहा जा सकता है। अन्य प्रकरणिक नाटकों में तो प्राय: कृष्ण तथा प्रद्युम्न ही नायक हैं। दूतवाक्य में तो अहंकारी दुर्योधन श्रीकृष्ण के दूत रूप से आगमन पर अपने सभासदों तक को उनके स्वागत में खड़ा होने को मना कर देता है।[1] दर्प से आविष्ट होकर ही वह कृष्ण का तिरस्कार करता है और द्रौपदी के वस्त्रापहरण का चित्र भी उनके समक्ष प्रस्तुत करता है। इस प्रकार से अहंकार के अतिरिक्त धीरोद्धत नायक के अन्य गुण भी दुर्योधन में विद्यमान हैं। वह कपटपूर्ण ढंग से ही सुई की नोक भर जमीन भी पाण्डवों को नहीं प्रदान करता।

यों तो सर्वत्र दुर्योधन का धीरोद्धत स्वरूप प्रदर्शित होता ही है परन्तु उस स्थान पर मुखर हो उठता है जब वह कृष्ण का महत्त्व न समझ कर उन्हें गिरफ्तार करने की योजना बनाता है।[2] श्रीकृष्ण द्वारा विश्वरूप से स्थित हो जाने पर भी दुर्योधन केशव को दूत कह कर ही उनके बांधे जाने के सम्बन्ध में कहता है।[3]

इसी प्रकार के धीरोद्धत स्वभाव से युक्त शिशुपाल भी "रुक्मिणीहरण" ईहामृग में कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के हरण कर लिये जाने पर अपनी माया का प्रदर्शन करता है.जिसके कारण भी वह धीरोद्धत प्रतिनायक होने का अधिकारी है,साथ ही साथ बन्दी-प्रशस्ति के समय शिशुपाल के राक्षस रूप का भी जब वर्णन किया जाता है उस समय उसमें राक्षसी दुर्गुणों के विद्यमान होने से उसके धीरोद्धत स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

शिशुपाल कृष्ण का तिरस्कार करने के अभिप्राय से न चाहने वाली रुक्मिणी को प्राप्त करना चाहता है। यद्यपि वह रुक्मिणी के प्रति कृष्ण के प्रगाढ़ अनुराग से परिचित भी है फिर भी रुक्मी को अपना मित्र बना कर अपने अभीष्ट की प्राप्ति भी किसी तरह करना चाहता है।

सामाजिक दृष्टि से भी कृष्ण शिशुपाल के मातुल पुत्र सिद्ध होते हैं। अतएव भाई होने के कारण भी शिशुपाल को रुक्मिणी तथा कृष्ण का सम्बन्ध सहर्ष स्वीकार कर

---

१. कृष्ण के प्रति दुर्योधन का तिरस्कारपूर्ण वाक्य "नोत्थास्यामि केशवस्य" उस युग के किसी के आने पर खड़े होना--इस सम्मानप्रदर्शन को व्यक्त करता है।

२. करितुरगनिहन्ता कंसहन्ता स कृष्ण:
   पशुपकुलनिवासाधानुजी व्याघनभिज्ञ: ।
   हृतभुजबलवीर्य: पार्थिवानां समक्षं
   स्ववचनकृतदोषो बध्यतामेष शीघ्रम् ।।--दूतवाक्य--१।३६

३. सृजसि यदि समन्ताद् देवमाया: स्वमाया:
   प्रहरसि यदि वा त्वं दुर्निवारै: सुरास्त्रै: ।
   हयगजवृषभाणां तापनाज्जातदर्पो

लेना चाहिए,परन्तु अपनी उद्दण्ड प्रवृत्ति के कारण वह कृष्ण का विरोध करता है ।

रुक्मिणीपरिणय' और' कंसवध' नाटक में शिशुपाल और कंस ही धीरोद्धत प्रवृत्ति के प्रतिनायक हैं ।' कंसवध' में कंस कपटपूर्वक उपाय करके चतुर्मह महोत्सव में कृष्ण को बुलाने के लिए अक्रूर को भेजता है जिससे छल से कृष्ण को चाणूर मुष्टिक से मरवाया जाये । शिशुपाल भी कृष्ण का तिरस्कार करने के लिए ही रुक्मिणी को प्राप्त करना चाहता है ।

इस प्रकार से चतुर्विध नायकों का विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि चतुर्विध नायकों के साथ' धीर' शब्द जोड़े जाने का विशेष महत्व है । धीर का अर्थ चाहे महासत्वता से हो,चाहे धैर्यवत्ता हो और चाहे बुद्धिमत्ता से--नायक का धीर होना एक अनिवार्य शर्त है । यही एक ऐसा गुण है जो किसी व्यक्ति विशेष को -नायक की योग्यता प्रदान करता है अन्यथा भीम और रावण की उद्धता में क्या अन्तर रह जाता ? क्या लंकेश्वर भीम की भाँति उद्धत नहीं है ? क्या सीता के प्रति उसका अनुराग सागरिका के प्रति उदयन के अनुराग से कुछ कम है ? फिर भी न तो रावण कवियों द्वारा किसी नाटिका का या किसी नाटक का नायक बनाया गया आखिर क्यों ? इसका एकमात्र कारण यह है कि वह धीर नहीं था ।' जो पुरुष धीर होता है उसी में विनीतता,मधुरता,त्यागत्व,वाग्मयता और उदारता प्रभृति धनंजयोल्लिखित नायक के गुण हुआ करते हैं । इस दृष्टि से धीर शब्द उद्धत,ललित,प्रशान्त और उदात्त कोटि के नायकों की चरित मर्यादा को निर्धारित कर देता है ।

धीर होने के कारण कोई ललित नायक प्रेम सम्बन्ध को व्यभिचार कोटि तक नहीं ले जा पाता । धीर होने ही के कारण कोई उदात्त नरेश अकारण अत्याचारी बनकर विपक्षी राजाओं का विध्वंस नहीं कर पाता । धीर होने के कारण दस हजार हाथियों का बल रखने वाले तथा उद्दण्ड प्रकृति के होने पर भी भीम युद्ध घोषणा के पूर्व दुर्योधन इत्यादि को नहीं मार डालते और धीर होने ही के कारण अपनी समृद्धि और वैभव से च्युत होकर भी पश्चाताप की अग्नि में दहकने वाला चारुदत्त प्रशान्त होते हुए भी सन्यासी नहीं बन पाता है ।

चतुर्विध नायकों के वर्गीकरण के पश्चात् यह भी देखना आवश्यक है कि किन ग्रन्थों में नायक का वर्गीकरण अनुकूल,दक्षिण,शठ और धृष्ट इन चार प्रकारों से किया गया है ।' अग्निपुराण' में नायक का वर्गीकरण अनुकूल,दक्षिण,शठ और धृष्ट इन

चार प्रकारों से किया गया है,जो रसात्मकता के अध्ययन वाले इस विषय के लिए न्यायोचित है और वर्तमान युग के रचनाकारों ने अधिकांशरूप में इसी का ग्रहण किया है।[1]

रुद्रट के काव्यालंकार और रुद्रभट्ट के शृंगारतिलक वृत्तियों से धीरोदात्तादि स्व० स्वरूप में नायक के वर्गीकरण का तो निष्कासन ही कर दिया गया है। दूसरा वर्गीकरण अनुकूल दक्षिण आदि सबसे पहले अग्निपुराण द्वारा सुरक्षित रखा गया है।[2]

रुद्रट ने जो अनुकूल,शठ,धृष्ठ की जो परिभाषाएं दी हैं वह पहले दी गयी परिभाषाओं में संक्षिप्तता होने केकारण नहीं दी गयी हैं। रुद्रभट ने तो इसके उदाहरण भीदिये हैं।[3] धनंजय तो दशरूपक में नायक के वर्गीकरण के सम्बन्ध में चार प्रकार के नायकों और फिर दक्षिण,अनुकूल आदि नायक के सम्बन्ध में कहा ही है। इसका व्याख्यान अगले अनुच्छेद में किया जायेगा।

"सरस्वती कंठाभरण" में भोज नायक के वर्गीकरण के कुछ आधार रखते हैं,जिनमें तीन उनके अपने हैं। उत्तम,मध्यम और अधम वर्गों से नायक का विभाजन धीरोदात्तादि रूप में उनके गुणों के आधार पर किया गया और अनुकूल आदि मे वर्गीकरण नायक के साधारण चरित्र-चित्रण के आधार पर ही हुआ। नायिका के साथ नायक के व्यवहार से तो हम परिचित हो ही जाते हैं,उसी के अनुकूल नायक का वर्गीकरण करते हैं। उनके लिए उन्होंने नायक के वर्गीकरण नायक,प्रतिनायक,उपनायक और अनुनायक को उनके सम्बन्ध की स्थिति और कथानक में महत्वपूर्णता के आधार पर उनकी प्रकृति के अनुसार सात्विक राजस एवं तमस से संयुक्त किया।[4]

"नाट्यदर्पण" में नायक का वर्गीकरण परम्परा के आधार पर धीरोदात्त आदि रूपों में ही किया गया है और प्रधान नायक,अनुनायक और प्रतिनायक का भी संकेत दिया है।[5]

---

१. स्टडीज् इन नायकनायिका भेद--डा० राकेश गुप्त,पृ० ३८।

२. वही--पृ० ३९।

३. शृंगारतिलक,पृ० ११४-११५

४. सरस्वती कंठाभरण,पृ० ५६७

५. नाट्यदर्पण--पृ० १९७-१९९।

शारदातनय का "भावप्रकाशन" भी नाट्यशास्त्र और दशरूपक की तरह नाट्यकला पर किया गया प्राथमिक कृत्य है और इसमें रस गौण ही है। इसमें भी प्रथम नायक का वर्गीकरण ज्येष्ठ,मध्यम और कनिष्ट रूप में किया गया है।[१] यह वर्गीकरण नायक के गुणों के आधार पर ही किया गया है। यह वर्गीकरण परम्परा से किये गये नायक के वर्गीकरण से भिन्न नहीं है। वही दो प्रकार से वर्गीकरण किया है -- पहला,धीरोदात्त,धीरललित,धीरशान्त औरधीरोद्धत औरदूसरा अनुकूल,दक्षिण,शठ और धृष्ट।[२] उपनायक भी पताका के नायक के रूप में संकेतित किया गया है।[३] "नाट्यदर्पण" में नायकों के चार स्वभाव भी बताये गये हैं।[४] एक प्रधान नायक में तो एक ही प्रकार के स्वभाव का वर्णन करना चाहिए,किन्तु एक ही अप्रधान नायक में तो अनेक स्वभावों का वर्णन किया जा सकता है।[५]

नायक जब नवीन (कनिष्ठा) नायिका द्वारा हृतचित्त हो जाता है तब वह ज्येष्ठा नायिका के प्रति दक्षिण,शठ एवं धृष्ट होता है।[६]

अनेक नायिकाओं से तुल्य अनुराग रखने वाला नायक दक्षिण नायक होता है। वह दूसरी नायिका को पाने का प्रयत्न करके पहली नायिका को व्यथित करता है किन्तु वह पूर्वा नायिका के प्रति अपने व्यवहार में कोई कमी नहीं आने देता। उसे इस बात का एहसास नहीं होने देता कि वह उससे उदासीन हो गया है। इस प्रकार का दक्षिण नायक पूर्व नायिका के प्रति सहृदय तो रहता ही है।[७]

श्रीकृष्ण दक्षिण नायक की कोटि में "ललितमाधव" नाटक में आते हैं। यद्यपि उनका अनुराग सत्यभामा रूप से विद्यमान राधिका पर होता है परन्तु फिर भी वह ज्येष्ठा नायिका चन्द्रावली के प्रति उदासीन नहीं दिखलायी पड़ते।

रूपगोस्वामीकृत "विदग्धमाधव" के चतुर्थ अंक में श्रीकृष्ण का दक्षिण नायकत्व और भी मुखर हो उठा है।

संदर्भ के अनुसार चन्द्रावली राधा के प्रति कृष्ण का अनुराग अनुभव कर अत्यन्त उद्विग्न और अमर्षयुक्त हो उठी है। अपनी सखी पद्मा के कौशल से उसका समागम कृष्ण से होता है। उधर कृष्ण भी अपने मित्र सुबल से कहते हैं --" मयूर का का वर्णन करते

---

१. भावप्रकाशन,पृ० ९१-९२
२. वही,पृ० ९२-९३
३. वही,पृ० ९३
४. नाट्यदर्पण--१।६
५. दशरूपक,पृ० ११३
६. स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः।--दशरूपक २।६
७. दक्षिणोऽस्यां सहृदयः।--दशरूपक,पृ० १२३।

हुए किसी ने आज चन्द्रावली की याद दिलायी, अत: उसी को देखने की आकांक्षा करता हूँ।[1]

इसी संदर्भ में आगे श्रीकृष्ण अपने मित्र सुबल से कहते हैं-- सखे सुबल, "अय चन्द्रावली प्रसादे त्वया ममानुकूलेन भवितव्यम्" (अर्थात् आज तुम्हें चन्द्रावली को प्रसन्न करने में मेरी सहायता करनी चाहिए।

परन्तु नायक-नायिका के प्रणयोल्लसित मिलन के ही बीच में शीतल स्पर्श वाली धारा के वर्णनक्रम में कृष्ण के मुख से गोत्रस्खलन हो जाता है। वह "अमृतमयी धारा" के स्थान पर "अमृतमयी राधा" कह बैठते हैं जिसके कारण चन्द्रावली ईर्ष्या-द्वेष से भर जाती है।

अगले सन्दर्भों में -- चन्द्रावली को अनुकूल करते हुए कृष्ण का दाक्षिण्य मनोरम रूप में प्रतिपादित किया गया है। अन्तत: कृष्ण अपने प्रयास से चन्द्रावली को भी अनुकूल बना ही लेते हैं।[2]

शठ वह है जो प्रेम अन्य से करे और ज्येष्ठा नायिका के प्रति अनुराग दिखाये, प्रच्छन्नरूप से अप्रिय भी करे। यह नायक पहली नायिका से डर कर छिपकर प्रेम करता है।[3]

इस प्रकार के नायक का स्वरूप श्रीकृष्ण में धीरोदात्त गुण के विद्यमान होने के कारण परिलक्षित नहीं होता है। श्रीकृष्ण किसी भी नाटक में शठ रूप से आये ही नहीं हैं, इसका एकमात्र कारण यह है कि श्रीकृष्ण का दिव्य स्वरूप जो श्रीमद्भागवतादि पुराणों में दिग्दर्शित कराया गया है, उसका लोप हो जाता है और श्रीकृष्ण प्राकृत मानव की भाँति कामुक ही रह जाते। इसी दृष्टिकोण को भी ध्यान में रख कर नाटकों में उनके शठ नायकत्व का बहिष्कार किया गया है।

दूसरा कारण यह भी है कि दशरूपक में जो नायक के गुण प्रदर्शित किये गये हैं उनमें शठ नायक में विद्यमान रहने वाली कपट युक्तियों का निर्देश ही इसलिए नहीं किया गया है, क्योंकि किसी भी नाटक में पात्र को नायक बनने के अधिकार से वंचित करती हैं।

---

१. सखे, मयूरं वर्णयता केनचित्प्रियां चन्द्रावलीं स्मारितोऽस्मि तद्विलोकनाय लालसीयम्।
--विदग्धमाधव, पृ० १५३

२. न्यवशित नयनान्ते कापि सारल्यनिष्ठा वचसि च विनयेन स्तोत्रभणी न्यवात्सीत्।
अजनि च मयि भूयान्संभ्रमस्तेन तस्या व्यवृणुत हृदि मन्युं सुष्ठु दाक्षिण्यमेव॥
-- वही ४।१३

३. गूढविप्रियकृच्छठः। --दशरूपक, पृ० १२४।

वस्तुत: दशरूपक और उनमें भी विशेषतया नाटक की रचना कवि एक सर्वसम्मत लोकादर्श की स्थापना हेतु करता है। ऐसी स्थिति में नायक की शठता का प्रदर्शन लोकमंगल के विरुद्ध होगा, अतएव किसी नाट्यकृति में आपन्त शठ नायक को अभिषिक्त करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। हां, यह संभव हो सकता है कि धीरोदात्त, धीरललित अथवा धीरप्रशान्त नायक के व्यवहार में कहीं शठता का आरोप न हो जाये। ऐसा प्राय: हुआ भी है।

उदाहरण के लिए--अभिज्ञान शाकुन्तल के पंचम अंक में नायक हस्तिनापुर नरेश दुष्यन्त अनेक प्रमाण देने पर भी पूर्वपरिणीता शकुन्तला को स्वीकार नहीं करते। उसके प्रत्येक प्रमाण की हंसी उड़ाते हैं और अन्तत: उसे व्यभिचारिणी भी सिद्ध करते हैं। निश्चय ही एक धीरोदात्त प्रकृति के नायक का यह छिछोरा व्यवहार उसकी शठता का ही परिचायक है (भले ही इस शठता का दायित्व राजा का नहीं--दुर्वासा के शाप का है)।

एक आर्य नरेश द्वारा व्यभिचारिणी कहे जाने पर शकुन्तला का स्त्रियोचित स्वाभिमान उद्दीप्त हो उठता है और वह अभीतक जिसे अपना पति मान कर आर्य कह रही थी उसी को तिरस्कृत करती हुई कहती है--`अनार्य तृणच्छन्न कूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते? ।-- शाकुन्तल, पृ० ३६४।

यहां पर शकुन्तला द्वारा दुष्यन्त को अनार्य अथवा शठ कहा जाना राजा के क्षणिक शठोचित व्यवहार को ही स्पष्ट करता है।

कृष्ण के शठोचित व्यवहार का एक अत्यन्त रमणीय प्रसंग `विदग्धमाधव` नाटक के चतुर्थांक में ही दृष्टिगोचर होता है। इस संदर्भ का व्याख्यान पिछले अनुच्छेदों में ही कृष्ण का दाक्षिण्य प्रदर्शित करने के लिए किया जा चुका है। अगला प्रसंग इस प्रकार है--

कृष्ण और चन्द्रावली किंकर्तव्य भाव से परस्पर स्नेहासक्त हो जाते हैं। इसी बीच में चन्द्रावली की सखी पद्मा और कृष्ण का मित्र मधुमंगल एक साथ प्रवेश करते हैं। मधुमंगल कहता है-- पद्मे, मैंने सुना है कि आज मेरे चाटुकार मित्र कृष्ण द्वारा मनायी जाने पर भी चन्द्रावली प्रसन्न नहीं हुई है।[1]

---

१. पद्मे, श्रुतं मयाद्य वयस्येन चाटुकारिणा अनुनीतापि चन्द्रावली न प्रसन्ना।)
-- विदग्धमाधव, पृ० १६२।

पद्मा मधुमंगल के इस वाक्य का समर्थन करती है और वह दोनों कृष्ण तथा चन्द्रावली को मिलाने के लिए चल पड़ते हैं। कृष्ण केसर कुंज में बैठे हैं और मन ही मन कुछ कह रहे हैं।

कृष्ण का यही स्वरूप उनके शठ नायकत्व का प्रकाशन करता है। वह कहते हैं--"जिसके भ्रूचाप के फैलने पर कामदेव ने अपने फूलों के धनुष की डोरी को ढीला कर लिया, वह मेरी प्यारी (राधा) मेरे अलंकार के लिए मधुरिमा की मणिपेटिका हो।"[1]

कृष्ण का यह आत्मकथन सुन कर मधुमंगल पद्मा से कहता है--"पद्मे, कृष्ण उत्कण्ठावश तुम्हारी सखि चन्द्रावली का ही वर्णन कर रहे हैं। इसीलिए जाओ उसे शीघ्र उसे मना कर ले आयें।"[2] पद्मा उत्तर देती है--"ठीक से कृष्ण की सारी बातें हम लोग सुन लें क्योंकि यह अनेक वल्लभाओं वाला व्यक्ति है। न जाने किस प्रणयिनी का वर्णन कर रहा है।"[3]

अन्त में जब मधुमंगल कृष्ण से राधा को ले आने का संकल्प करके राधा के स्थान पर चन्द्रावली को उपस्थित कर देता है तब श्रीकृष्ण की शठता पूर्ण रूप से प्रकट हो जाती है। वह कहते हैं--"सचमुच ही मेरी प्यारी मिल गई। (यह कह कर तेजी से चन्द्रावली के समीप आकर) हृदयरूपी भ्रमर की खिलती हुई लता, मंगलदायिनी कान्ति से युक्त राधा मुझसे आनन्दित हुई।"[4]

इस संदर्भ में अपने इस कथन में कृष्ण "मंगलमाराधिका" कह कर शठता का परिचय देते हैं। उनका मित्र मधुमंगल इस शब्द को "मंगल माराधिका" अर्थात् अत्यधिक मंगलमयी सिद्ध करके चन्द्रावली को प्रसन्न कर लेता है।

"दूतवाक्य" एकांकी में दुर्योधन शठ नायक कहा ही गया है क्योंकि वह शठाचरण ही करता है। श्रीकृष्ण भी सुयोधन को "शठ" नाम से ही सम्बोधित करते हैं।[5]

---

१. विदग्धमाधव--४।१५

२. पद्मे, एष उत्कण्ठया तव प्रियसखीमेव वर्णयति। तदेहि। त्वरितं गत्वैनां समानयाव:।
--विदग्धमाधव, पृ० १६३।

३. आर्य, दुष्टुनिष्टंकितं शृणुव: पद्मवल्लभ: एष:।)--वही।

४. वही--पृ० १६६।

५. दुष्टवादी गुणद्वेषी शठ: स्वजननिर्दय:।
सुयोधनो हि मां दृष्ट्वा नैव कार्यं करिष्यति।
--दूतवाक्य--१।१६

धृष्ट नायक के भी अंगों में विकास (अन्य नायिका के प्रति किये गये प्रेम के चिह्न) स्पष्ट प्रकट होते हैं।[1]

श्रीकृष्ण का अलौकिक चरित होने एवं प्रख्यात नायक होने के कारण नाटकों में इस रूप का प्रदर्शन नहीं किया गया है। इस प्रकार का नायक होने का अधिकारी प्राकृत जन ही होता है,जो रूपादि में ही अपने को व्यस्त रखता है।

अनुकूल नायक वह होता है जिसकी एक ही नायिका होती है।[2] रुक्मिणी-परिणय नाटक में श्रीकृष्ण का यही स्वरूप प्रदर्शित होता है। पर श्रीकृष्ण को अनुकूल नायक न मानकर राम को ही अनुकूल नायक माना जाना चाहिए क्योंकि वह आदि से अन्त तक एकपत्नीव्रत रहे। परन्तु श्रीकृष्ण के स्वरूप में तो यह बात परिलक्षित नहीं होती। इसका एकमात्र कारण अनेक गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का नित्य सम्बन्ध है। श्रीकृष्ण को दक्षिण नायक मानना ही न्यायसंगत है।

"रुक्मिणी परिणय" नाटक में किसी अन्य नायिका के साथ श्रीकृष्ण का प्रेम प्रदर्शित नहीं किया गया है,अतएव इस स्थान पर तो श्रीकृष्ण को अनुकूल नायक माना जा सकता है। "ललितमाधव" नाटक में जब श्रीकृष्ण का अनुराग चन्द्रावली के अतिरिक्त दूसरी नायिका सत्यभामा पर होता है वहां वह दक्षिण नायक बन जाते हैं। ज्येष्ठ नायिका के प्रति सहृदय बने रहने के कारण श्रीकृष्ण को शठ एवं धृष्ट में भी समाविष्ट नहीं किया जा सकता है,वह दक्षिण नायक ही बने रहते हैं।

इस विवेचन के अनन्तर नायक के सात्त्विक गुणों का भी विवेचन करना प्रसंगोचित होगा।

------नायक के आठ विशिष्ट सात्त्विक गुणों का भी निरूपण नाट्यशास्त्रियों ने किया है --शोभा,विलास,माधुर्य,गाम्भीर्य,स्थैर्य,तेजस,ललित और औदार्य।[3]

----

१. व्यक्तांगवैकृतो धृष्टो।--दशरूपक,पृ० १२४

२. अनुकूलस्त्वेकनायिकः।-- दशरूपक,पृ० १२५

३. शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं स्थैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः पौरुषा गुणाः।
--दशरूपक--२।१०

नाट्यशास्त्र,[1] साहित्यदर्पण[2],नाट्यदर्पण[3] में भी प्राय: ये ही आठ गुण कहे गये हैं। साहित्यदर्पण में स्थैर्य के स्थान पर धैर्य है।" सात्त्विक" का अर्थ होता है-- सत्व से उत्पन्न होने वाले। रजोगुण एवं तमोगुण से रहित मन को सत्व कहलाता है।

शोभा वह है जिसमें नीच के प्रति घृणा,अपने से अधिक के प्रति स्पर्धा तथा शूरता और दक्षता होती है।[4]

"प्रद्युम्नाभ्युदय" नाटक में जब वज्रनाभ प्रद्युम्न की सेना से मुठभेड़ करने के लिए अपनी सेना को आदेश दे देता है,उसी समय प्रद्युम्न उसे यथार्थ खड्ग हाथ में लेकर अपनी वीरता प्रदर्शित करने के लिए सेना में कूद पड़ते हैं। सारी सेना को मार काट कर तितर बितर कर दिया जाता है।

इस समय वज्रनाभ अपने कौशल का प्रदर्शन युद्धस्थल पर करता है। उस समय उससे स्पर्धा करके कृष्ण शेषनाग को सारथि बना कर मनोरथगामी रथ प्रद्युम्न के लिए प्रस्तुत कर देते हैं।

वज्रनाभ द्वारा चलाये गये तामसास्त्र,वारुणास्त्र,पन्नगास्त्र का प्रतिकार प्रद्युम्न पावकास्त्र,वायव्यास्त्र,गरुडास्त्र से स्पर्धा के तौर पर ही करते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा द्वारा दी गयी गदा का प्रयोग वज्रनाभ द्वारा किये जाने पर प्रद्युम्न भी सुदर्शनचक्र का स्मरण करके उससे वज्रनाभ को धराशायी कर देते हैं।[5]

यहां पर प्रद्युम्न की दुष्ट वज्रनाभ के प्रति घृणा और साथ ही साथ उसके युद्ध कौशल के प्रति स्पर्धा जागृत होती है। इन सब का प्रतिकार प्रद्युम्न वीरता से करते हैं। यहां नायक प्रद्युम्न में यही शोभा गुण परिलक्षित होता है।

अधिक गुणों के प्रति स्पर्धा" रुक्मिणीहरण" में भी है जब कृष्ण रुक्मिणी का हरण करके द्वारका चल देते हैं तो सात्यकि और बलराम युद्धार्थ रह जाते हैं। रुक्मी कृष्ण को पीछे से ललकारता है। उत्तर में कृष्ण लौट आते हैं। घोर संग्राम होता है।

---

१. नाट्यशास्त्र--२२।२३

२. साहित्यदर्पण--३।५९

३. नाट्यदर्पण--४।२४०

४. नीचे घृणाधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते।--दशरूपक,पृ० १२६

५. प्रद्युम्नाभ्युदय, पंचम अङ्क, पृ० ५१-५२ ॥

शिशुपाल की माया का विस्तार देख कर भगवान् गरुडारूढ़ होकर आकाश में युद्ध करते हैं। रुक्मी और शिशुपाल दोनों को ही जीवित पकड़ लेते हैं।

यहाँ पर शिशुपाल की माया को देख कर प्रतिस्पर्धा से कृष्ण भी गरुड का आवाहन कर आकाश में युद्ध करते हैं।

"बालचरित" में दक्ष शोभा का दर्शन दामोदर में दिखायी देता है। जब दामोदर कंस की यज्ञशाला में धनुर्महोत्सव देने के लिए प्रवेश करते हैं, तब चाणूरादि और कंस का वध होता है।

इस समय की दामोदर की दक्ष शोभा दर्शनीय है--

आपीडदामशिखिबर्हविचित्रवेषः पीताम्बरः सजलतोयदराशिवर्णः।
अभ्येति रोषपरिवृत्तविशालनेत्रो रामेण सार्धमिह मृत्युरिवावतीर्णः
मर्त्येषु जन्म विफलं मम तानि धीर्ये कर्माणि नाथ नगरे धृतये न तावत्
यावन्न कंसहतकं युधि पातयित्वा जन्मान्तराद्दुरमहं परिकर्षयामि।"

--बालचरित, पंचम अंक, श्लोक ६।

यहाँ पर श्री दामोदर पीताम्बरधारी, मयूरपिच्छधारी, विचित्र वेष से युक्त, नवजलधर के समान वर्णवाले, रोष से युक्त विशाल नेत्रों वाले बलराम के साथ मृत्यु के समान ही अवतीर्ण हैं। इसके पश्चात् कंस को मारने का निश्चय करते हैं।

"विलास में धैर्ययुक्तगति तथा धैर्ययुक्त ही दृष्टि होती है और वचन मुस्कराहट के साथ[१]।"

नाट्यशास्त्र[२], साहित्यदर्पण[३] में "धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः" यह लक्षण है तथा नाट्यदर्पण[४] में "विलासो वृषवद् यानं धीरा दृक् सस्मितं वचः"। नायक के विलासगुण का उदाहरण "प्रद्युम्नाभ्युदय" नाटक में उस स्थान पर है जब नारद कृष्ण से प्रद्युम्न द्वारा वज्रनाभ से किये गये युद्ध के बारे में पूछते हैं। नारद उसी प्रकार सुनने का अभिनय करके कहते हैं-- रोषावेशयुक्त कलि को वश में करने वाला

---

१. गतिःसधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः।--दशरूपक, २।११
२. नाट्यशास्त्र--२२।३५
३. साहित्यदर्पण--३।५२--धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः।
४. नाट्यदर्पण--४।२४२--"विलासो वृषवद् यानं धीरा दृक् सस्मितं वचः।

वज्रणाभ अपनी आत्मप्रशंसा करता हुआ प्रद्युम्न से कहता है कि अरे अनात्मज्ञ तुम वज्रणाभ को नहीं जानते हो ?

यह सुन कर कृष्ण आश्चर्य से कहते हैं कि मरणासन्न दानव वज्रणाभ किस प्रकार अपनी प्रशंसा करता है ।

नारद प्रद्युम्न के कथन का श्रवण अभिनय करते हुए कहते हैं कि कुमार प्रद्युम्न वज्रणाभ की आत्मप्रशंसा सुन कर किंचित् मुस्करा कर वज्रणाभ से कहते हैं कि तुमको देख कर आनन्दपूर्ण[1] अश्रुओं से युक्त, विस्मित, वृत्रासुर के शत्रु अर्थात् कृष्ण के नेत्र तृप्ति को प्राप्त करेंगे । यहां पर प्रद्युम्न द्वारा कहा गया कथन विलास गुण से ही अभिहित किया जायेगा ।

माधुर्य वह है जहां पर महान् संक्षोभ उपस्थित होने पर भी मृदु विकास उत्पन्न हो ।[2]

नाट्यशास्त्र,[3] साहित्यदर्पण[4] में भी इसी प्रकार का लक्षण दिया गया है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यदर्पण[5] में यह और स्पष्ट हो गया है ।

रोमांच आदि से भी जहां पर हल्की-सी विकृति का प्रकाशन होता है, वहां माधुर्य गुण कहलाता है ।

रुक्मिणी परिणय नाटक में जब रुक्मिणी शिशुपाल आदि को युद्ध के लिए तत्पर देखती है तो दुःखी होती है । वह कहती भी है कि आर्यपुत्र । आपके चले जाने पर मेरी क्या गति होगी । इस महान् विकार का हेतु होने पर वासुभद्र में मृदु विकार उत्पन्न होता है और वह कहते हैं-- " मेरे चले जाने पर भी कौन तुम्हें[6] मन से भी ध्यान कर सकता है ।" ऐसा कह कर रोषपूर्ण दृष्टि धनुष पर डालते हैं ।

---

१. अयि भो दानवापसद । किमिह विकत्थनया । " सप्तार्चिःकणिकोत्किरैर्मम शरैःपृष्ठेभुवः पातितं दंष्ट्राकोटिविशंकटास्यकुहरस्फाराेच्छलच्छोणितम् । त्वामेवैव विलोक्य विस्मित भीरानन्दजैरश्रुभि । श्चिरमा वृत्ररिपोर्दृशां वसती वृक्षैव तृप्तिं परामेष्यति ।

--प्रद्युम्नाभ्युदय नाटक --रविवर्माविरचित--५।२२

२. श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं संक्षोभे सुमहत्यपि ।--दशरूपक,पृ० १३१

३. नाट्यशास्त्र--२२।३६

४. साहित्यदर्पण--३।५२

५. नाट्यदर्पण--४।२४३

६. रुक्मिणी परिणय--पंचम अंक,पृ० ४५ ।

गाम्भीर्य-- `जिस गुण के प्रभाव से विकार नहीं दिखायी पड़ता, वह गाम्भीर्य कहलाता है।[1]

इसी गाम्भीर्य गुण के कारण धीरोदात्त नायक कृष्ण में भी विकार परिलक्षित नहीं होता। `कंसवध` नाटक में श्रीकृष्ण में यह गुण परिलक्षित होता है, जब श्रीकृष्ण बलराम को अक्रूर कंसाज्ञा से धनुर्यज्ञ महोत्सव दिखलाने के लिए मथुरा ले जाते हैं। नन्द, यशोदा गोपालों आदि के दुखी होने पर कृष्ण में कोई विकार परिलक्षित नहीं होता। कृष्ण और बलराम दोनों ही कंस की आज्ञा सहर्ष स्वीकार करते हैं।

यशोदा भी अमंगल के भय से कृष्ण बलराम के मथुराप्रयाण के समय नन्द को मूर्च्छित हुआ देख कर उन्हें आश्वासन देती हैं और अपने विकारों को प्रदर्शित नहीं करती हैं।

अनेक विघ्नों से भी अपने निश्चय से विचलित न होना स्थैर्य है।[2]

श्रीकृष्ण के धीरोदात्त नायक होने के कारण यह गुण भी प्रचुर मात्रा में मिलता है। साथ ही साथ अन्य नायकों में यह गुण अधिकांश ही पाया जाता है।

`रुक्मिणीहरण ईहामृग` में श्रीकृष्ण को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है परन्तु वह इन सब परेशानियों के होने पर भी अपनी धैर्य गुण को नहीं छोड़ते हैं।

रुक्मी, शिशुपाल द्वारा माया युद्ध करने पर भी श्रीकृष्ण विचलित नहीं होते। गरुड़ का स्मरण कर ही लेते हैं। इसी प्रकार `सुभद्रा धनंजय` नाटक में भी अर्जुन, अन्धक, वृष्णि आदि यादवगणों द्वारा विघ्न पहुंचाये जाने पर भी इसी स्थैर्य गुण के द्वारा विघ्नों से भयभीत नहीं होते हैं।

` प्राणों का संकट उपस्थित होने पर भी अपमान आदि को न सहना तेज कहलाता है।[3] यह नायक का छठवाँ गुण है।

---

१. गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते।
--दशरूपक २।१२

२. व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि।
--वही, पृ० १३२

३. अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि।
--वही--२।१३

'दूतवाक्य' एकांकी में जब दुर्योधन अपनी सभा में दूत रूप में आये केशव का अपमान करने के अभिप्राय से सभासदों को भी उनके आदर में खड़े होने के लिए मना कर देता है और केशव जब पाण्डवों के लिए आधा राज्य की याचना करते हैं तो कपटी दुर्योधन,बहुत खरी-खटी सुना कर सुई की नोक के बराबर भी जमीन बिना युद्ध के न देने की घोषणा कर देता है। कृष्ण उद्दीप्त और क्षुब्ध हो जाते हैं । दुर्योधन उन्हें बन्दी बनाने के लिए सामन्तगणों को आदेश देता है[१]।

जब दुर्योधन स्वयं ही पाश से बांधने की आकांक्षा करता है तभी श्रीकृष्ण विश्वरूप से स्थित हो जाते हैं । अपमान को न सह सकने में समर्थ श्रीकृष्ण अपने आयुधों का आवाहन करते हैं जिससे दुर्योधन भी विस्मित हो जाता है ।

नायक का सातवां गुण ललित आता है । "शृंगार के अनुरूप स्वाभाविक और मृदु चेष्टा करना ही ललित कहलाता है[२]।"

नाट्यशास्त्र[३],नाट्यदर्पण[४],साहित्यदर्पण[५] में भी इसी प्रकार का लक्षण है ।

रुक्मिणी परिणय नाटक में रुक्मिणी नवमालिका से कहती है--" वासुदेव मुझे दुःसह संताप से बाधित कर रहा है । तब नवमालिका वासुभद्र के हार को धारण करने के लिए ही कहती है जो उसने कपंजलि नाटक विदूषक से लिया था , नवमालिका की आज्ञा से ही रुक्मिणी कामावस्था में ही वासुभद्र के चित्र का आलेखन करती है और कहती है--अपनी सुन्दरता से कामदेव को भी भर्त्सित करने वाले उस जन के आलेखन करने में चतुरानन भी चतुर नहीं हैं[६]।

श्रीकृष्ण का सौन्दर्य ही रुक्मिणी में प्रेम को उद्दीप्त करके हृदय में विषम सन्ताप उत्पन्न करता है ।

---

१. करितुरगनिहन्ता कंसहंता स कृष्णः पशुपकुलनिवासनुणो ध्यानभिज्ञः ।
   हुतभुजबलवीर्यः पार्थिवानां समक्षं स्ववचनकृतदोषो बध्यतामेष शीघ्रम् ।।
   --दशरूपक १।३६

२. शृंगाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु ।--दशरूपक पृ० १३३

३. नाट्यशास्त्र,२२।४९

४. नाट्यदर्पण--४।२९८

५. ~~नाट्यदर्पण--४।~~ साहित्यदर्पण ३।५५

६. रुक्मिणी परिणय--पृ० ३०--" हला,निजचारुत्वनिर्भर्त्सितमकरध्वजस्य तस्य जनस्य कपोल्लेखने चतुराननो पि न चतुरः ।

नायक का अन्तिम सात्विक गुण औदार्य ही शेष बच जाता है । "प्रिय वचन के साथ जीवनपर्यन्त दान देना तथा सज्जनों की आराधना (उपग्रह = सन्तुष्ट करना, अपने अनुकूल बनाना अनुरंजन) औदार्य कहलाता है[1] ।

"कृष्णचन्द्राभ्युदयम्" नाटक में श्रीकृष्ण का यह स्वरूप भी प्रदर्शित होता है । श्रीकृष्ण मैत्रीमाहात्म्य के कारण सुदामा को सालोक्यादि मुक्तिद्वय का दान कर देते हैं । कैवल्य के प्रतिपादक शब्द हैं, यह श्रीकृष्ण सुदामा से कह देते हैं ।

श्रीकृष्ण द्वारा बिल्वपत्र एवं सहस्र कमल से शिव का पूजन करते समय जब शम्बर हंस रूप में आकर एक कमल को हर ले जाता है तब श्रीकृष्ण एक नेत्रकमल निकाल कर देते हैं । इस भक्तिभाव और औदार्य गुण को देख कर ही शिव प्रकट होकर आशीर्वाद देते हैं[2] ।

यद्यपि नायक व्याख्यान के अनन्तर कृष्णचरिताश्रित नायिकाओं का व्याख्यान होना चाहिए परन्तु पुरुषपात्रीय होने के कारण कुछ अन्य नायकेतर पात्रों पर भी यहीं प्रकाश डालना उचित होगा ।

(ख) <u>नायकेतर पुरुषपात्र विवेचन</u>-- नायक के प्रणय व्यापार में सहायकों का वर्गीकरण भी संयुक्त किया गया है । "अग्निपुराण" के लेखक एवं रुद्रट आदि ने इन सहायकों को नर्मसचिव का नाम दिया है और उनका पीठमर्द, विट और विदूषक में ही वर्गीकरण किया है[3] ।

दशरूपककार ने तो नर्मसचिव को केवल नायक के सहायक के रूप में वर्णित किया है और उनकी संख्या और वर्ग का नाम भी परिवर्तित नहीं किया है । पीठमर्द की जो परिभाषा धनंजय ने दी है उसमें कुछ परिवर्तन किया गया है जो पताका आख्यान का नायक होता है और बहुत समय तक इच्छा रखने वाला साथी नहीं रहता[4] ।

---

१. प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः ।--दशरूपक २।१४

२. नयनकमलमेतदुज्ज्वलं मे सपदि निधाय महेशपादपद्मे ।
   परशिवपरिपूजनं तु पूर्णं हृदय विधाय कृतार्थतां भजस्व ।।--श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदयम् ४।८६

३. स्टडीज इन नायकनायिका भेद--डा० राकेश गुप्त, पृ० ४५ ।

४. वही, पृ० ४७ ।

(प्रधान नायक) से दूसरा पताका नायक होता है जो पीठमर्द कहलाता है। यह चतुर होता है। उस प्रधान का अनुचर तथा भक्त होता है और उसके गुणों से कुछ न्यून गुण वाला होता है। यही पीठमर्द की परिभाषा दशरूपक में दी गयी है।[1]

शारदातनय ने अपने " भावप्रकाशन " में कहा है कि इतिवृत्त का नायक ही उपनायक होता है और पीठमर्द शृंगारनायक का सहायक रहता है। उसे यह ज्ञान रहता है कि किस प्रकार से क्रोधित नायिका को प्रसन्न किया जाये।[2]

यहां पर उपनायक से ~~सम्बन्ध~~ तात्पर्य नायक के कुछ समतुल्य गुणों के अधिकारी होने वाले और नायक की कोटि में ही अधीप्सित होने वाले पात्र से ही है।

साहित्यदर्पणकार ने नायकों के उत्तम,मध्यम और अधम इन रूपों से वर्णित करते समय पीठमर्द को उच्च स्थान दिया है। दो को मध्यम कोटि में एवं अधम को किसी में भी निश्चित नहीं किया है।[3]

नर्मसचिव नाम हम देख ही चुके हैं कि यह नायक के प्रेम के सम्बन्ध में नायक के समस्त सहायकों एवं उनके तीन या चार प्रकार को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है।[4]

"विदग्ध माधव" नाटक में सुबल ही श्रीकृष्ण का नर्मसचिव है जिसका दर्शन चतुर्थ अंक में ही सर्वप्रथम होता है। यह कृष्ण की चन्द्रावली केलिक्रीडाप्रसंग में सहायता करता है और श्रीकृष्ण का मनोविनोद करने का भी उद्देश्य रखता है। राधा के प्रेम से त्रस्त कृष्ण के मनोरंजन के लिए यह राधा का भी वेष धारण करता है। इस प्रकार से यह श्रीकृष्ण का नर्मसचिव होने का अधिकारी है। मधुमंगल भी श्रीकृष्ण के मित्रों में सुबल ही की तरह है और विदूषक कहलाने का अधिकारी है। इसका विस्तार से वर्णन आगामी अनुच्छेदों में विदूषक की विशेषताओं को स्पष्ट करते समय किया गया है।

---

१. पताकानायकस्त्वन्य: पीठमर्दो विचक्षण विचक्षण: ।
   तस्यैवानुचरो भक्त: किंचिदूनश्च तद्गुणै: ।।

२. भावप्रकाशन,पृ० ६४

३. साहित्यदर्पण,पृ० ६७

४. स्टडीज़ इन नायकनायिका भेद,पृ० ५८ ।

नर्मसचिव युक्त नायक कृष्ण के प्रमुख सहायकों में से ही है जो कि नर्मसखा कहलाता है। उसके पश्चात् अन्य मुख्य सहायकों पर भी दृष्टिपात करना चाहिए।

पीठमर्द का स्वरूप तो पहले ही बतलाया जा चुका है परन्तु इन सबको नर्म सचिव के अन्तर्गत रखने से पहले नर्मसचिव का स्वरूप भी प्रदर्शित कर दिया गया है। इसके पश्चात् ही पीठमर्द होने वाले अधिकारी के विषय में कहा जा रहा है।

"कंसवध" नाटक में बलराम के चरित को "पीठमर्द" के अन्तर्गत रखा जा सकता है। बलराम कंसवध एवं अन्य आततायियोंका वध करने के लिए श्रीकृष्ण को प्रेरित करते हैं, तभी श्रीकृष्ण कंस को मारने के लिए उद्यत होते हैं। इस प्रकार से बलराम श्रीकृष्ण की फलप्राप्ति में उपकरणमात्र होने के कारण पीठमर्द होने के अधिकारी हैं एवं उसके गुणों से भी युक्त हैं।

पीठमर्द के अतिरिक्त विट और विदूषक भी नायक के सहायक हैं। दूसरा (नायक का उपयोगी) किसी एक विद्या को जानने वाला विट और हास्य उत्पन्न करने वाला विदूषक होता है[1]।

नाट्यशास्त्र में तो विट का लक्षण और अधिक स्पष्ट मिलता है[2]।

साहित्यदर्पण में भी नाट्यशास्त्र का अनुसरण करते हुए विट का विशद लक्षण दिया है। तदनुसार "जो भोगों में अपनी सम्पत्ति नष्ट कर चुका है, धूर्त है, कुछ कलाओं को जानता है, वेशोपचार में कुशल है, वाक्कुशल, मधुर तथा गोष्ठी में सम्मिलित होनेवाला है, वह विट है[3]।

वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा प्रकाशित एक सूचना के अनुसार पटना के निकट कुम्हरार से विट की मिट्टी की मूर्ति मिली है, इससे विट के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है।

कृष्णकथाश्रित नाटकों में नायक का सहायक विट नहीं दिखलायी पड़ता है। श्रीकृष्ण जब लौकोत्तर चरित धारण करते हैं तो उनके सखा भी कैसे धूर्त की तरह आचरण कर सकते हैं। "मुकुन्दानन्द भाण" में जहाँ कृष्ण नायक हैं वहाँ कृष्ण के चरित्र पर

---

१. एकविद्यो विटश्चान्यो, हास्यकृच्च विदूषकः। --दशरूपक २।१३

२. वेश्योपचारकुशलः मधुरो दक्षिणः कविः।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत्॥ --नाट्यशास्त्र, ३५।५५

३. संभोगहीनसम्पद् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरः अथ बहुमतो गोष्ठ्यां। - "साहित्यदर्पण"- ३।४१

विटत्व का आरोप किया गया है। फलत: विट की सम्पूर्ण विशेषतायें कृष्ण के चरित्र में देखने को मिलती हैं। मुकुन्द सामान्य स्त्रियों के सम्बन्ध में निम्नकोटि की बातें कहता है।[1]

<u>विदूषक</u> -- विदूषक के उद्गम के सम्बन्ध में विप्रतिपत्तियाँ हैं। विदूषक नायक का सहचर होता है और प्रेमप्रकरण में नायक की प्राणप्रण से सहायता करता है। खिन्नावस्था से ग्रस्त नायक के विनोद के लिए ही नाटकों में विदूषक की योजना की जाती है।

विदूषक को अगर नायक के प्रेमप्रकरण में बनने वाला दूत कहा जाय तो यह उचित नहीं प्रतीत होता। नायक उसके साथ मित्रवद् व्यवहार करता है और अपनी आन्तरिक व्यथा का भी उद्घाटन उसके समक्ष कर देता है। नायक का विश्वासपात्र होने के कारण विदूषक की अपनी मित्रता को गाढ़ रूप प्रदान करने के लिए अनवरत प्रयास करता है। वह मित्रता के सही अर्थ को भी ज्ञात करा देता है।

विदूषक के स्वरूप का वर्णन करते हुए भरतमुनि ने कहा है कि विदूषक द्विज होता है, छोटे कद का होता है, लंगड़ा और गंजा होता है, उसकी आँखें लाल और चेहरा विकृत होता है। थोड़े में कहना चाहें तो विदूषक कुरूप और विकृत दिखायी देता है।[2]

विदूषक का विकृतत्व जो हास्योत्पादन का महत्वपूर्ण अंग है उसका कारण अन्वेषण करने पर यह तथ्य निर्गृहीत होता है कि विदूषक प्राचीन, प्राथमिक देवासुर नाटकों में से असुरों का परम्परागत रूप है। विदूषक का विकृतत्व असुरों के स्वांग से आया है। इसी प्राचीन परम्परा के कारण विदूषक का बारीकी से वर्णन करना नाट्यशास्त्र के लिए आवश्यक था।[3]

विदूषक प्राकृत नाटकों से अनूदित संस्कृत नाटकों में उसी प्रकार से दृष्टिगत होता है जैसा कि प्राकृत में है। इसके मूल में कोई भेद प्रदर्शित नहीं किया गया है। इस विदूषक पात्र का ब्राह्मण नाटककारों ने प्राकृत[4] नाटक के तुल्य संस्कृत का आवरण चढ़ाने की तरह कोई और रूप क्यों नहीं दिया? इसका कारण अन्वेषण करने पर प्रबल प्रमाणों का आश्रय ग्रहीत करना आवश्यक है।

---

१. (अनादरमिव) " कूर्पासगूढकुचपंकजकुड्मलानां
   को नाम श्लाघति रतिं भुवि गुर्विणीणाम।
   अज्ञातचोलकुचपद्मचोलनारी--
   पीनस्तनस्तम्बकमण्डलदन्तहस्त: ।।--मुकुन्दानन्द भाण, ७९

२. नाट्यशास्त्र, काव्यमाला २४।१०६। ३. विदूषक--डा० गोविन्दकेशवभट्ट, पृ०२७

४. संस्कृतड्रामा--ए०बी० कीथ, पृ० ६६।

कोनवे का कहना है कि विदूषक का मूल लोकनाट्य में है। श्यूलर ने इस मत को पुष्ट भी किया है। श्यूलर का कहना है कि विदूषक की निर्मिति अगर ब्राह्मण लेखकों ने की तो वह देववाणी संस्कृत भाषा का ही प्रयोग विदूषक के मुंह से करवाते। उससमय प्राकृत लोकनाट्य प्रचलित हो रहा था,अतएव प्राकृत का ही कथन कराया गया। श्यूलर के मतानुसार ~~ब्राह्मण-कवियों-द्वारा-निर्मित~~ विदूषक की उत्पत्ति प्राकृत लोकनाट्य से हुई और वह ब्राह्मण कवियों द्वारा निर्मित नहीं है।[1]

विदूषक द्वारा गालीगलौच का वर्णन भी नाटकों में मिलता है। प्राकृत भाषा का प्रयोग करने के कारण विदूषक का स्वाभाविक गुण प्रस्फुटित हुवा है। देववाणी संस्कृत में तो ब्राह्मण द्वारा गालीगलौच करना असंभव है। विदूषक को प्राय: प्रचलित नाटकों में ब्राह्मण तो दिखाया ही गया है,अतएव उसके द्वारा प्राकृत भाषा का प्रयोग नाटकों में किया जाना समुचित प्रतीत होता है।[2] नाट्यकला को जो जब राज्याश्रय मिला तब उस समय राजा ही नायक होता था। उसके समीप पन्द्रहवीं शताब्दी में नट,विट या विदूषक राजा से लेकर मूर्खों तक का उपहास करते थे।[3]

विदूषक ने ब्राह्मण जाति का भी उपहास किया है जो कि श्रेष्ठ वर्ग के अंतर्गत ही आती थी। मूर्खों का उपहास करना कोई विशेष बात नहीं है अतएव उच्चवर्ग के प्रति उपहास करने का प्रयास विदूषक ने किया है। जब वह सबका ही उपहास करता है तब वह खुद ब्राह्मण होकर अपना भी उपहास कर लेता है।

भरत का ऐसा विधान है कि शृंगार रस से हास्य का निर्माण होता है,अर्थात् शृंगार रस के तत्त्व के साथ हास्य सम्बन्धित है।[4] शृंगारप्रधान नाटकों में तो नायक के सहचर के रूप में नायक का विनोद करने के लिए विदूषक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

अग्निपुराण में भी पीठमर्द और विट के साथ विदूषक को नायक का सहचर कहा है और उसे शृंगार रस के दर्शन में " नर्मसचिव" की संज्ञा दी गयी है।[5]

---

१. जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी--एम०श्यूलर,क्रमांक २०,पृ० ३३८-३९।

२. संस्कृत ड्रामा--ए०बी० कीथ,पृ० ३९-४०,७२।

३. विदूषक--डा० गोविन्दकेशव भट्ट-अनु० डा० चन्दूलाल दुबे,पृ० ३२।

४. शृंगाराद्धि भवेद् हास्यो...।
शृंगारानुकृतियाँ तु स हास्यस्तु प्रकीर्तित:।--नाट्यशास्त्र,गायकवाड़ ६।४४-४५--काव्यमाला,काशी-६।३९-४०।

५. अग्निपुराण--अध्याय ३३९,श्लोक ३९-४० (आनन्दाश्रम,पूना (१९००)।

शारदातनय ने भी विदूषक को "नर्मसचिव" ही कहा है जिससे उसके स्वभाव के बारे में पता चल ही जाता है ।

रामचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पण में कहा है कि शृंगार प्रकरण में प्रेम के झगड़े निर्माण करने का और उन्हें मिटाने का तथा विरहावस्था में नायक के दुःख को विनोद के आश्रय से कम करने का कार्य विदूषक करता है[१] ।

विदूषक की व्युत्पत्ति "विशेषेण दूषयन्ति... इति विदूषका:" जो कीथ ने दी है उसका निवारण करके "दूषयन्ति" पद का "विनाशयन्ति" और "विस्मारयन्ति" ऐसा अनुवाद रामचन्द्र ने किया है ।

इसी प्रकार का विदूषक नाटकों में परिलक्षित होता है क्योंकि नाटकों में विदूषक केवल कलह के अंकुर को उत्पन्न करने वाला ही नहीं दिखायी पड़ता वरन् उसको समाप्त करने के प्रयत्न से युक्त दिखायी पड़ता है ।

रुद्रभट ने काव्यप्रबन्ध में विदूषक के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है--विनोद और क्रीडा में सहायक तीन नर्मसचिव नायक के पास होते हैं--पीठमर्द,विट और विदूषक। अपने शरीर,वेष और भाषण के द्वारा वह हंसी का निर्माण करता है[२] । विश्वनाथ ने भी "साहित्यदर्पण" नामक ग्रन्थ में शृंगारप्रकरण में नायक के सहायक के रूप में विट,चेट विदूषक आदि को बताया है । विश्वासी,चरित्र से शुद्ध,नर्म भाषण में प्रवीण और कुपित वधू को नर्म बनाने वाले होते हैं । ऐसे विदूषकों का नाम कुसुम, वसन्त जैसा होता है । वह अपनी वृत्ति,शरीर,वेष और भाषण के योग से हास्य निर्माण करने वाला और झगड़ों को बाटने वाला और अपने काम में होशियार होता है[३] ।

शिंगभूपाल ने कहा है कि वसन्तक,कापिलेय नामों से विदूषक का सम्बोधन हो[४] ।

रत्नावली नाटिका में तो श्रीहर्ष ने विदूषक का नाम वसन्तक ही रखा है । विदूषक के नाम में वसन्त ऋतु से कुछ न कुछ सम्बन्ध रहता है । विदग्धमाधव और ललितमाधव में मधुमंगल विदूषक आया है उसका नाम भी वसन्त ऋतु पर ही है ।

---

१. एषां वियोगिनां विप्रलम्भशृंगारवतायौचित्यानतिक्रमेण लिंग्यादयो यथासंभवं सन्धिं विग्रहेण विग्रहं सन्धिना च विशेषेण दूषयन्ति विनाशयन्ति विप्रलम्भं तु विनोदवानेन विस्मारयन्तीति विदूषका: ।--नाट्यदर्पण--४।१६८(गायकवाड)पृ० १९९ ।
२. शृंगारतिलक--रुद्रभट्ट--१।२६-३१
३. साहित्यदर्पण--३।४०-४२
४. वसन्तक: कापिलेयो इत्याख्येयो विदूषक:-- रसार्णव सुधाकर (त्रिवेन्द्रम)पृ० ३०२ ।

भरत ने चार प्रकार के विदूषक बताये हैं परन्तु एक भी विदूषक संस्कृत साहित्य में भरत द्वारा वर्णित नहीं मिलता । नारद को भरत द्वारा वर्णित देवता का सहचर प्रथम विदूषक मान सकते हैं क्योंकि वह भी कलहप्रिय और अपने स्वरूप से भी हास्य की योजना करते हैं[1]।

भरत ने तो शारीरिक विकृति के साथ ही साथ विदूषक को हाजिर जवाब भी बताया है[2]। इस गुण के कारण परिहास के लिए होने वाली प्रत्युत्पन्ना मति का भी पता चलता है । विदूषक जितने स्वाभाविक ढंग से भिन्न वातावरण में अपनी बातों से या हास्यकारक वेषभूषा से वातावरण में प्रसन्नता की सृष्टि कर देता है,यह उसका एक विशेष गुण भी है ।

रंगमंच पर प्रवेश करते ही विदूषक के हाव भाव से जो हास्यनिर्मित होता है उसे भरत ने तीन प्रकार का बताया है -- अंगकृत,काव्यकृत और नैपथ्यज । अंगकृत हास्य तो तब होता है जब वह शारीरिक विकृति धारण करके प्रवेश करता है उस समय हास्य की योजना होती है । "काव्यहास्य" तो विदूषक के भाषण से ही उत्पन्न होता है । जब विदूषक पेड़ की छाल,भस्म के पट्टे या गेरू लगाकर आता है तब ऐसे विचित्र वेश और रंगभूषा से निर्मित हास्य को "नैपथ्यज" के अन्तर्गत रखा जाता है[3]। "रुक्मिणी परिणय" नाटक में विदूषक कपिंजल नाम से आया है । "कपिंजल" नाम से ही भूरे रंग की परि-कल्पना हो जाती है कि वह कुरूप होगा । रंगमंच पर प्रवेश करते ही उसके आंगिक स्वरूप को देख कर ही प्रेक्षकों में हास्य की उत्पत्ति होती है ।

विदूषक में पांच गुण जन्म से ही विद्यमान होते हैं,ब्राह्मण,मिष्ठान्न प्रेमी, नर्मकुशल,प्रारब्धवादी और अवसरज्ञ । संस्कृत नाटकों में उसके यह गुण दृष्टिगत हो जाते हैं ।

अपने ब्राह्मणत्व का कथन तो विदूषक अधिकांश नाटकों में कर ही देता है । "रुक्मिणी परिणय" नाटक में कपिंजल नाम का विदूषक अपने ब्राह्मणत्व का कथन कृष्ण से उस समय करता है जबकि रुक्मिणी नवमालिका सहित लतागृह में प्रवेश करती है । यहां पर वह अपने को "महाब्राह्मण" कहता है । विदूषक को हंसी-मजाक में महा-ब्राह्मण भी कहा जाता है । उसका अर्थ विपरीत लक्षणा से "मूर्ख ब्राह्मण" ही लेना

---

१. विदूषक--डा० गोविन्द केशव भट्ट--अनु० डा० चन्दूलाल दुबे,पृ० ३६

२. प्रत्युत्पन्नप्रतिभो नर्मकृत्या नर्मगर्भनिर्भिद: ।
यस्तु विधूषितवक्त्रो विदूषको नाम विज्ञेय: ।--नाट्यशास्त्र,काशी,३५।७९

३. नाट्यशास्त्र,गायकवाड़ १२।१३७-१४२,काव्यमाला--१२।१२१-१२४,काशी,१३।१३५-१४०

चाहिए[1] । परन्तु इस स्थल पर विदूषक द्वारा "महाब्राह्मण" कहा जाना अपनी मूर्खता प्रदर्शित करना नहीं है ।

विदूषक कृष्ण से इस प्रकार कहता है--मित्र,मुझ ब्राह्मण के अनुग्रह से कलियाँ कुसुमित और फलीभूत होंगी"[2] । यहाँ पर उसके कहने का एकमात्र अभिप्राय यही लगता है कि वह अपने ब्राह्मण जाति में उत्पन्न गौरव का प्रदर्शन कर रहा है ।

इसी प्रकार "प्रद्युम्नाभ्युदय" नाटक में "रम्भाभिसरण" प्रेक्षणक में भी विदूषक अपने को ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुआ बताता है । वह कहता है--मित्र,ब्राह्मणी से वियुक्त मेरे लिए चाँदनी किस प्रकार से सुख कर होगी"[3] । यहाँ पर भी उसके कहने का अभिप्राय ही ब्राह्मणत्व का कथन करना है ।

विदूषक में मिष्टान्नप्रेमी का गुण भी अधिकांश दिखायी पड़ता है । ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने के कारण यह गुण होना स्वाभाविक ही है ।

"विदग्धमाधव" नाटक में जब श्रीकृष्ण मधुमंगल को बसन्त की सुषमा दिखाते हैं उस समय मिष्ठान्नप्रेमी बाला उसका रूप प्रत्यक्ष उपस्थित हो जाता है । वह कृष्ण से कहता है--" मुझे दुष्ट मधुकर के कारण भयंकर वृन्दावन से कोई प्रयोजन नहीं है । मैं तो चार प्रकार से निर्मित सभी प्रकार इन्द्रियों को आकृष्ट करने वाली गोकुलेश्वरी की रसवती (विशेष प्रकार के मिष्ठान्न) को देख कर ही मस्त हो जाता हूं[4] ।

यह विदूषक के पेटूपन स्वभाव को भी द्योतित करता है । इस प्रकार के और भी उदाहरण नाटकों में मिलते हैं । "रुक्मिणी परिणय" नाटक में जब नवमालिका कृष्ण से कहती है कि" हमारी राजकुमारी का जीवन संशय में स्थित आपके द्वारा रक्षणीय है, तब वासुभद्र कहते हैं कि इसमें संशय क्या ? इसके बाद विदूषक अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति को न त्याग पाने में असमर्थ होकर अपना अभीष्ट कथन कह ही देता है --मित्र,तुम तो पिंजरे में स्थित तोते के समान भूख को दबा कर बैठे हो । मुझ भूखे की जठराग्नि तो

---

१. विदूषक--डा० गोविन्द केशव भट्ट,अनु० डा० चन्दूलाल दुबे,पृ० १४६ ।

२. भो वयस्य,महाब्राह्मणस्य ममानुग्रहेण कोरकित: कुसुमित: फलितश्च भविष्यति ।
--रुक्मिणी परिणय (रविवर्माकृत)पृ० २० ।

३. वयस्य मम पुनर्ब्राह्मणीवियुक्तस्य कथं सुखाय भवति चन्द्रिका ।--प्रद्युम्नाभ्युदय,पृ०२७ ।

४. मधुमंगल--भो वयस्य,एतत्प्रदुष्टभृंगभयंकर्या किं मे कौतुकं तव वृन्दाटव्या । अहं खलु चतुर्विधैरन्नै: सर्वेन्द्रियहारिणी गोकुलेश्वर्या रसवतीमेव दृष्ट्वा रज्यामि ।
--विदग्धमाधव नाटक (रूपगोस्वामी) पृ० ३१ ।

अत्यधिक मात्रा में जलती है[1]।

यहाँ पर भी विदूषक को अन्य वार्तालाप से कोई मतलब नहीं है। उसे तो अपने दुख की ही चिन्ता है।

'वृषभानुजा' नाटिका में भी प्रियालाप विदूषक है जो कृष्ण का मनोविनोद करता है। राधा का कृष्ण के साथ मिलन कराने का भी यह अनवरत प्रयास करता है। इस नाटिका के भी द्वितीय अंक में जब राधिका मदनपूजा के लिए 'माधवीमण्डप' के समीप जाती है तो प्रियालाप कृष्ण से कहता है--' यहाँ उपहास करते हुए भी सखाओं, मदन होकर आप ही पूजावाली के प्रणयी हों। एक मेरी अभ्यर्थना है।' कृष्ण द्वारा पूछने पर विदूषक प्रियालाप कहता है--' गोवर्धन पूजावलि के समान सब नहीं खा जाओगे। मुझ भूखे को भी याद करोगे[2]।'

इस स्थल पर भी प्रियालाप के इस प्रकार के कथन का अभिप्राय अपनी जठरावृत्ति को ही शान्त करना था।

विदूषक प्रारब्धवादी भी दृष्टिगोचर होता है। 'सुभद्राधनंजय' नाटक में जब अर्जुन सुभद्रा को प्राप्त करने के लिए दुखी होता है तब विदूषक अपने प्रारब्धवादी दृष्टिकोण से ही अर्जुन को सान्त्वना प्रदान करता है। वह कहता है--' किसलिए तुम अपने को कष्ट दे रहे हो ? वासुदेव अपनी बहिन सुभद्रा को प्राप्त कराने के लिए स्वयं ही कहेंगे, क्योंकि वह तुम्हारे शौर्य से परिचित हैं[3]।'

इस स्थल पर भी विदूषक को प्रारब्धवादी होने के कारण भाग्य पर पूरा भरोसा है कि उसके मित्र को अवश्य ही पत्नी रूप फल की प्राप्ति होगी।

---

१. भो वयस्य, त्वं तावत्पंजरस्थः शुक इव कुरकुरायमाणस्तिष्ठसि। मम पुनर्बुभुक्षितस्य जठराग्निरतिमात्रं ज्वलति।

--रुक्मिणीपरिणय (रामवर्मा रचित) पृ० २४।

२. प्रियालाप--तत्र किलोपहसितमदनसखो भवान्पूजावलीप्रणयी भवतु। एका तु ममाभ्यर्थना। गोवर्धनपूजावलिमिव सर्वमेव भक्षयिष्यसि। बुभुक्षितः मामपि स्मरिष्यसि।

--वृषभानुजा नाटिका, पृ० १६।

३. भोः। कस्मादकारणं आत्मानमायासि, यद् वासुदेवेन सुभद्रा ददातीति स्वयमेव कथयसि। सापि सानुरागा त्वयीति जनास्येव। अप्रत्यक्षीकं च ते बाहुबलं प्रत्येषि। कः इदेष सम्मोहः।

--सुभद्रा धनंजय--पृ० १०१।

विदूषक अवसरज्ञ तो इतना है कि नायिका की प्राप्ति नायक को कराने के लिए अवसर हाथ से निकलने देना नहीं चाहता है । 'रुक्मिणी परिणय' नाटक में जब शिशुपाल के साथ रुक्मिणी का विवाहोत्सव सम्पन्न होने वाला ही है तभी विदूषक वासुभद्र से रुक्मिणी को मिलवाने का उपाय सोच कर उस अचूक अवसर को व्यर्थ नहीं जाने देना चाहता है । विदूषक वासुभद्र से कहता है-- मित्र इस समय कल्याणी देवी के गौरी विलास नाम के प्रासाद में जाकर उसके गर्भगृह में ही स्थित होना चाहिए । वहां नवमालिका राजपुत्री को लायी होगी[१] ।'

विदूषक की इतनी अवसरोचित बात को सुन कर ही वासुभद्र कात्यायनी मन्दिर के मार्ग का आदेश देने के लिए विदूषक से कहते हैं । विदूषक ही नायक के प्रेम को अत्यधिक उत्तेजित करके नायिका से विवाह के लिए प्रवृत्त करने का मौका सहज ही प्राप्त करके नायक वासुभद्र को कात्यायनी मंदिर के समीप ले जाता है । इसी प्रकार के प्रसंग अन्य नाटकों व नाटिकाओं में भी देखने को मिलते हैं ।

'वृषभानुजा' नाटिका में भी प्रियालाप इतना सजग है कि माधवीमण्डप के समीप मधुरालाप सुन कर राधिका का मदनपूजनार्थ आगमन का विचार कर लेता है । वह कृष्ण से भी लतावीथि के मार्ग से शीघ्र जाकर लतावृक्ष के नीचे छिपकर बैठने के लिए कहता है[२] ।

इस स्थल पर भी प्रियालाप इस अमूल्य अवसर का लाभ उठाकर ही नायक से नायिका मिलन करवाने की बात सोचता है ।

विदूषक कुपित नायिका के प्रसादन के लिए भी निरन्तर प्रयत्नशील दिखायी देता है । इस तरह के प्रसंग तो ज्यादातर ही नाटकों में देखने को मिलते हैं ।

'विदग्धमाधव' नाटक में जब कृष्ण सुबल से यह कहते हैं कि 'आज चन्द्रावली को प्रसन्न करने में तुम्हें मेरी सहायता करनी चाहिए'। तब सुबल चन्द्रावली को प्रसन्न करने के लिए कहता है--' चन्द्रावली के वियोग से संतप्त यह मित्र शीतल जलधारा के कण्ठ में देह को फेंककर (डुबोकर) प्यासे चकोर के समान चारों और इसी चन्द्रावली को देखता है[३] ।'

---

१. रुक्मिणी परिणय नाटक --चतुर्थ अंक,पृ० ३७ (श्रीरामवर्मा विरचित) ।

२. वृषभानुजा नाटिका (मथुरादासकृत),द्वितीय अंक,पृ० ११ ।

३. एष चन्द्रावलीविरहेण संतप्त: शीतलाया जलधारायाः कण्ठे (र्दा) देहं निक्षिप्य सतृष्णश्चकोर इवैतामेव चन्द्रावलीं सर्वत: पश्यति वयस्य ।--विदग्धमाधव-पृ० १५५ ।

परन्तु इसी बीच में कृष्ण चन्द्रावली को प्रसन्न करने के अभिप्राय से ही कहते हैं--" जंगल के बीच में मिलती हुई मधुररसवाली तथा शीतलस्पर्शवाली अमृतमयी राधा तुम्हारे विरह में मेरे सन्ताप को दूर करने के लिए उत्पन्न हुई है।"

कृष्ण गोत्रस्खलन के कारण " धारा " के स्थान पर राधा कह जाते हैं और सुबल के प्रयत्न से जो चन्द्रावली को प्रसन्न करने का प्रयास किया गया था, वह असफल हो गया। चन्द्रावली कुपित हो जाती है। तब मधुमंगल कुपित चन्द्रावली को प्रसन्न करने के अभिप्राय से अपने वाक् वैभव का आश्रय लेकर इस प्रकार की पद व्यावृत्ति करता है कि चन्द्रावली प्रसन्न हो जाती है।

मधुमंगल " मंगलभा राधिका " कृष्ण के इस वाक्यांश को " मंगलमाराधिका " ऐसा कह कर " कल्याणभार से बढ़ी हुई अर्थ करके " राधिका " नाम का गोपन कर देता है जिससे चन्द्रावली का संदेह दूर हो जाता है।[१]

इस तरह विदूषक अपनी वाक्पटुता का आश्रय लेकर किस प्रकार से कुपित नायिका का प्रसादन करके नायक के लिए मिलन का पथ प्रशस्त करता है, यह उसका सराहनीय कार्य है।[२] चन्द्रावली में वैसे तो प्रतिनायिका के लक्षण घटित नहीं होते, परन्तु प्रतिनायिका के मानप्रसंग को लाकर कवि ने इसे रोचक बना दिया है। विदूषक की वाक्चमत्कारिता औरपुरस्कार प्राप्त करने की लालसा भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होती है।

"रुक्मिणी परिणय" नाटक में नवमालिका जब रुक्मिणी से कहती है--"कुरवक शाखा में लगा हुआ यह कुन्द तुमको पुष्पों सहित आलिंगन करता हुआ दिखायी दे रहा है"। तब रुक्मिणी इस अभिप्राय को न समझ कर कहती हैं--" कुन्द से मेरा क्या प्रयोजन ? इसके बाद नवमालिका अपनी बात पलट कर कहती है--" राजकुमारी, चम्पक कुसुमों में सम्मिलित माधव की कलिदीपिका प्रफुल्लित सी सुशोभित होती है। वहां जाकर कलियां चुनें"। इसी समय विदूषक अपनी वाक्पटुता से इस निगूढ़ अर्थ को समझ लेता है, परन्तु पुरस्कार की लालसा वृत्ति से इस अर्थ कोउद्घाटित नहीं करता है। वासुभद्र से पुरस्कार लेने का वायदा कराकर ही वह निगूढ़ भावार्थ कहता है--" मुकुन्द से ((अर्थात् श्रीकृष्ण) मेरा प्रयोजन है। तब वासुभद्र उसे पारितोषिक प्रदान करते हैं।[२]

---

१. "तुदमुंर्गजंगमत्ता मंगलमा राधिका मयोन्मुदिता। --विदग्धमाधव--२६६।

२. मुकुन्देन मे प्रयोजनमिति अस्याः वचनस्य निगूढ़ो भावार्थः।
--रुक्मिणी परिणय नाटक, द्वितीय अंक, पृ० १६।

पुरस्कार प्राप्त करने की यह प्रवृत्ति 'विदग्धमाधव' में भी दिखायी पड़ती है। मधुमंगल कृष्ण से कहता है-- मित्र,तुम्हारी राधा को मैंने ही पाया है।' कृष्ण विश्वासपूर्वक कहते हैं-- मित्र वह कहाँ है ? शीघ्र दिखाओ। मधुमंगल तब पुरस्कार लेने की बात ही कहता है --' मैं तुम्हें हाथों में लाकर देता हूं ,पहले पुरस्कार दो।'[1] कृष्ण मालतीमाला प्रदान करते हैं तभी वह 'राधा' दो अक्षर वाली पत्रिका उन्हें प्रदान करता है।

विदूषक प्रथम कोटि का डरपोक भी होता है। 'विदग्धमाधव' नाटक में ही वेणुध्वनि से आकृष्ट आकाशचारी देवताओं को राक्षस समझ कर भागने का भी उपक्रम करता है। अन्त में जब राक्षसों को भी वंशीध्वनि मात्र से व्याकुल होकर भयभीत हुआ देखता है तब उसे कुछ शान्ति मिलती है और वह दुष्ट राक्षसों से कहता है--' मैं शाप अथवा धनुष से तुम लोगों के मस्तकों को काटता हूं।'[2] यहां पर मधुमंगल के कहने का अभिप्राय पूर्व समुत्पन्न हुए भय का निवारण करके वीरता का प्रदर्शन अहंकारपूर्ण ढंग से करना ही है। यद्यपि वह आकाशचारी राक्षसों से युद्ध नहीं कर सकता था,यह उसकी मूढ़ता का ही लक्षण है परन्तु जिस तरह से वाक्चातुर्य से मित्रों के समक्ष वीरता प्रदर्शित करना चाहता है,वह मनोरम प्रसंग है।

अन्त में उसके भ्रम का निवारण बलराम द्वारा करा दिया जाता है कि यह आकाशचारी देवता ही हैं।

इसकी प्रत्युत्पन्नमति या हाजिरजवाब का उदाहरण भी इसी नाटक में दृष्टिगत हो जाता है। राधा कृष्ण समागम में बाधक बनी जटिला जब कहती है-- मोहन,गोप युवतियों के समूह में सरल दृष्टि वाला बनो।' उस समय मधुमंगल फौरन हंस कर उत्तर देता है--' दधीचि की हड्डी के समान कठोर जटिले,मेरा यह मित्र सदा उदार दृष्टिवाला ही है। तुम्हीं खैंचातान हो अत: अपने को ही आशीर्वाद दो।'[3]

प्रत्युत्पन्नमतिसे प्रभावित अन्य दृष्टान्त भी नाटकों में मिलते हैं। विदूषक नायक की विषम परिस्थिति में इसी प्रत्युत्पन्नबुद्धि से उसकी स्थिति को संभाल लेता है। कभी-कभी विदूषक अपनी मूढ़ता का भी परिचय दे देता है। 'विदग्धमाधव' नाटक में मधुमंगल पौर्णमासी से कहता है -- देखो,कूकने वाले दुष्ट कोकिलों को डराने के लिए मैं इस

---

१. वयस्य,एषा मयैव लब्धा तव राधा।' कृष्ण--सखे,क्व सा दर्शय शीघ्रम्।'
मधुमंगल--तव हस्तगतामेवैनां करोमि तद्देहि मे पारितोषिकम्।--विदग्धमाधव,२८९-९०
२. एषोऽहं शापेन चापेन वा युष्माकं मुण्डानि खण्डयामि।-- वही,पृ० २८।
३. वही,पृ० ९३।

पुष्पधनुष को बनाया है[1]।

पुष्पधनुष से कोयलों को डराना अर्थात् गुलेल से कोयलों को भगाने की यह हरकत उसकी मूढ़ता का भी परिचायक है। नायक से परिहास करने की प्रवृत्ति भी अधिकांश देखने को मिलती है। मधुमंगल कृष्ण से "विदग्धमाधव" नाटक में परिहास करते हुए कहता है--" सखे,यह हम लोगों का सौभाग्य है कि इन रोहिणी स्त्रियों ने तुम्हें नहीं चुरा कर छिपाया है। अत: मूढ़ वंशी रहे,हम तो अपने को लेकर भाग रहे हैं[2]।"

यह प्रसंग उस समय का है जब श्रीकृष्ण की मुरली खो जाती है और कृष्ण मधुमंगल से कहते हैं कि स्पष्ट ही राधिका ने मुरली चुराई है,तभी परिहास से मधुमंगल उपर्युक्त कथन करता है[3]।

किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर विदूषक गाली-गलौच करता दिखायी पड़ता है। "विदग्धमाधव" नाटक में ही मधुमंगल जटिला के आगमन पर उसे राधा कृष्ण के मिलन में बाधक समझ कर गाली देता हुआ कहता है--" अरी कुतिया की पूंछ के समान टेढ़ी जटिले,अपनी लड़ी पकड़ो[4]। उसके इस कथन से भी हास्य की सृष्टि होती है।

रंगमंच पर विदूषक के अन्य स्वांग को भी दर्शित कराया जाता है। इसी नाटक में जब नेपथ्य से कृष्ण के प्रेम को अस्थायी और राधा के प्रेम को स्थायी कहा जाता है तो ललिता सारिका की बुद्धिमत्ता से आनंदित हो जाती है। कृष्ण अपने मन में सोचते हैं कि यह वृन्दा की शिक्षा से ही दोनों पक्षी निपुण हुए हैं। मधुमंगल सारिका के इस कथन को सह नहीं पाता और डंडा उठा कर उनको भगाने के अभिप्राय से कहता है-- नीच सारिके,मैं तुम्हारे तीखे बोलने वाले चोंच को तोड़ता हूं[5]।"

इस तरह के कार्यकलाप भी बहुत देखने को मिलते हैं। विदूषक अपनी ब्राह्मणजाति की विशेषताओं से युक्त दिखायी पड़ता है। वह जनेऊ की शपथ भी खाता है। विदग्धमाधव में ही वह मुरारी से जनेऊ की शपथ खाकर कहता है--" मैंने देखा है कि आप मित्र ने भूलुण्ठित मस्तक से राधा को नमस्कार किया है[6]।

---

१. पश्य कृतार्थ हलकोकिलानां वित्रासनार्थं मयेदं पुष्पकोदण्डं निर्मितम्।--विदग्धमा०१०७।
२. भो:वयं खल्वस्माकं गरिष्ठे भागधेयं यदेताभिर्मोहिनीभिस्त्वं चोरयित्वा न संगोपितोऽसि। तदिष्टस्तु वराकी मुरलिका। आत्मानं गृहीत्वा पलायामहे।-- वही,पृ० १६२।
३. वही,पृ० १६१। ४. वही,पृ० २५०।
५. वही,पृ० २४०।
६. मुरारे,एषोऽहं यज्ञोपवीतस्य शपामि। दृष्टं मया पृथ्वीविलग्नशेखरेणाच राधिका वन्दिता प्रियवयस्येन।--विदग्धमाधव,पृ० १६५।

यहाँ पर उसकी ब्राह्मणवर्ग विषयक विशेषता प्रदर्शित होती है। अपने ब्राह्मणत्व का कथन भी मधुमंगल करता है। जब ललिता के साथ राधा वृन्दावन में पुष्पचयन के लिए आती है तो मधुमंगल कहता है--गर्वीली, वृन्दावन को उजाड़ कर तुम लोग क्या मेरे मित्र के फूलों को चुरा लोगी ? कृष्ण उससे कहते हैं कि फूलों की गिनती के अनुपात से ही इनके गले से हार की मणियां छीन लूंगा। यह आभूषण फूलों के मूल्य के बराबर नहीं हैं तो इन से ही काम चलाना चाहिए। इसके बाद विदूषक अपने ब्राह्मणत्व का कथन करता है --" मित्र, यह अनुगृहीत ब्राह्मण प्रार्थना करता है अत: इतने ही से संतुष्ट हो जाओ।"[1]

इस प्रकार से विदूषक यथासंभव प्रयास करके हास्य रस की सृष्टि ही करना चाहता है और उस प्रयास में सफल भी रहता है। विदूषक का ताली बजा कर ज़ोर से हंसना भी०बहुधा हास्य का कारण बनता है।

मधुमंगल भी राधा के प्रेम में वशीभूत कृष्ण को देख कर ताली बजा कर हंसता है और कहता है--" हे मित्र, यहां तुम्हारा अपराध नहीं है, अपितु प्रेमलहरी का है, जिसने सम्पूर्ण वृन्दावन को राधा बना दिया है।"[2]

विदूषक का स्वरूप स्पष्ट हो जाने के पश्चात् " नायिकाओं " का स्वरूप करने के लिए " नायिका प्रकरण " प्रारम्भ किया जा रहा है।

----

१. अयि गर्विते, किमिति वृन्दावनं विध्वंस्य युष्माभिरस्मत्प्रियवयस्यस्य पुष्पाणि हरिष्यन्ते।

कृष्ण--सखे, तूर्णं गणयित्वा पुष्पाणि यथा मूल्यसंख्यायां कण्ठतो हारमणीनाहरामि।
सखे, पर्यालोचय। नामूनि पुष्पमूल्यतुल्यानि। तत: कतिभिरेव पर्याप्तिः।

मधुमंगल--वयस्य, एषोऽनुगृहीतो ब्राह्मणोऽभ्यर्थयति। तदेतैरेव संतुष्टो भव।

--विदग्धमाधव, पृ० २८२।

२. भो वयस्य, अत्र तवापराधो नास्ति, किन्तु प्रेमलक्ष्म्या एव, ययाखिला वृन्दाटवी राधिका निर्मिता।

--विदग्धमाधव, पृ० २८८।

(ग) नायिका विवेचन-- नायक के सहचरों के वर्णन के पश्चात् नायिका-विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है। नायक के वर्गीकरण के तुल्य ही नायिका के वर्गीकरण पर भी सूक्ष्म दृष्टि डालनी चाहिए, जिससे नायिका का स्वरूप भलीभांति प्रतिबिम्बित हो सके। नायक-नायिका वर्गीकरण ही महारण्य है जिसके गर्भ में जाकर मूल तथ्यों का सन्निवेश करना भी आवश्यक है जिससे नाटकों में उनका स्वरूप उस वर्ग में अन्तर्भूत हो सके।

नाट्यशास्त्र में तो भरत ने नायिकाओं के आठ प्रकार बताये हैं। यह वर्गीकरण अन्य कवियों एवं नाटककारों को भी मान्य रहा परन्तु कभी-कभी कुछ प्रक्षिप्त अंशों के साथ मुश्किल से कहीं थोड़ी-सी भूल हुई है।[1]

भरत द्वारा बताये गये आठ भेद वास्तव में नायिकाओं का प्रकार नहीं है। यह अधिकांश स्थिति को इंगित करने के लिए है जिसमें एक स्त्री अपने प्रिय के साथ सम्बन्ध होने पर उस स्थिति में रखी जा सकती है। परवर्ती कुछ लेखकों ने नायिकाओं को "आठ अवस्था" यह उचित नाम ही दिया है। इन आठ अवस्थाओं को ही "दशरूपक" में स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषित-प्रिया और अभिसारिका नाम दिये हैं।[2]

स्वाधीनपतिका नायिका वह होती है जिस नायिका का पति समीप में स्थित है तथा उसके अधीन है और जो अपने सौभाग्य से प्रसन्न रहती है।[3] इस प्रकार की नायिका कृष्णपरक नाट्यकृतियों में राधा ही है जो कि आपाततः कृष्ण की परिणीता न होने पर भी उनकी नित्य सहचरी है तथा श्रीकृष्ण जिसके नित्य वशीभूत हैं। श्रीकृष्ण के साथ राधा का अभेद सम्बन्ध स्वीकार ही किया जाता है, अतएव उसे स्वाधीनपतिका नायिका मानना असंगत नहीं प्रतीत होता।

रुक्मिणी परिणय नाटक में रुक्मिणी ही स्वाधीनपतिका नायिका है जिससे कृष्ण अनेक बाधाओं के होने पर भी विवाह करते हैं और वह भी कृष्ण के प्रति उदार रहती है।

वासकसज्जा प्रिय के आगमन की आशा होने पर हर्ष के साथ अपने को सजाती है।[4]

---

१. स्टडीज इन नायक नायिका भेद--डा० राकेश गुप्त (संस्करण १९५७), पृ० ५१।
२. दशरूपक, पृ० १५१।
३. आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका-- दशरूपक, पृ० १५२।
४. मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये।--दशरूपक, पृ० १५३।

'विदग्धमाधव' नाटक में श्रीकृष्ण के साथ अभिसार करने के लिए राधा अपने को सुसज्जित करके जाती है क्योंकि उसे विश्वास है कि केसरकुंज में श्रीकृष्ण का अवश्य ही आगमन होगा। राधा द्वारा प्रिय के आगमन पर श्रृंगार करने का संकेत ललिता के कथन से मिल जाता है--"अन्धकार में अभिसार के उपयुक्त श्यामल प्रसाधनों से क्या तुमने अपने को सुसज्जित कर लिया है।" ललिता के इस वाक्य से कृष्ण के आगमन पर हर्ष और विभ्रम के साथ राधा का सुसज्जित होना ध्वनित होता है।[1]

विरहोत्कंठिता नायिका वह है जो निरपराधा होते हुए भी प्रिय के देर करने पर उत्कंठित रहती है।[2] इस प्रकार की नायिका 'विदग्धमाधव' नाटक में राधा ही है जो कृष्ण के न आने पर दुखी हो जाती है। विशाखा और ललिता, अपनी सखी की व्यथा से दु:खी होती हैं। वह कहती हैं कि हम लोगों ने अनुमान किया है कि तुम्हारे हृदय में विद्यमान पदार्थ दुर्लभ नहीं है।" राधा अपने उत्कंठित हृदय को रोक पाने में समर्थ नहीं है तभी तो वह कहती है--"हे सखि, राधा के हृदय की यह पीड़ा दूर होने वाली नहीं है, यहां पर की गयी चिकित्सा भी निन्दा में बदल जायेगी।"[3]

अन्य नाटकों में भी इसी प्रकार की नायिकाएं दृष्टिगत होती हैं। नायक को दूसरी नायिका के सहवास से विकृत जान लेने पर जो ईर्ष्या से कलुषित हो जाती है, वह खण्डिता है।[4]

'ललितमाधव' नाटक में प्रतिनायिका "चन्द्रावली" सत्यभामा के साथ कृष्ण का समागम देख कर ईर्ष्या द्वेष धारण कर लेती है। चन्द्रावली भी सखी माधवी सत्यभामा के साथ कृष्ण के समागम को जान लेती है। वह चन्द्रावली से कहती है--"स्पष्ट रूप से यह क्रोधकारिणी सत्यभामा ही संगत हुई।" चन्द्रावली भी इस बात का समर्थन करके कहती है कि यह बात सत्य है क्योंकि मैंने भी उसके शरीर में दिव्य वस्त्र देखा है। चन्द्रावली इस वृत्तान्त का पता चलाने के लिए कृष्ण के पास जाती है और आशंकित होकर पूछती है--कौन-सी प्रणयिनी है?" कृष्ण शंकित न होने देने के लिए कहते हैं--वृन्दाटवी

---

1. प्रिय सखि, तिमिराभिसारोचितैः श्यामलप्रसाधनैर्मण्डितास्त्वया किं सत्यमात्मा।
--विदग्धमाधव, पृ० १६८।
2. दशरूपक, पृ० १५४ + 'चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मना:।
3. विदग्धमाधव नाटक, पृ० ५२-५३।
4. ज्ञातेऽन्यासंगविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता।--दशरूपक, पृ० १५४।

की इच्छा ही है और दूसरी नहीं ।" माधवी भी इस बात का समर्थन करती है । कृष्ण से मधुमंगल भी सादात्म्यस्तुति कराते हैं । चन्द्रावली ईर्ष्या धारण करके कृष्ण से यही कह कर चली जाती है--" आर्यपुत्र अपनी पूर्वांग से प्रणयी जन के साथ स्वच्छन्द रूप से विहार करो । मैं अन्तःपुर में प्रवेश करती हूं ।[1]" इस स्थान पर चन्द्रावली की ईर्ष्या ही प्रदर्शित है ।

क्रोध से (अपराधयुक्त नायक को) तिरस्कृत करके पश्चाताप की पीड़ा का अनुभव करने वाली कलहान्तरिता नायिका है ।[2] इस प्रकार की नायिका का स्वरूप भी 'विदग्धमाधव' नाटक में देखने को मिलता है । कृष्ण जब गोत्रस्खलन से धारा के स्थान पर " राधा " चन्द्रावली के समक्ष बोल जाते हैं तो चन्द्रावली ईर्ष्यापूर्वक कहती है--जाओ, राधा को ही मनाओ ।[3]" उसका मुंह क्रोध से आरक्त हो उठता है और वह कृष्ण से कहती है--" हे दानवीर, भाव छिपाने की आवश्यकता नहीं है । आज अपने सुन्दर सुवर्णमय कुण्डलद्वय के विन्यास (पक्ष में, राधा इस सुन्दर अक्षर द्वय के उच्चारण से) मेरे कान अच्छी तरह मधुरता से पूर्ण हो गये हैं ।[4]"

इसके बाद तुरन्त ही वह क्रोध में कहे गये अपने प्रहारयुक्त वचनों का ध्यान करके प्रायश्चित करके कृष्ण से कह ही देती है --" गोकुल के आनन्ददाता, तुम्हारे आगे मैं अपना मुंह नहीं दिखा सकती, क्योंकि ढिठाई से बोलती हुई मैंने अपराध किया है । अतः घर जाऊंगी[5] ।

अब विप्रलब्धा का लक्षण जानना आवश्यक है । प्रियतम के निश्चित समय पर न आने के कारण अत्यधिक अपमानित होने वाली विप्रलब्धा कहलाती है ।[6]

'वृषभानुजा' नाटिका में जब राधा कृष्ण के वियोग में व्याकुल है, उस समय उसकी आतपपीड़ा शान्त कराने के लिए चम्पकलता तमालिका को शीतल कोमल मृणाल लाने के लिए कहती है । राधा तमालिका से कहती है--" इस दुर्लभ गोकुलेन्द्र कुमार के दूर हो जाने पर इसका अभिनिवेश है । अब कौन-सा शरीर संधारण हेतु उपाय करूं[7]"

---

१. ललितमाधव नाटक, सप्तम अंक ।

२. कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूते तुरनुतापिनी ।-- वही पृ० १५५ ।

३. गच्छ । राधामेव सेवस्व ।-- विदग्धमाधव, पृ० १५६ ।

४. विदग्धमाधव, पृ० १५७ ।

५. वही, पृ० १५८

६. विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ।--दशरूपक, पृ० १५५

७. वृषभानुजा नाटिका, चतुर्थ अंक, पृ० ५१ ।

यहाँ पर भी राधा कृष्ण के न आने पर अपने को अपमानित महसूस करती हुई-सी प्रतीत होती है।

जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य से दूसरे देश में स्थित होता है, वह प्रोषित-प्रिया कहलाती है।[1] 'ललितमाधव' नाटक में और 'कंसवध' में कृष्ण के मथुराप्रयाण के समय गोपियों की यही स्थिति दिखायी देती है। ललितमाधव में तो राधा, चन्द्रावली के साथ अन्य गोपिकाएं भी प्रोषित प्रिया के अन्तर्गत आती हैं क्योंकि उनका विवाह भी कृष्ण द्वारा नरकासुर के बन्दीगृह से विमुक्त करने के बाद हो जाता है अतएव वह भी कृष्ण की वल्लभाएं ही हैं। इस नाटक के सम्बन्ध में तो तृतीय परिच्छेद में बताया ही जा चुका है कि वैसे तो इसमें वियोग की लेशमात्र भी गंध नहीं है। कृष्ण मथुरा जाते ही नहीं हैं। प्रकट लीला में ही यह दर्शित होता है।

अभिसारिका नायिका वह है जो काम से पीड़ित होकर नायक के पास स्वयं जाती है अथवा नायक को अपने पास बुलाती है।[2] इस प्रकार का उदाहरण भी 'विदग्धमाधव' में मिलता है जहाँ पर चन्द्रावली स्वयं कृष्ण के पास नहीं जाती वरन् पद्मा के छल से यहाँ लायी जाती है। पद्मा कृष्ण की राधामिलन अभिलाषा को जान चुकी है तभी तो वह चन्द्रावली का कृष्ण के साथ मिलन कराने की योजना बनाती है।

पद्मा कृष्ण से कहती है-- कृष्ण, अपने प्रियतम को पा गयी हो। अतः असमय में मिलने वाली अयोग्य हम लोगों का त्याग उचित ही है।" इसके बाद ही कृष्ण कहते हैं--" हे दिव्य अंगों वाली पद्मे, मैं शपथ लेकर कहता हूं कि मैं मदमाती गोपियों में स्नेह रखता हूं, प्रतिकूल गोपियों में नहीं।[3]

"यहाँ पर कृष्ण द्वारा" मदमाती गोपियाँ" कहने के कारण पद्मा प्रकृति गोपियां अभिसारिका के अन्तर्गत आ जाती हैं। कृष्ण का सच्चा स्नेह तो स्नेहपूर्ण राधापक्ष में ही है। चन्द्रावली पक्ष तो प्रतिकूल नजर आता है।[4]

---

१. दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया। --दशरूपक, पृ० १५६।

२. कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका।--वही, पृ० १५६।

३. करवाणि हन्त दिव्यं दिव्यांगि मदोन्मत्तासु गोपीषु।
अनुरागितां सखि दधे राधागन्धिषु न वामासु ॥--विदग्धमाधव, पृ० ३२५।

४. वही, पृ० ३२६।

नाट्यशास्त्र में भी इन्हीं नायिकाओं की अवस्थायें प्रदर्शित की गयी हैं।[1]

इसके सिवाय भी भरत ने शृंगार रस की नायिकाओं का वर्गीकरण न करके कुछ और साधारण रूप से स्त्रियों का वर्गीकरण किया है। पहला तो उत्तम, मध्यम, अधम का वर्गीकरण है[2] जो कि परवर्ती लेखकों ने स्वीकार किया है। इनमें से कम से कम दो को तो आधुनिक वर्गीकरण के निकट कहा ही जा सकता है। एक वर्गीकरण तो कुलजा, वेश्या और कन्यका है और दूसरा नायिका की युवावस्था को चार अवस्थाओं में बाँटता है -- प्रथम यौवना, द्वितीय यौवना, तृतीय यौवना, चतुर्थ यौवना।[3]

पहला वर्गीकरण तो नायिका के प्रारंभिक वर्गीकरण स्वकीया, परकीया और साधारण स्त्री को ही द्योतित करता है। दूसरा वर्गीकरण यद्यपि सारांश में भिन्न ही है फिर भी स्वकीया आदि के मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा आदि तीन वर्गीकरण की भावना से साम्य रखता है।

दशरूपक में भी नायक के समान गुणवाली नायिका को तीन प्रकार का बताया गया है --स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री।[4]

स्वकीया नायिका का लक्षण भी बताया गया है--"जो शील तथा ऋजुता आदि से युक्त होती है, वह मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा तीन प्रकार की होती है।[5]

श्रीकृष्ण की वल्लभायें दो प्रकार की ही हैं। एक तो जिनके साथ श्रीकृष्ण ने पाणिग्रहण किया है वह पति के आदेश का पालन करने में तत्पर स्वकीया नायिका ही कही जाती हैं। इनमें से रुक्मिणी, सत्या, जाम्बवती, अर्कनन्दिनी, शैब्या, भद्रा, कौशल्या, माद्री प्रमुख थीं।

---

1. नाट्यशास्त्र, पृ० २८४-८५
2. वही, पृ० २८६।
3. स्टडीज इन नायकनायिकाभेद--डा० राकेश गुप्त, पृ० ५२।
4. स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।--दशरूपक, पृ० १३४
5. मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्।--दशरूपक, पृ० १३५।

'ललितमाधव' नाटक में चन्द्रावली भी कृष्ण को जीवनपर्यन्त पति रूप में माननेवाली भारतीय नारी के रूप में ही प्रदर्शित है। वह स्वाधीनपतिका नायिका है। कृष्ण भी उसकी प्रेम की पराकाष्ठाओं को देख कर स्वयं को उसके रूप के आधीन न बना कर प्रेम के अधीन बना देते हैं।[1]

चन्द्रावली इस नाटक में अपने स्वकीयात्व का भान उचित ढंग से कराती है। चन्द्रावली भद्रकाली की उपासना कृष्ण के लिए ही करती है। चन्द्रावली भगवती से कहती है--" मैं कृष्ण के लिए आजीवन कुमारी रहूँगी।[2]" इस वाक्य को कहने का अभिप्राय चन्द्रावली द्वारा स्वकीयात्व का आभास कराना था।

स्वकीया नायिका के तीन प्रकारों में से सर्वप्रथम मुग्धा का स्वरूप समझना आवश्यक है।

जिसकी अवस्था नवीन तथा कामभावना नवीन होती है, जो रति क्रीड़ा में झिझकने वाली और क्रोध करने में कोमल होती है, वह मुग्धा नायिका होती है।[3]

इस प्रकार की नायिका कृष्णपरक नाट्यकृतियों में राधा और रुक्मिणी दोनों ही दिखाई देती हैं।

'वृषभानुजा' नाटिका में राधा मुग्धा नायिका का स्वरूप उस समय दिखलाई पड़ता है जब वनरसिका राधाकृष्ण का समागम कराने के उद्देश्य से राधा के प्रेम का पता लगाने एवं उसकी प्रतिक्रिया जानने के लिए जाती है।

वनरसिका वृन्दा से राधा के सम्बन्ध में कहती है--" यह भोली स्नेहरसाभिषान से रहित मेरे कथन का श्रवण करके बार-बार श्रुतिपुट से प्रियवचन सुनने के लिए समीप आयी हुई तिर्यक् नैनों से मुझे देखती हुई कुछ समय तक लज्जा से अवनत मुख वाली हो रही।[4]"

यहाँ पर राधा के मुग्धा नायिका के अनुसार घटित हुआ स्वरूप प्रतिबिम्बित हो रहा है।

---

१. ललितमाधव नाटक--रूपगोस्वामी, पंचम अंक।
२. वही--पंचम अंक।
३. मुग्धा नववय:कामा रतौ वामा मृदु: क्रुधि।--दशरूपक, पृ० १३६।
४. वृषभानुजा नाटिका, पृ० ६।

राधा की मुग्धावस्था का अत्यन्त मनोरम उदाहरण विदग्धमाधव नाटक में भी देखने को मिलता है। श्रीकृष्ण के करकमल के स्पर्श कुतूहल से उत्पन्न राधा की मुग्धावस्था का इतना मर्मस्पर्शी वर्णन मिलना दुर्लभ ही प्रतीत होता है।

राधा अपनी सखी विशाखा और ललिता से कहती है--" किंचिद विकसित नील-कमलदल की कान्ति के समान सुन्दर उसके हस्तकमल के सघन स्पर्श कुतूहल से उत्पन्न संवेगों के समूह का वहन करती हुई मैं यहां उस समय नहीं जान सकी कि मैं कहां हूं,कौन हूं अथवा मैंने क्या किया[1]।"

यहां पर राधा कामाधिक्य के कारण अपने संतुलन को भी खो बैठी है,अतएव यही उसकी मुग्धावस्था है।

मध्या नायिका वह है जिसमें यौवन और काम का उदय हो रहा है,जो मूर्च्छा की अवस्था पर्यन्त रति में समर्थ है,वह मध्या नायिका कहलाती है[2]।

मधुरा नायिका का उदाहरण तो विदग्ध माधव में मिलता ही है,जिसको पौर्णमासी वर्णित करती है --" राधा के नेत्रों की शोभा बलपूर्वक नवीन कुवलय को निगल रही है। मुख का उल्लास विकसित कमलवन का अतिक्रमण कर रहा है। शरीर की कान्ति सुवर्ण को भी शोचनीय दशा में पहुंचा रही है। इस प्रकार राधा का सौंदर्य कुछ विलक्षण ही दिखायी दे रहा है[3]।"

इसके बाद कलहान्तरिता अवस्था प्राप्त राधा के कथन से मध्या नायिका का स्वरूप और स्पष्ट हो जाता है। राधिका अपनी विशाखा सखी से कहती है--" बार-बार कलह के विलासों से अपराधिनी भी मैं राधा अयारि कृष्ण द्वारा प्रेमपूर्वक जो अंगीकृत हुई हूं,उसमें हे कृशोदरि,मेरी सखियों के बढ़े हुए गुणों से युक्त आनन्द देने वाली करुणा रूपमंजरी के अतिरिक्त दूसरा कारण और क्या हो सकता है[4]?

---

१. दरोन्मीलन्नीलोत्पलदलरुचस्तस्य निविडाद् विरुढानां सद्यः करसरसिजस्पर्शकुतुकात्। महन्ती सौभाग्यां निवहमिह नाज्ञासिषमिदं क्व वाऽहं का वाहं क्व नु किमहं वा सखि तदा।-- विदग्धमाधव-- २।६

२. मध्योद्यद्यौवनानंगा मोहान्तसुरतक्षमा।--दशरूपक,पृ० १३६ (२।१६)

३. विदग्धमाधव-- १।३२

४. वही-- ५।१५

यहां पर भी राधा में काम भावना जाग्रत है फिर भी बार-बार वह मान प्रसंग से विरह की अवस्था प्राप्त कर सखियों के यत्न से कृष्ण के साथ समागम करने के लिए उद्यत हो जाती है। यह मध्या नायिका मान की वृत्ति धारण करने पर धीरा, अधीरा, धीराधीरा होती है।

विदग्धमाधव नाटक में तो वृन्दा राधा से इसी मानवृत्ति का निवारण करने के लिए कहती है-- "अरी कठोरराधे, मान को बढ़ा कर अपने अंगों को व्यर्थ क्यों कष्ट दे रही हो? अथवा प्रियजन के प्रणय याचन करने पर क्रोध क्यों करती हो? तुम्हारे कुञ्जभवन का स्वामी (कृष्ण) सामने पर्याप्त दुखी हो रहा है अतः क्षण भर के लिए यहां दया की शोभा से युक्त कटाक्ष को चंचल करो[1]।"

इसके बाद मान धारण करने वाली "मध्या धीरा ताने (उत्प्रास) के साथ वक्रोक्ति से, अधीरा कोप के साथ अश्रुपूर्वक कठोर शब्दों से प्रेमी को फटकारती है[2]।

"विदग्धमाधव" में चन्द्रावली में मध्याधीरा का स्वरूप दिखायी पड़ता है। वह कृष्ण से कहती है--" हे दानवीर भाव छिपाने की आवश्यकता नहीं। आप अपने सुन्दर सुवर्णमय कुण्डल द्वय के विन्यास से (राधा इस सुन्दर अक्षरद्वय के उच्चारण से) मेरे कान अच्छी तरह मधुरता से पूर्ण हो गये हैं[3]।"

यहां पर चन्द्रावली वक्रोक्तिपूर्ण ढंग से अपने रोष को ताने के साथ प्रकट कर देती है।

"धीराधीरा" का स्वरूप राधा में तब दिखायी पड़ता है जब राधा आंसुओं के साथ वक्रोक्तिपूर्ण ढंग से कृष्ण से यह कहती है-- तुम सचमुच मायावियों के मोहक हो[4]।" अधीरा नायिका भी राधा उसी समय दिखायी देती है। वह कृष्ण को कोपपूर्वक कठोर शब्दों में फटकारती है --" भोले भाले व्यक्ति के प्रति भी टेढ़ा व्यवहार करते हुए तुम्हें लज्जा क्यों नहीं आती?" यह राधा के अधीर स्वरूप को प्रकट करता है[5]।

१, विदग्धमाधव--५।३० ।

२, धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या, मध्या साश्रुकृतागसम् ।
खेदयेद् दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ।--दशरूपक-- २।१७

[३] विदग्धमाधव, पृ० १५७ ।

४, सत्यं मायिनामपि त्वं मोहनोऽसि ।-- विदग्धमाधव, पृ० २३४ ।

५, मुग्धेऽपि वक्रं व्यवहरन्कस्मान्न लज्जसे ।--वही, पृ० २३५ ।

जो यौवन में अंधी-सी, काम में उन्मत्त-सी, आनन्द के कारण प्रियतम के अंगों में प्रविष्ट होती हुई-सी और सुरत के आरंभ में भी चेतनारहित हो जाती है, वह प्रगल्भा-नायिका है।[१]

श्रीकृष्ण राधादि गोपियों के साथ विशुद्ध माधुर्य लीला करते हैं, अतएव उनकी प्रियतमा भी साधारणस्त्रीजनोचित आचरण नहीं करती हैं। श्रीकृष्ण की अन्तरंगिणी प्रियतमा राधा और रुक्मिणी दोनों ही कृष्णपरक नाट्यकृतियों में लज्जालु स्वभाव की दिखायी देती हैं, उनमें प्रगल्भा नायिका का स्वरूप तो प्रदर्शित होता हुआ नहीं दिखायी देता है फिर भी न्यूनतम स्थलों पर ऐसा आभास होता भी है कि राधा रति में प्रगल्भा होकर भी इस प्रकार का वृत्तान्त कह रही है।

विदग्धमाधव नाटक में ही ललिता कुंज में कृष्ण के अन्वेषण करने पर उससे कहती है--" सखि खोजने का आग्रह छोड़ो। आओ, केलिकुंज की रचना करें।"[२]

तब राधा ललिता से कहती है--" हे कमललोचने, केसर के फूलों से वंचित केलिकुंज में वन्दनवार बनाओ। कमल के फूलों से सुन्दर शय्या की रचना करो और शय्या के समीप ठीक से सुरापात्र ले जाओ। हे सहचरि आज कृष्ण तुम्हारी कुशलता की प्रशंसा करें।[३]

यहां पर राधा अपनी लज्जालु प्रवृत्ति को छोड़ कर कृष्ण के साथ अभिसार करने में प्रवृत्त दिखायी दे रही है।

धीरा, प्रगल्भा अवहित्थ (आकार संवरण) तथा आदर प्रदर्शन सहित व्यवहार करती है, वह कोप के कारण रति में उदासीन रहती है। अधीरा (धीरेतरा) प्रगल्भा क्रोध से (नायक को) फटकार कर पीटती है। धीराधीरा (मध्या) प्रगल्भा धीराधीरा मध्या के समान उस नायक से बात करती है।[४]

---

१. यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयितांगके।
   विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ।।--दशरूपक २।१८

२. विदग्धमाधव-- पृ० १७१, ३. वही--४।२४

३. सावहित्थादरोदास्ते रतौ, धीरेतरा क्रुधा।
   सन्तर्ज्य ताडयेद्, मध्या मध्याधीरेव तं वदेत् ।--दशरूपक २।१६

४. ~~[illegible] ।~~
   ~~[illegible] --विदग्धमाधव, पृ० १५६ ।~~

जो (कुपित) आकार को छिपा कर अधिक औपचारिकता के साथ व्यवहार करती है वह "सापह्नित्यादरा" कहलाती है। यह कोप के कारण रति में उदासीन रहती है।

सापह्नित्यादरा प्रतिनायिका चन्द्रावली विदग्ध माधव में दिखायी देती है जो कृष्ण के गोत्रस्खलन से धारा के स्थान पर राधा कह देने पर कोपित तो अत्यन्त होती है परन्तु उसके बावजूद भी वह कृष्ण को अपनी सन्निधि से वंचित न रखने के लिए व्याज-पूर्ण प्रसन्नता व्यक्त करते कहती है--"देव गोकुलवासियों के जीवनस्वरूप तुम्हारे सुखदायक गुण को कौन सद्बुद्धि सहन नहीं करती। अतः व्यर्थ संकोच एवं आतंकित मत करो।"[1] इस प्रकार का कथन चन्द्रावली द्वारा उससे मिलने में शंकाकुलहृदय कृष्ण को संयोग सुख से वंचित देख कर ही कहा गया है। कृष्ण चन्द्रावली की कोपमुद्रा को पहचान लेते हैं और अपने मन में भी कहते हैं--"क्रोध की गूढ़तर मुख मुद्रा को भी धीर स्वभाव वाली यह चन्द्रावली मुख की मधुरता से छिपाती है।" इसके बाद चन्द्रावली के समक्ष प्रकट होकर कहते हैं--"इस विषमय उद्‌गार की आवश्यकता नहीं। क्रोधपूर्ण कथन का मधु ही बहुत अच्छा है।"[2]

इस प्रकार से चन्द्रावली ने कृष्ण के प्रति औपचारिकता का प्रदर्शन करके भी कोप को सफल कर दिया। अधीरा प्रगल्भा तो कुपित होकर नायक को फटकारती है। इस प्रकार की नायिका का स्वरूप अधीरा नायिका के विवेचन के अवसर पर प्रकट कर दिया गया है।

धीराधीरा जो प्रगल्भा होती है, वह भी कुपित होकर धीराधीरा मध्या के समान नायक से ताने भरी बातें करती है। उसका स्वरूप भी मध्या धीराधीरा के सम्बन्ध में बताया ही जा चुका है।

अब मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के भी दो प्रकार देखने में आते हैं--ज्येष्ठा और कनिष्ठा। इस प्रकार मुग्धा से भिन्न नायिकाओं के बारह भेद हो जाते हैं।[3]

---

१. देव नूनं खलु गोकुलजनजीवनभूतस्य तव सर्वसुखकारितागुणं का खलु सद्बुद्धिर्न सहते। तस्मान्निष्फलेन संकोचेन मा सातंको भव। -- विदग्धमाधव पृ० १५६।

२. गरिष्ठामपि मन्युमुद्रां धीरेयं मुखमाधुर्येण विवृणुते (प्रकाशय) प्रिये, कृतमनेन गौरव-विषोद्‌गारेण। रोषोक्तिमाध्वीकमेव वरं वरिष्ठम्। --वही, पृ० १५६।

३. द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः। --दशरूपक-- पृष्ठ १४६।

ज्येष्ठा और कनिष्ठा इन दोनों में से ज्येष्ठा के प्रति केवल दाक्षिण्य का और (कनिष्ठा के प्रति) प्रेम का व्यवहार पाया जाता है,यह बात नहीं है । अपितु(ज्येष्ठा के प्रति) प्रेम का भी व्यवहार देखा जाता है । इसका विवेचन तो दक्षिण नायक विवेचन के अवसर पर कर ही दिया गया है[1]।

परकीया नायिका भी दो प्रकार की बतायी गयी है-- कन्या तथा विवाहिता । अन्य विवाहिता स्त्री को कभी भी प्रधान रस की नायिका नहीं बनाना चाहिए । कन्या के अनुराग को तो कवि इच्छानुसार प्रधान या अप्रधान रस का आधार बना सकता है[2]। परकीया नायिका के सम्बन्ध में दशरूपक की यह परिभाषा विदग्धमाधव और ललितमाधव नाटक में राधा और चन्द्रावली इन दोनों ही के परोढ़ा होने पर नाटक में प्रधान नायिका बनाये जाने पर घटित नहीं होती । अतः रूपगोस्वामी के "उज्ज्वलनीलमणि" ग्रन्थ पर भी दृष्टि डालनी पड़ती है जहां पर परकीया के स्वरूप का विवेचन किया गया है । इसमें राधा और चन्द्रावली का कृष्ण से नित्य सम्बन्ध बता कर उनके परकीयत्व का योगमाया के विवर्त से बहिष्कार किया गया है ।

"उज्ज्वलनीलमणि के" राधाप्रकरणम्" के तीसरे श्लोक में तो राधा चन्द्रावली में से राधा को अधिकामहाभावस्वरूपिणी बताया है,जिसका अर्थ परमानन्द रूप कहा गया है । रुक्मिणी आदि पुरवनिताओं में आह्लादिनी शक्ति होने पर भी स्वजन आर्यपथ त्याग का अभाव है । यहां परराधा को ही कृष्ण की अभिन्न महाभावस्वरूपिणी प्रेयसी कहा गया है । वैसे श्रीकृष्ण के साथ भूतल पर अवतीर्ण होकर लीला करने वाली श्री चन्द्रावली तथा राधा दोनों ही "नित्यप्रिया" कही गयी हैं । इसलिए इनदोनों नाटक" विदग्ध माधव" और ललितमाधव में परकीयात्व के कारण रसभंग नहीं हुआ है ।

परकीया सदैव प्रिय की स्मृति और चिन्तन में लगी रहती है । घर के काम में व्यस्त रहने पर भी प्रिय के विषय में ही चिन्तन करती रहती है । स्वकीया में तो इस स्थिति का कभा आभास ही नहीं हो पाता क्योंकि वह तो सदैव अपने प्रिय के समीप में ही स्थित रहती है ।

---

१. दशरूपक--पृ० १५६ ।

२. अन्यस्त्री कन्यकोढ़ा च नान्योढाङ्गिरसे क्वचित् ।
   कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।।

   --दशरूपक-- २।२०

श्रीमद्भागवतमहापुराण में "गोपयोषित" के साथ कृष्ण के रमण करने पर प्रयुक्त शब्द से परकीयात्व का आभास होता है। गोपियां गोपों की परिणीता स्त्री हैं फिर भी कृष्ण की वंशीध्वनि से आकृष्ट होकर घर के काम को छोड़ कर निकल पड़ती हैं। इन गोपियों में परकीया भाव ही विद्यमान है। इनमें से कुछ ऐसी भी गोपियां हैं जिनके साथ कृष्ण का विवाह हो चुका है, वह परकीया के अन्तर्गत न रखी जाकर स्वकीया के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं।

परकीया प्रेम का पोषण करने वाली भी कही जाती है क्योंकि स्वकीया में तो प्रेम का उन्मेष मन्द होता है और प्रेम स्थिर होता है परन्तु परकीया प्रेम को नवतरंगों से उद्वेलित करके उसको और भी अधिक रागमय बना देती है।

विरह भी प्रेम को प्रगाढ़ बनाने में वैष्णवों द्वारा श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। स्वकीया में तो विरह की गुंजाइश ही नहीं रह पाती है, कभी-कभी उसकी इन्द्रधनुषी छटा दिखायी पड़ती है परन्तु परकीया नायिका में तो प्रेम विरह से और भी अधिक पोषित होकर स्वर्ण के समान खरा होकर देदीप्यमान बन जाता है। अतः परकीया नायिका को भी ज्येष्ठ स्वीकार किया जाना उचित ही प्रतीत होता है।

परकीया के दो भेद कन्या तथा विवाहिता बताये जा चुके हैं। कन्या को परकीया कहने का कारण यह है कि वह पिता आदि के अधीन रहती है। उसमें भी गुप्त रूप से प्रेम की प्रवृत्ति तो रहती ही है। यदि प्राप्त हो भी जाती है तो दूसरों की रुकावट या प्रियतमा का भय रहता है।[1]

ललितमाधव नाटक में सत्यभामा के प्रति कृष्ण का (चन्द्रावली के भय के कारण) अनुराग गुप्त रूप से प्रवृत्त होता है। इसमें प्रधान शृंगार रस द्वारा ही कन्या के अनुराग का वर्णन किया गया है।

साधारण स्त्री तो गणिका होती है जो कला, प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है।[2]

शास्त्रों में ऐसी स्त्री का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है--"वह छिपकर प्रेम करने वाले, सुखपूर्वक धन प्राप्त करने वाले, अज्ञानी स्वच्छन्द, अहंकारी पण्डक आदि को, यदि धनवान् हो तो अनुरक्ता के समान प्रसन्न करती[3] है और धनरहित होने पर उनको (निःस्वान्) माता के द्वारा निकलवा देती है।

---

१. दशरूपक, पृ० १४८। २. साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक्। --दशरूपक २।२१
३. छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान्।
रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्निःस्वान्मात्रा विवासयेत्। --दशरूपक २।२२

यह बात तो वैश्या के सम्बन्ध में कही जा सकती है । प्रहसन से भिन्न अन्य रूपक में गणिका को (नायक के प्रति) अनुरक्त ही दिखलाना चाहिए । जिस रूपक का आश्रय कोई दिव्य नायक या राजा हो तो उसमें गणिका नहीं रखनी चाहिए[1] ।

श्रीकृष्ण का दिव्यचरित्र होने के कारण वह दिव्य नायक कहे ही गये हैं,अतएव कृष्णपरक नाट्यकृतियों में साधारण स्त्री नहीं दिखलायी पड़ती है ।

कुब्जा को कुछ लोग साधारणी नायिका मानते हैं परन्तु रूपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ" उज्ज्वलनीलमणि" में उसको परकीया ही माना है,क्योंकि वह अन्य नायक के प्रति आसक्त नहीं है[2] ।

इस प्रकार से दशरूपक के आधार पर नायिका विवेचन करने के पश्चात् संक्षेप में यह भी जान लेना अपेक्षित है कि अन्य मुख्य कवियों और नाटककारों ने नायिका-वर्गीकरण किस प्रकार से किया है ।

दशरूपक नायिका भेद के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता ही है और नाट्यशास्त्र का भी अपना विशिष्ट स्थान है ही । अतएव इनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों के विचार भी जानना आवश्यक है कि वह वह कहां तक नाट्यशास्त्र से प्रभावित रहे और कहांतक दशरूपक से ।

भोज" सरस्वतीकण्ठाभरण" और" शृंगारप्रकाश" के रचयिता कहे जाते हैं ।उन्होंने नायिका को सबसे पहले नायिका,प्रतिनायिका,उपनायिका और अनुनायिका के अन्तर्गत कथानक में उनकी स्थिति के अनुसार विभाजन किया है ।

यह जानकर विस्मय होता है कि यह वर्गीकरण नाटक के संदर्भ में प्रासंगिक हो सकता था,फिर भी नाट्यशास्त्र और दशरूपक जैसी महत्वपूर्ण कृतियों के लेखकों ने इसकी उपेक्षा की है । नाटक में प्रतिनायिका,उपनायिका,अनुनायिका की स्थिति भी दिखायी पड़ती है परन्तु उसकी अवहेलना क्यों की गयी ? यह विचारणीय प्रश्न है । नाट्यशास्त्र और दशरूपक तो नाट्यशास्त्र पर आधारित ग्रन्थ हैं और इन कृतियों में काव्यशास्त्र पर प्रथम महत्व दिया जा चुका है । अतएव इनमें भोज के उपर्युक्त वर्गीकरण का सन्निवेश केवल आवश्यक तो नहीं है परन्तु असमर्थनीय है[3] ।

---

१. रक्तैव त्वप्रहसने,नैषा दिव्यनृपाश्रये ।--दशरूपक,पृ० १५०

२. स्टडीज इननायक नायिका भेद--डा० राकेश गुप्त,पृ० ५६ ।

३. मत्सापनेयमाना धीरा तथा अमत्सापनेयमानाऽधीरा -- सरस्वतीकंठाभरण,पृ० ६८५ ।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नाट्यशास्त्र और दशरूपक में इसका विवेचन संभव न हो पाने के कारण इसका महत्व तो कम नहीं हो जाता, अतएव यह वर्गीकरण महत्वपूर्ण है। भोज ने दूसरा वर्गीकरण नायिकाओं के गुणों के आधार पर ही किया और उनको उत्तम, मध्यम और अधम के अन्तर्गत रखा। तीसरा विभाजन नायिकाओं की अवस्था और कुशलता के आधार पर किया गया--मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा रूप में। चौथे के अनुसार नायिका धीर और अधीर हो सकती है। पाँचवां वर्गीकरण नायिकाओं के (स्वकीया) और अन्यदीया (परकीया) में, और छठां ऊढ़ा (विवाहित) अनूढ़ा (अविवाहित) में वर्गीकरण करता है। सातवां वर्गीकरण नायिकाओं को ज्येष्ठा और कनिष्ठा में बांटता है।[1]

आठवां वर्गीकरण उद्धत, उदात्त, शान्त और ललित में नायिकाओं के व्यवहार के अनुसार ही विभाजन करता है, जब नायिकाओं के समक्ष कोई क्रोध का कारण विद्यमान होता है। परन्तु यह वर्गीकरण धीरा, मध्या और अधीरा जो प्रारंभिक लेखकों द्वारा कहा जा चुका है, उससे भिन्न बहुत अधिक नहीं है। नवां वर्गीकरण नायिका के व्यवहार के अनुसार ही किया गया। यह तीन प्रकार का हो सकता है -- सामान्या, पुनर्भू, स्वैरिणी। दसवां वर्गीकरण नायिका की जीविका के आधार पर गणिका, रूपाजीवा और विलासिनी नाम से किया गया। ग्यारहवें अंतिम वर्गीकरण में तो वही पहले बतायी गयी नायिकाओं की अवस्था स्वाधीनपतिका आदि का ही विवेचन किया गया है।[2]

"नाटकदर्पण" के लेखक ने नायिकाओं का विभाजन कुलजा, दिव्या, क्षत्रिय और प्रणयकामिनी के अन्तर्गत किया है। कुलजा तो ब्राह्मण वर्ग या वणिक वर्ग में उत्पन्न होती है। दिव्या दिव्य नायिका होती है। क्षत्रिय स्वयं परिभाषित और प्रणयकामिनी वैश्या होती है।[3]

दिव्य नायिका तो राधा और रुक्मिणी दोनों ही हैं। गोपियां भी इन्हीं के अंश से उत्पन्न होने वाली किसी सीमा तक तो दिव्य कहलाने की अधिकारी हैं ही।

---

१. सरस्वती कण्ठाभरण, पृ० ६८६-८७।
२. वही, पृ० ६९८, ६८३-६८९।
३. नाटकदर्पण, पृ० २०९।

भानुदत्त ने भी नायिका का दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्य में विभाजन किया है, जैसा कि रूपगोस्वामी ने नायक का विभाजन किया है[1]। राधा और चन्द्रावली को तो दिव्यबताया ही जा चुका है। " मालतीमाधव" की मालती अदिव्या और सीता को दिव्यादिव्य माना जाता है।

"साहित्यदर्पण"[2] में तथा " भावप्रकाशन"[3] में दशरूपक की भांति नायिका के तीनों भेदों का वर्णन किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने इन तीनों भेदों का अधिक सुव्यवस्थित वर्णन किया है।

इस प्रकार से अन्य कवियों द्वारा बताये गये नायिका भेद प्रकरण से यह ज्ञात हो जाता है कि उपर्युक्त अनुच्छेद में बताया गया वर्गीकरण दशरूपक से साम्य रखता है और इस शोध ग्रन्थ में भी दशरूपक का वर्गीकरण ही मान्यरहा है।

(घ) <u>नायिकेतर स्त्रीपात्र-विवेचन</u>-- नायिका विवेचन करने के पश्चात् नायक के सहायकों की तरह ही नायिका को भी सहायता देने के लिए सहायिकाएं होती हैं। सखियां तन-मन से अपनी सखी का उपकार करने का ही विचार करती हैं। नायक से समागम कराने का प्रयत्न एवं नायिका में प्रेमोद्रेक करना इन्हीं का काम रहता है। यह नायिका के मनोभावों का सूक्ष्म निरीक्षण करने में कुशल एवं पारखी होती हैं तभी तो नायिका की मनःस्थिति का आकलन करके उसके निदान के लिए उपाय सोच लेती हैं। यह अत्यन्त वाक्पटु और आलेख्न कला में निपुण होती हैं। हास-परिहास से नायक नायिका के मनोभावों का ज्ञान कर लेती है।

इस प्रकार नायिकाओं की सहायिकाएं " दशरूपक" में इस प्रकार बतायी गयी हैं-- दासी, सखी, कारू, धाय की लड़की, पड़ोसिन, सन्यास आदि का चिह्न धारण करने वाली, शिल्पिणी और स्वयं (नायिका), ये दूती होती हैं, जो नायक के मित्रों (पीठमर्द आदि) के गुणों से युक्त होती हैं[4]।

---

१. रसमंजरी, पृ० १०६--चौखम्भा बनारस १९०४

२. साहित्यदर्पण--३।५६

३. भावप्रकाशन--पृ० ९४(पंक्ति)२० तथा आगे)

४. दूत्यो दासी सखी कारूर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिंगिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विताः ।।
--दशरूपक-- २।२९।

कृष्णचरिताश्रित नाटकों में राधा और रुक्मिणी सखियाँ ही प्रतिभासम्पन्न, वाक्पटु, समयानुकूल कार्य करने वाली दिखायी देती हैं। "रुक्मिणी परिणय" नाटक में विशाखा ललिता की और पद्मा, शैव्या चन्द्रावली की, वृषभानुजा नाटिका में चम्पकलता, तमालिका आदि राधा की प्रणय-प्रसंग में अत्यन्त सहायता करती हैं।

"रुक्मिणीहरण" ईहामृग में धात्री सुवत्सला और परिव्राजिका सुबुद्धि रुक्मिणी का संदेश लेकर द्वारका जाती है और रुक्मिणी का अभीप्सित सन्देश लेकर जब लौटती हैं तब रुक्मिणी को धैर्य होता है। शिशुपाल के साथ रुक्मिणी के विवाह की तैयारी हो भी चुकी थी। ऐसी नाजुक स्थिति में इन दोनों के द्वारा किया गया कार्य सराहनीय है जो रुक्मिणी की अभीष्ट सिद्धि के लिए ही किया जाता है।

नायक से नायिका का संगम कराने वाला दूती कार्य सखियों द्वाराभी कराया जाता है और दूसरा वह है जिसमें नायिका स्वयं दूती होती है।

सखियों का दूती होना अधिकांश नाटकों में दिखायी देता है। "वृषभानुजा" नाटिका में राधा की विरहाग्नि को शीतल करने के लिए चम्पकलता राधा से कमलेख लिखने के लिए कहती है और तमालिका भी इसका समर्थन करती है।[1] चम्पकलता उस कामलेख को कृष्ण के पास ले जाने में दूती का कार्य करती हुई दिखायी देती है। इस कामलेख को पढ़ कर कृष्ण राधा का स्मरण कर निःश्वास लेते हुए से दिखायी पड़ते हैं।

चम्पकलता कामलेख के माध्यम से अपनी सखी की अवस्था का सन्देश लेकर जाती है और सखी का प्रसादन करती है।

रूपकपद में वर्णित नायिका की सहायिकाओं की तरह अन्य कवियों और नाटककारोंने भी नायिका की सहायिकाओं को बताया है।

भरत ने अपने ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" में लिखा है कि दूती का कार्य निम्न प्रकार से किया जा सकता है --" कथनी, लिंगिनी, रंगोपजीवन, प्रतिवेश्या, सखी, दासी, कुमारी, कारुशिल्पिका धात्री, पाखण्डनी, ईक्षणिका।[2]

---

१. वृषभानुजा नाटिका, पृ० ४६।

२. नाट्यशास्त्र, पृ० २६३।

शृंगारतिलक के रचयिता रुद्रभट्ट ने नायिका की आठ सखियों का संकेत किया है। इनमें से सात तो नाट्यशास्त्र की सूची में हैं और एक धात्र (पौष्कि) इनके द्वारा और संकलित की गयी है।

धनंजय के दशरूपक में रुद्रभट्ट द्वारा बतायी गयी नायिका की आठ सखियों का वर्णन किया गया है परन्तु इनमें से नटी और धात्री को निकाल कर सखी और स्वयं नायिका को जोड़ा है। दशरूपक द्वारा बतायी गयी नायिका की सहायिकाओं का वर्णन तो पिछले अनुच्छेद में किया ही जा चुका है। भानुदत्त ने "रसमंजरी" में सखी और दूती में इस प्रकार से भिन्नता प्रदर्शित की है। सखी नायिका को सान्त्वना प्रदान करने के साथ ही साथ उसका प्रसाधन भी करती है। दूती नायक के पास सन्देश ले जाने की कला में निपुण होती है। दूती का महत्त्वपूर्ण काम नायिका का मण्डन, उपालम्भ देना, शिक्षा अर्थात् उपदेश देना, परिहास करना और नायिका के कामलेख को लाने की संघटना करना, विरह निवेदन नायक के समक्ष करना होता है।[1]

दूती का यह कार्य कृष्णचरितप्रधान नाटकों में दिखायी पड़ता है। दूती का कार्य इनमें सखियां ही करती हुई प्रदर्शित की गयी हैं। रुक्मिणी परिणय` नाटक में नव-मालिका, विदग्धमाधव में ललिता, विशाखा, राधा के संदर्भ में और पद्मा, शैव्या, ललिता, विशाखा, राधा के संदर्भ में और पद्मा, शैव्या चन्द्रावली के संदर्भ में दूती का कार्य करती हैं। यह राधा और रुक्मिणी को कृष्ण के पास ले जाने के लिए प्रवृत्त करती है और लज्जावरण के वशीभूत होकर कृष्ण से समागम करने में असमर्थ अपनी सखी को उपालम्भ भी देती है।

`वृषभानुजा` नाटिका में चम्पकलता राधा का कृष्ण से समागम कराने के उद्देश्य से कृष्ण से घर जाने की अनुमति मांगती है और कृष्ण उसकी अभिरुचि स्वीकार करते हैं। इसी समय राधा चम्पकलता से हारलता के मध्य में रहने वाली महानीलमणि के गिरने पर उसके अन्वेषण के लिए कहती है। यहां पर चम्पकलता उस नीलमणि को दुर्लभ कह कर परिहास करती है और कृष्ण की तरफ दृष्टिपात करती है। इस समय

---

१. रसमंजरी, पृ० १६६-२०६।

२. वृषभानुजा नाटिका, द्वितीय अंक, पृ० २६।

वह राधा के हृदय को भी उपालम्भ देती है जो कि मणिहार के मध्य में उत्कण्ठापूर्वक शोभा को प्राप्त नहीं होता है।

इस प्रकार के और भी उदाहरण दृष्टिपथ में आते हैं परन्तु उन सब का विवेचन करना यहाँ संभव नहीं है। साहित्यदर्पणकार ने तीन प्रकार के दूतों की भाँति तीन प्रकार की दूतियाँ भी बतायी हैं। तीन प्रकार के दूत-- निसृष्टार्थ, मितार्थ और संदेशहारक होते हैं।

निसृष्टार्थ दोनों के भाव समझ कर स्वयं उत्तर दे देता है और यथोचित कार्य कर देता है। मितार्थ थोड़ी बात करने पर भी जिस कार्य के लिए भेजा गया है उसे सिद्ध करके ही आता है। संदेशहारक उतनी ही बातचीत करता है जितनी बतायी जाती है।[1]

इस प्रकार के दूतों की भाँति दूतियां भी इसी प्रकार का कार्य करती एवं कहीं-कहीं दृष्टिगत होती हैं। रूपगोस्वामी के "उज्ज्वलनीलमणि" में तो कृष्ण की वंशी को भी दूती के रूप में संकेत किया गया है।[2]

इस प्रकार से नायिका की सहायिकाओं के वर्णन के समय दूती और सखी का जो विवरण प्राप्त होता है उससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है और कभी दूती भी नायिका की सखी बन सकती है। दूती और सखी का कार्य यद्यपि भानुदत्त ने "रसमंजरी" में भिन्न-भिन्न प्रदर्शित किया है परन्तु कृष्णपरक नाट्यकृतियों में तो सखी ही दूती का रूप धारण कर लेती है।

३--नायिकाश्रित अलंकार विवेचन-- इसके बाद नायिकाओं के अलंकारों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि ये अलंकार अनुप्रास एवं उपमादि शब्दालंकार से सर्वथा पृथक् हैं। दशरूपक में कहा गया है-- यौवन में सत्व से उत्पन्न होने वाली स्त्रियों के बीस अलंकार होते हैं।[3]

नाट्यशास्त्र अभिनव भारती,[4] नाट्यदर्पण,[5] भावप्रकाश,[6] साहित्यदर्पण[7] में नायिका के २८ अलंकारों का वर्णन किया गया है।

---

१. साहित्यदर्पण--३।५७-५१
२. उज्ज्वलनीलमणि--रूपगोस्वामी, पृ० ४७।
३. यौवने सत्त्वजा: स्त्रीणामलंकारास्तु विंशतिः।--दशरूपक, पृ० १६२।
४. नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती--२२।४
५. नाट्यदर्पण--४।२५१
६. भावप्रकाश--पृ० ६ पं० २०।
७. साहित्यदर्पण--३।८६-६२।

दशरूपक में सात्त्विक अलंकारों में भाव, हेला, हाव ये तीन शरीरज अलंकार हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये सात भाव अयत्नज अलंकार हैं।[1] लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विहृत, ये दस भाव स्वभावज समझने चाहिए।[2]

यद्यपि इन सब का अलग-अलग व्याख्यान करके उदाहरण देना संभव भी नहीं है और साथ ही साथ यह शोध विषय से साक्षात् सम्बन्धित भी नहीं है जिसका विस्तृत व्याख्यान भी किया जाए तथापि कुछ का नामोल्लेख करके कुछ अलंकारों का स्वरूप प्रदर्शित किया जा रहा है।

निर्विकारात्मक सत्त्व से उत्पन्न होने वाला प्रथम विकार भाव कहलाता है।[3]

"विदग्धमाधव" नाटक में जब राधा वृन्दावन को देख कर ललिता से पूछती है कि "यह वही वृन्दावन है जिसकी मधुरिमा का वर्णन तुम मुझसे बार-बार करती हो।" ललिता कहती है--" सखि, कृष्ण के विहारतरु की यही नवम वाटिका है।[4]" कृष्ण नामोच्चारण से ही राधा के निर्विकार मन में रति के विकार का प्रथम स्फुरण होता है और वह अपने मन में कहती है --" दोनों अक्षरों का माधुर्य विलक्षण है, जिसका नाम भी ललनाओं के मन को मोह लेता है, वह नामवाला कैसा होगा?[5]

यह राधा में कामभावना के नूतन उन्मेष का मनोहारी प्रदर्शन किया गया है।

---

१. भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजाः।
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजाः॥ -- दशरूपक--२।३०-३१

२. लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिंचितम्।
मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बोको ललितं तथा।
विहृतं चेति विज्ञेया दश भावाः स्वभावजाः।-- दशरूपक २।३२

३. निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया -- दशरूपक २।३३

४. हला, दृश्यतां कृष्णस्य लीलावृन्दवाटिका।-- विदग्धमाधव, पृ० ३८

५. अहो मधुरत्वं अक्षरद्वयी:। यस्य नामापि रामाचित्तमित्थं मोहयति स खलु कीदृशो वा नामी इति। --वही, पृ० ३८।

भाव वह है जो उभरा हुआ रतिभाव, जो आंख तथा भौंह आदि में विकार उत्पन्न करता है।[1]

विदग्धमाधव नाटक में भी इसका भी स्वरूप राधा में प्रकट होता हुआ दिखायी पड़ता है जो कृष्ण की कामभावना को जागृत करने में समर्थ है।

कृष्ण मधुमंगल से कहते हैं--" चंचल भ्रूलताओं के द्वारा प्रत्येक दिशा में कटाक्ष संचारिणी हिरणी को मानो नेत्रों के विलास भार की शिक्षा देती हुई बिम्ब के समान ओठों वाली उस राधा ने मेरे दिल पर क्षेप से भीषण कामदेव के अनुपम पुष्पनिर्मित धनुष को चढ़ा लिया है (अर्थात् राधा के प्रथम साक्षात्कार में ही मैं कामदेव के बाण से बिंध गया हूं।[2])

यहां कृष्ण के कथन से ही राधा की भ्रूभंगिमा प्रदर्शित की गयी है जो कृष्ण को अनुराग-पाश में बांध डालती है। जब हाव स्पष्ट रूप से रतिभाव का सूचक होता है तो हेला कहलाती है।[3]

वृषभानुजा नाटिका में जब राधा से उन्मादावस्था में चम्पकलता मिलती है तब वह उसके हृदय का वृत्तान्त जान लेती है कि अब उसके हृदय में मदन का प्रवेश हो गया है और राधा में बाह्यज्ञान की समाप्ति हो गयी है। राधा की कामभावना को प्रदर्शित करती हुई चम्पकलता कहती है--" यह सुन्दरी सखियों के समीप में रहती हुई भी प्रणय-क्रीड़ा प्रसंग में ही दत्तचित्त होती हुई कन्याओं के समीप विद्यमान होती हुई भी इसी प्रणय प्रसंग में चित्त लगाती है।[4]

यह हेला भी राधा की रति भावना को सूचित करने वाला है जो उसके आंगिक कार्यकलाप से प्रदर्शित होता है। "विदग्धमाधव" नाटक में कृष्ण के आंगिक सौन्दर्य को देख कर वृन्दा के हृदय में हलचल सी उठती है। वृन्दा कृष्ण के स्वरूप का वर्णन करती है जिससे काम भावना की जागृति होती है। वह कहती है--" मजीठ से रंगे

---

१. हेवाकसस्तु शृंगारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत् ।--दशरूपक पृ० १६५ ।
२. विदग्धमाधव नाटक--२।२६ ।
३. स एव हेला सुव्यक्तशृंगाररससूचिका ।--दशरूपक २।३४
४. आलीजनेषु सुतनुः सखि संप्रवृत्ते, कर्णं ददाति रतिकेलिकथाप्रसंगे बालाजनेन पुरतोऽपि विलम्बमाने लीलाविधौ न पुनरेव ददाति चित्तम् ।।-- वृषभानुजा नाटिका ३।८ ।

हुए महीन वस्त्र से भी अधिक उज्ज्वल कान्तियुक्त नखचिह्नों को धारण करती हुई, क्रीडा की मस्ती में गिरे हुए मयूरपंख वाली तथा चमकीले मुक्ता के समान बड़े सघन श्रमबिन्दुओं से अत्यधिक बढ़ी हुई कृष्ण की यह मूर्ति हमारी बुद्धि को मदमस्त बना रही है।"[1]

कृष्ण के आंगिक स्वरूप से रति भावना स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रही है।

यत्नज अलंकारों के वर्णन में शोभा सबसे पहले उपस्थित होता है। रूप, उपभोग और तारुण्य के द्वारा अंगों का सौन्दर्य बढ़ जाना ही शोभा कहलाती है।[2]

"रुक्मिणी परिणय" नाटक में वासुभद्र स्वप्न में देखी गयी रुक्मिणी की रूपश्री का वर्णन विदूषक से करते हैं --रुक्मिणी का सौन्दर्य तपाये हुए स्वर्णखण्ड के सदृश देदीप्यमान है और नेत्र विस्तृत हैं। कपोल, बिम्बाफल के सादृश्य से युक्त हैं। अंगों की सुकुमारता कहाँ तक कही जाये, गुच्छे के रूप में खिलती हुई शिरीष कलिका भी जिनके सामने कठोर है।"[3]

रुक्मिणी के रूप एवं तारुण्य पर- यहाँ पर अनघ और सुकुमार रूप से प्रदर्शित किया गया है।

जब कामभाव के द्वारा उस (शोभा) की द्युति बढ़ जाती है तो वही कान्ति कहलाती है।[4]

वृषभानुजा नाटिका में चम्पकलता राधा की अवस्था का अनुमान लगाकर उसकी चेष्टा का भी अनुमान कर लेती है। कामभाव के आधिक्य के कारण राधा का चम्पकपुष्प की भाँति कोमल सुन्दर शरीर स्वेद धारण करके कृष्ण का स्मरण करता है।[5]

"विदग्धमाधव" नाटक में भी कामभाव के कारण बढ़ी हुई राधा की कांति को देख कर कृष्ण आलिंगन की कामना करते हैं। वह कहते हैं--" तुम्हारे स्तनों पर मुक्ताओं के लिए प्राप्त करने योग्य सालोक्य रूप मुक्ति देख कर मैंने सभी मित्रों की संगति छोड़कर

---

१. विदग्धमाधव नाटक--२।४६

२. रूपोपभोगतारुण्यैः शोभांगानां विभूषणम्।--दशरूपक, पृ० १६७।

३. रुक्मिणी परिणय--२।७

४. मन्मथाधापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता।--दशरूपक--२।३५।

५. नव्याम्भोधरमम्बरं सुकिल...सौदामिनीसंगतं
ईर्ष्यं पश्यति बर्हिणां च विरुतिं श्रुत्वा सरोमोद्गमम्।
कम्पं चम्पकदामकोमलतनौ स्वेदं च धत्ते तनौ
मन्ये मन्मथकोटिमोहनवपुः कृष्णोऽनया स्मर्यते।।
--वृषभानुजा नाटिका--४।५।

कैवल्य को प्राप्त किया है । तिल भर की विषमता का आश्रय नहीं लेने वाले इन दोनों कुचों के बीच सघन अमृत की वर्षा करने वाले सायुज्यदान रूप आनन्दोत्सवों से मुझे शीघ्र पूर्ण करो ।[1] यहां पर भी राधा के स्वरूप में कान्ति प्रदर्शन दृष्टिगत हो रहा है । सब अवस्थाओं में रमणीयता ही माधुर्य है ।[2]

" विदग्धमाधव" नाटक में कृष्ण राधा के सहज सौन्दर्य का वर्णन करते हैं जिसे कृत्रिम सजावट की आवश्यकता नहीं है । कृष्ण कहते हैं-- " हे राधे, ललाट तक लटकने वाले तुम्हारे केशों ने कस्तूरिका पत्र को व्यर्थ कर दिया है । तुम्हारे दोनों नेत्रों ने कानों में लगे हुए कमल के जोड़े को बेकार कर दिया है । मुस्कान की शोभा हार भी पर्याप्त रूप से निरर्थक ही सिद्ध हो गया है । इस प्रकार तुम्हें सजावट की क्या आवश्यकता तुम तो अपने अंगों से ही चमक रही हो[3] ।

यहां पर भी राधा को सब अवस्थाओं में रमणीय ही प्रदर्शित किया गया है । कान्ति का विस्तार ही दीप्ति कहलाता है ।[4]

"रुक्मिणी परिणय" नाटक में वासुदेव रुक्मिणी के यौवन की लावण्य सुधापंक में निमग्न होकर ध्यानमग्न होकर कहते हैं--" उसके असीम मुखकान्ति रूप जलधि में निश्चित ही चन्द्रमा भी बिन्दु है । अधर की मणिकान्तिरूपी सुकुमारता में किसलय भी न्यून ही है[5] ।

रुक्मिणी में कान्ति का विस्तार मनोहारी रूप में दर्शित हो रहा है ।

---

१. मुक्तानामुपलभ्यमेव कुचयोः सालोक्यमालोक्य ते
   जित्वा संगमसंभ्रमस्तदुदां कैवल्यमासेदिवान् ।
   वैषम्यं तिलमप्यनाश्रितवतोः सम्मुख सान्द्रामृतस्यन्दिभि-
   र्मां पूर्णं कुरु तन्वि तूर्णमनयोः सायुज्यदानोत्सवैः । --विदग्धमाधव-३।५२

२. अनुल्वणत्वं माधुर्यम् ।--दशरूपक पृ० १६६ ।

३. नीतं ते पुनरुक्ततां भ्रमरकैः कस्तूरिकापत्रकं
   नेत्राभ्यां विफलीकृतं कुवलयद्वन्द्वं च कर्णार्पितम् ।
   हारश्च स्मितकान्तिभंगिभिरलं पिष्टानुपेषीकृतः
   किं राधे तव मण्डनेन नितरामंगैरसि द्योतिता ।--विदग्धमाधव--७।४६ ।

४. दीप्तिः कान्तेश्च विस्तरः ।--दशरूपक,पृ० १७० ।

५. तस्या निःसीममुखद्युतिजलधेर्नियतमिन्दुरपि बिन्दुः ।
   अधरमणिदीधितानातिमृदुलः पल्लवोऽपि लवः ।।--रुक्मिणी परिणय-१।१०

साध्वस रहित होना ही प्रागल्भ्य कहलाता है[1]। `विदग्धमाधव` नाटक में राधा की प्रगल्भता का स्वरूप भी दिखायी पड़ता है[2]। इसका वर्णन प्रगल्भा नायिका के स्वरूप को स्पष्ट करते समय किया जा चुका है।

सभी अवस्थाओं में विनम्र रहना ही `औदार्य` कहलाता है[3]। विदग्धमाधव नाटक में ही कृष्ण के द्वारा चन्द्रावली की उदारता सुबल को बतलायी गयी है--(चन्द्रावली के) नेत्र के कोने में सरलता की किसी निष्ठा ने प्रवेश किया। वचन में विनययुक्त प्रशंसा की भंगिमा ने निवास किया। इससे मेरे हृदय में बहुत अधिक घबराहट हुई। उसके हृदय में अनुकूलता ने ही क्रोध को अच्छी तरह दूर कर दिया है।` (अर्थात् मेरे प्रति उसके स्नेहभाव ने हृदय के क्रोध को दबा दिया है)[4]।

चन्द्रावली द्वारा मान धारण करने पर भी औदार्य गुण का प्रदर्शन सब तरह से हो रहा है।

चंचलता से रहित तथा आत्मश्लाघा से शून्य चित्तवृत्ति धैर्य कहलाती है[5]। `विदग्धमाधव` नाटक में राधा कृष्ण के वियोग में इस प्रकार का कथन करती है जिससे उसमें आत्मश्लाघा का प्रदर्शन नहीं होता है। राधा धैर्ययुक्त होने के कारण अपने धैर्य की ही भर्त्सना करती है। इससे उसकी आत्मश्लाघा का निराकरण होता है। वह कहती है --` जिसके संभोग सुख की आशा से मैंने गुरुजनों से मिली लज्जा को शिथिल कर दिया। और हे सखि, प्राणों से भी अधिक प्रिय तुम लोगों को कष्ट पहुंचाया। पतिव्रता स्त्रियों द्वारा स्वीकृत उस महान् धर्म की भी परवाह नहीं की। मेरे धैर्य को धिक्कार है कि उसके द्वारा उपेक्षित होकर भी मैं पापिनी जी रही हूं[6]।` इस प्रकार के राधा के कथन में आत्मप्रशंसा की गंध तक का प्रकाशन नहीं होता है।

स्वाभाविक अलंकारों के वर्णन में सर्वप्रथम `लीला` का ही वर्णन दशरूपक में किया गया है।

---

१. निरसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यम् --दशरूपक, पृ० १७० ।
२. विदग्धमाधव--४।२५ ।
३. औदार्यं प्रश्रयः सदा ।--दशरूपक--२।३६ ।
४. न्यविशत नयनान्ते कापि सारल्यनिष्ठा
 वचसि च विनयेन स्तोत्रभंगी न्यवात्सीत् ।
 अजनि च मयि भूयान्संभ्रमस्तेन तस्या
 व्यवृणुत हृदि मन्युं सुष्ठु दाक्षिण्यमेव ।।--विदग्धमाधव--४।१३
५. चपलाऽविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना ।-- दशरूपक, पृ० १७९ ।
६. विदग्धमाधव--२।४१

मधुर अंगचेष्टाओं द्वारा प्रियतम का अनुकरण करना ही लीला कहलाती है।[1]

विदग्धमाधव नाटक में राधा कृष्ण की बांसुरी को प्राप्त कर उसका वादन करती है। पहले तो वह मुरली को उपालम्भ देती है। इसके बाद विशाखा कहती है--सखि यह मुरली आचार्या है जो कि वायु की ओर कर देने पर स्वयं बजने लगती है।" विशाखा के इस कथन के बाद राधिका--" सखि, परीक्षा लूंगी, मुरली को हवा में कर देती है।"[2]

इस प्रकार से नायक श्रीकृष्ण की तरह ही राधा भी मुरली वादन में अपने प्रिय का अनुकरण करती है।

प्रिय के दर्शन आदि के अवसर पर (नायिका) के अंग, चेष्टा तथा वचनों में जो एक विशेषता आ जाती है, वही विलास कहलाता है।[3]

विदग्धमाधव नाटक में कृष्ण के दर्शन के लिए आकुल राधा को देख कर विशाखा तत्काल प्रत्यक्ष हुए कृष्ण के दर्शनार्थ राधा से जब कहती है--" सखि, जिसके लिए दुष्ट कामदेव के व्यापक विनाश में गिरती हो अथवा अपने कोमल शरीर को कठिन प्रेम की आग में जला रही हो, वह विलासी प्राणनाथ समस्त नूतन मयूरपुच्छ का मुकुट पहने तुम्हारे समक्ष प्रकट हो रहा है," उस समय कृष्ण को देख कर राधा की अंग चेष्टा एवं वचनों में अपूर्व विशेषता प्रदर्शित हो जाती है। राधा कृष्ण पर कटाक्ष डालती हुई मन ही मन में कहती है--" हे हृदय तुम धन्य हो, सौभाग्य से तुमने एक क्षण विलम्ब किया।"[4]

जो राधा कृष्ण के दर्शन कर पाने में अपने को असमर्थ समझकर देहत्याग का ही विचार कर चुकी है, वहां पर कृष्ण के दर्शन से उसे संजीवनी औषधि की प्राप्ति हो जाती है और जीवन धारण करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। अतएव यह " विलास " नामक अयत्नज अलंकार का सुन्दर उदाहरण है।

---

१. प्रियानुकरणं लीला मधुरांगविचेष्टितैः। --दशरूपक--२।३७

२. सखि, आचार्यैव वंशी, यन्मारुताभिमुखीकृता स्वयं शब्दायते।
सखि, परीक्षिष्ये (इति तथा करोति)--विदग्धमाधव, पृ० २११।

३. तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु"।--दशरूपक, पृ० १७३।

४. विदग्धमाधव-- २।५८।

प्रिय के आगमन आदि के समय शीघ्रता के कारण आभूषणों के स्थान का उलट-फेर हो जाना विभ्रम कहलाता है।[1] "विदग्धमाधव" में इसका भी अत्यधिक सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है। ललिता राधा से परिहासपूर्वक कहती है--" रोमराजि के ऊपर तुमने नीलरत्न के बने हार को रख लिया है। दोनों कुचकलशों पर कुंकुम समूह के गर्भंग का विन्यास किया है। अंग में अंजन और नेत्रों में कस्तूरी को लगाया है। इस प्रकार कंस शत्रु से मिलने की हड़बड़ी में तुमने संसार को भुला दिया है,ऐसा मैं समझती हूं।[2]"

यहां पर राधा कृष्ण के साथ अभिसार करने की हड़बड़ाहट में ही इस प्रकार का श्रृंगार करती है,तभी तो ललिता कह ही देती है कि अंधकार में अभिसार के उपयुक्त श्यामल प्रसाधनों से क्या तुमने अपने को सुसज्जित कर लिया है ?"

इस प्रकार से यह विभ्रम का मनोरम उदाहरण प्रस्तुत करने के पश्चात् अन्य विच्छित्ति,किलकिंचित,मोट्टायित,कुट्टमित,बिब्बोक,ललित,विहृत इन स्वाभाविक अलंकारों का सुन्दर रूप भी नाटकों में देखनेको मिलता है। इन सब का उदाहरण विस्तारभय की दृष्टि से नहीं दिया जा रहा है क्योंकि उपर्युक्त मनोरम अलंकारों के समतुल्य ही इन अलंकारों में भी सौन्दर्य आंका जा सकता है।

<u>४-- रस-विवेचन--</u> कृष्णकथाश्रित नाटकों में वस्तु एवं पात्र विवेचन पर यथासंभव प्रयास करने के पश्चात् रस विवेचन के सम्बन्ध में भी पर्याप्त जानकारी की आवश्यकता है। काव्य या नाटक में रस ही मूलभूत तत्व है जिसके कारण कोई भी रचना सरस कहलाने की अधिकारिणी है। नीरस काव्य न तो हृदयानुरंजन ही करते हैं जिससे मानसिक वृत्ति को संतोष प्राप्त हो और न ही अपने उद्देश्य की प्राप्ति में फलीभूत होते हैं।

जिस प्रकार से स्वादिष्ट भोजन आत्मतुष्टि प्रदान करता है उसी प्रकार रीति, गुण एवं अलंकार से संवलित रस सहृदय को रसास्वादन से रसाभिभूत करता है।

---

१. विभ्रमस्त्वरया कालेभूषास्थानविपर्ययः।--दशरूपक,पृ० १७४।

२. धम्मिल्लोपरि नीलरत्नरचितो हारस्त्वया रोपितो
विन्यस्त: कुचकुम्भयो: कुवलयश्रेणीकृतो गर्भग: ।
अंगे कल्पितमञ्जनं विनिहिता कस्तूरिका नेत्रयो:
कंसारेरभिसारसंभ्रमभरादन्धे जगद्विस्मृतम् ।।

--विदग्धमाधव-- ४।२९ ।

नीरसकाव्य उसी भांति रसिकों के लिए तुष्टिप्रद नहीं होता है जैसे दुस्वाद पाक भी नमक से रहित भोजन,[१] इस प्रकार से अन्य आचार्यों ने भी रस को ही काव्य की आत्मा उद्घोषित किया है।

अधिकांश आचार्यों की भांति राजशेखर ने भी "काव्यमीमांसा" में रस को काव्य की आत्मा माना है।[२] इसी प्रकार आचार्यों ने आनन्द को भी काव्य का पार्यन्तिक प्रयोजन बताया है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में रस को ही काव्य की आत्मा मानकर अलग से उसकी सत्ता स्वीकार की है। रस वाच्य तो होता नहीं है व्यंग्य ही होता है। अतएव रस वाच्यार्थ से प्रकट न होकर हृदयानुभूति में व्यंजित होता है।

मनुष्य में वासना रूप से विद्यमान रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद आदि रहते हैं। इन सब को रसप्रकरण में स्थायी भाव कहा जाता है।

(क) विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव-- इन स्थायी भावों को उद्दीप्त करने एवं उसे आस्वाद्य बनाने के लिए विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों की संयोजना कवि करता है।

दशरूपक में कहा ही गया है कि विभाव, अनुभव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादन के योग्य किया गया स्थायी भाव रस कहलाता है।[३] विभावादि स्थायी भाव के पुष्ट करने में समर्थ होते हैं।

विभाव के विषय में कहा गया है-- उन (रस के उद्भावकों) में विभाव वह है जो स्वयं जाना हुआ होकर (स्थायी) भाव को पुष्ट करता है। यह आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो प्रकार का होता है।[४]

श्रीकृष्ण रति ही स्थायी भाव है और उसके आलम्बन श्रीकृष्ण और व्रजबालाएं हैं। श्रीकृष्णचरिताश्रित नाटकों में श्रीकृष्ण के चरित्र को अभिनीत करने वाले पात्र ही सामाजिकों के आलम्बन आदि हो जाया करते हैं क्योंकि वास्तविक नायक श्रीकृष्ण की बाह्यजगत् में उपस्थिति नहीं होती है। सामाजिक श्रीकृष्ण को ही आलम्बन बना कर उनकी लीलाओं का आस्वादन करके उन्हें प्रत्यक्षीभूत ही समझता है। सहृदय के मस्तिष्क

१. रसप्रदीप--पृ० १७।
२. काव्यमीमांसा, पृ० ६।
३. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ।।--दशरूपक, पृ० २५७।
४. ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ।।-- दशरूपक पृ० २५८।

में श्रीकृष्ण का दिव्यचरित संस्कार रूप से विद्यमान रहता है तभी तो उसी के माध्यम से दिव्य विशुद्ध मधुररस का पान करता है और उनमें प्राकृत जनोचित श्रृंगार का रूप नहीं देखता है।

श्रीकृष्ण और राधादि ब्रजबालाओं में रति स्थायी भाव ही आलम्बन विभाव बनता है जिसको उद्दीप्त करने के लिए उद्दीपन विभाव की आवश्यकता पड़ती है। उद्दीपन विभाव स्थायी भाव के उद्दीप्त करने में सहायक होता है। श्रीकृष्ण की रति को उद्दीप्त करने में सहायक मूलभूत तत्वों के उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मुरली शब्दादि उद्दीपन विभाव है जो कि श्रवणपुट में निनादित होकर ब्रजबालाओं के धैर्य को भंग करके श्रीकृष्ण समागम के लिए प्रेरित करती है। यही मुरली शब्द उद्दीपन विभाव 'रासलीला' की योजना करता है। मुरलीरव से आकृष्ट गोपियाँ परमानन्द में निमग्न हो जाना चाहती हैं और भक्तों के अभीप्सित अभिप्राय को यथार्थ में परिणत करने के लिए श्रीकृष्ण द्वारा रासलीला की योजना की जाती है।

'रासलीला' शरत्कालीन पूर्णिमा में सम्पन्न होती है। इस समय भी श्रीकृष्ण की रति को चरम रूप देने के लिए उद्दीपन विभाव की योजना होती है। शरदकाल में असमय रात्रि में पुष्पों का खिल जाना उद्दीपन विभाव की सामग्री को प्रस्तुत करता है।

श्रीमद्भागवतपुराण के रासलीला अध्याय ३३ में शरत्काल में मल्लिकापुष्प, चन्द्रिका आदि उद्दीपन सामग्री को भगवान् के द्वारा वीक्षित ही कहा गया है। यह लौकिक न होकर अलौकिक है जो भगवान् के रति रूप स्थायी भाव को पुष्ट करती है।

श्रीकृष्णचरिताश्रित नाटकों में अधिकांशतः रति स्थायी भाव ही दृष्टिगोचर होता है क्योंकि श्रीकृष्ण का कमनीय श्रृंगारिक स्वरूप ही नाटकों में दृष्टिगोचर होता है। इसी श्रृंगार को और भी अधिक मनोरम रूप से प्रस्तुत करने के लिए अधिकांश कवियों एवं नाटककारों ने प्रयास किया है फिर भी कहीं-कहीं श्रृंगार का उथला रूप भी दिखाई पड़ जाता है। श्रीकृष्ण जैसे दिव्य पुरुष के लिए यह बात ~~सोचनीय~~ शोचनीय है कि उनके महान् व्यक्तित्व वाला स्वरूप जैसे गीता के उपदेष्टा आदि का प्रदर्शन नाटकों में नहीं किया गया। इसका एकमात्र कारण यह है कि नाटक की रचना दुःखों के निवारण हेतु और मनोरंजन के लिए ही की जाती है अतएव उनमें उन्हीं तत्वों का सन्निवेश किया गया है जो कि प्राकृतजन के लिए भी मनोरंजन सामग्री को प्रस्तुत कर सकें।

श्रीकृष्ण में शृंगारिक स्वरूप के साथ ही साथ उनकी वीरता का प्रदर्शन भी अधिकांश नाटकों में है जो उन्हें दिव्य वीर पुरुष रूप से सम्बोधित करता है।

नाटकों की यह परम्परा रही है कि चित्र की संयोजना द्वारा भी स्थायी भाव को पुष्ट किया जाता है। इस प्रकार की संयोजना कृष्णकथाश्रित नाटकों में दिखायी पड़ती है। "विदग्धमाधव" नाटक में राधा और कृष्ण दोनों ही गुणकीर्तन श्रवण से अनुराग प्रस्फुटित होता है और विशाखा द्वारा राधा के चित्रपट दिखा देने से अनुराग और दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार से गुण कीर्तन, सखी उद्दीपन और चित्र पर प्रदर्शन से नाटककार ने पूर्वराग की सामग्री को प्रस्तुत करने के लिए उद्दीपन की योजना की है।

मुरलीनिनाद राधा के प्रेम को और भी अधिक दृढ़ीभूत करने के लिए श्रवणगोचर होता है और यही उद्दीपन सामग्री राधा के अनुराग को पल्लवित करके कहलाती है-- "कदम्ब वृक्ष के बीच से फैलता हुआ न जाने कौन-सा शब्द कर्णकुहर में प्रवेश कर गया। हा! सखि, जिससे आज कुलीन नारी समाज में किसी निन्दा योग्य अवस्था को प्राप्त हुई हूं।"[1]

इस प्रकार से उद्दीपन विभाव नायक नायिका में स्थायी रूप से विद्यमान रहने वाले रति आदि भावों को उद्दीप्त करने में यथासंभव प्रयास करता ही रहता है।

श्रीरूपगोस्वामी के उज्ज्वलनीलमणि" नामक ग्रन्थ में "रसप्रकरण" को विशेष स्थान दिया गया है। श्रीरूप गोस्वामी ने रस की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए और उसे उच्चपद पर अधिष्ठित करने के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की। अन्य नाटककारों ने रस के सम्बन्ध में परकीया भाव को जो रसाभास के अन्तर्गत रखा है उसी के निराकरण करने के लिए योगमाया को रस परिपोष के लिए रखा है।

इसी प्रकार नाटककारों ने भी रस की पुष्टि के लिए सहायक विभावादि का ग्रहण महाभारतादि की रसवती कथावस्तु में औचित्यानुसार ही किया है। इसी के माध्यम से सभी रसकाव्यों एवं नाटकों का अपनी विचित्र कल्पना शक्ति द्वारा प्रणयन किया। अंगीरस के उपयुक्त ही उद्दीपन विभाव की भी संयोजना की गयी।

अनुभाव रति आदि भावों को सूचित करने वाला विकार होता है।[2]

---

१. नादः कदम्बविटपान्तरतो विसर्पन्को नाम कर्णपदवीमविशन्न जाने।
हा हा कुलीनगृहिणीगणगर्हणीयां येनाद्य कामपि दशां सखि लम्भितास्मि।
--विदग्धमाधव--१।३७

२. वही--७।३८।

श्रृंगारप्रधान नाटकों में रति आदि स्थायीभाव को सामाजिकों को अनुभव कराने के लिए रस को परिपुष्ट करने के अभिप्राय से ही कटाक्ष आदि अनुभावों का प्रयोग नाटकों में अधिकांश ही किया जाता है।

रसिकों के हृदय को पूर्णरूप से अनुभावित करने के कारण यह अनुभाव कहलाते हैं। अनुभाव की व्युत्पत्ति इस प्रकार से होती है" भावात्‌ पश्चात्‌ भवति अनुभाव" अर्थात्‌ जो स्थायी भाव का अनुगमन करता है, वह अनुभाव कहलाता है।

"भ्रूविक्षेप" आदि रति स्थायी भाव के पुष्ट हो जाने के बाद दृष्टिगोचर होते हैं।

विदग्धमाधव नाटक में इसका अत्यन्त रमणीय रूप प्रस्तुत उस समय होता है जब राधा और कृष्ण की पारस्परिक केलिक्रीडा चल रही होती है, उस समय वह कृष्ण का विरोध करती तो है पर उसमें भी समर्थन भी झलक तो दिखलायी पड़ ही जाती है। वृन्दा कहती है-- (राधा की) भ्रू-भंगिमा मुस्कराहट से युक्त है। " नहीं, नहीं यह कथन मात्र पीडायुक्त है। हाथ की रुकावट भी शिथिल है। चिल्लाने में शुष्कता अर्थात्‌ दु:ख का अभाव है। इस प्रकार राधा ने अपने भाव को छिपाने का जो उपक्रम किया है उससे मुरारी के प्रति उसका स्नेह भाव ही पूर्ण रूप से व्यक्त हो रहा है।"[1]

इस स्थल पर राधा के द्वारा भ्रूविक्षेप आदि से रतिभाव की सम्मति स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाती है। राधा के असम्मति सूचक कथन" नहीं-नहीं" कह देने पर भी मदाकुल होने के कारण सात्त्विक विकार के रूप में सम्मति की व्यंजना हो जाती है। अन्य जो सात्त्विक भाव हैं यद्यपि वे अनुभाव ही हैं तथापि पृथक रूप से भाव कहलाते हैं। क्योंकि उनकी सत्त्व से ही उत्पत्ति हुआ करती है। "सत्त्व" का अर्थ है किसी भाव से भावित करना।[2]

(ख) <u>सात्त्विक भाव विवेचन</u>-- नाट्यशास्त्र में अभिनय के संदर्भ में सत्त्व शब्द की व्याख्या की गयी है। सत्त्व मन की एक अवस्था है जो एकाग्रता से उत्पन्न होती है जब मनुष्य एक दूसरे के सुख-दु:ख में तन्मय हो जाता है और उसका मन तद्भाव भावित हो जाता है, उस समय हर्ष, विषाद को व्यक्त करने वाले सात्त्विकभाव रोमांच और अश्रु की उपस्थिति हो जाती है।

---

१. विदग्धमाधव--७।३८

२. पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विका: ।
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्‌ ।।-- दशरूपक ४।४ ।

अभिनेता के सुख-दुःख को सात्त्विक कहते हैं और उसमें अश्रु रोमांच आदि की उपस्थिति होती है वही सात्त्विक भाव कहलाती है । यह संख्या में आठ होते हैं— स्तम्भ,प्रलय,रोमांच,स्वेद,वैवर्ण्य,वैपथु,अश्रु,तथा वैस्वर्य । इन अंगों में क्रियारहित हो जाना स्तम्भ है,चेतना का नष्ट हो जाना प्रलय है ।[1]

इन सब सात्त्विक भावों का दर्शन श्रीकृष्ण चरित का अभिनय करने वाले अभिनेता में होता है और वह उनका सुख या दुःख अपना ही समझ कर उसको उसी रूप में अभिनीत करता है ।

सुख-दुख आदि भावों से सहृदय के चित्त के भावित कर देना भाव कहलाता है । ये भाव स्थायी और व्यभिचारी नाम से दो प्रकार के होते हैं ।

रति आदि स्थायी भाव का जो उपर्युक्त कथन किया गया है उसका स्वरूप भी तो प्रदर्शन करना आवश्यक है तभी तो उसकी पृष्ठभूमि में विभाव-अनुभावादि प्रतिष्ठित किये जाते हैं । स्थायी भाव किसी भी विरुद्ध भाव से ग्रसित नहीं होता है । वह प्रधान होने के कारण सबकोआत्मसात कर लेता है ।

दशरूपककार ने इसके सम्बन्ध में कहा है कि जो रति आदि भाव अपने भाव से प्रतिकूल अथवा अनुकूल किसी प्रकार के भावों के द्वारा विच्छिन्न नहीं होता और लवणाकार के समान अन्य सभी भावों को आत्मसात् कर लेता है,वह स्थायी भाव कहलाता है ।[2]

रति आदि स्थायी भाव में अन्य विरोधी भावों एवं व्यभिचारियों के रहने पर भी वह प्रधान रूप से विद्यमान रहता है जबकि अन्य वासना रूप से विद्यमान रहने वाले भाव व्यक्ति के मन में उद्बुद्ध होकर विलीन हो जाते हैं ।

'प्रद्युम्नाभ्युदय' नाटक में भी शृंगार रस के मुख्य होने पर भी वीररस का भी अंगरस के रूप में निर्देश हुआ है । प्रद्युम्न द्वारा वज्रनाभ वध के प्रसंग से भी प्रभावती और प्रद्युम्न में स्थित रति स्थायी भाव विच्छिन्न नहीं होता क्योंकि यहां पर वज्रनाभ के वध का प्रसंग भी प्रधान रस को पुष्ट करने के लिए ही किया गया है । वज्रनाभ के वध के बाद प्रद्युम्न को सिद्धि मिलने के साथ ही साथ प्रभावती से विवाह होने की भी संभावना निश्चित हो जाती है।

---

१. दशरूपक ४।५-६

२. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयन्त्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।।
—वही ४।३४ ।

से समझने के कारण सहृदय में रस की व्यंजना उतनी नहीं हो पाती है जितनी साधारण पात्रों में देखने पर होती है । इस प्रकार से सहृदय के मस्तिष्क में श्रीकृष्ण राधा, रुक्मिणी आदि संस्कार रूप से तो विद्य ही रहते हैं परन्तु नाट्यकादि में केवल नायक या नायिका के रूप में वर्णित होने के कारण वह सहृदयों के आलम्बन विभाव बन ही जाते हैं । सहृदय का हृदय नाटकादि में अभिनीत श्रीकृष्ण आदि के रत्यादि भावों से भावित हो जाता है ।

स्थायी भाव एवं विभानुभाव का स्वरूप स्पष्ट करने के पश्चात् विविध प्रकार से (स्थायी भाव के) अभिमुख करने वाले व्यभिचारी भाव का वर्णन करना भी आवश्यक है क्योंकि[1] यह स्थायी भाव में उसी प्रकार प्रकट होकर विलीन होते रहते हैं जैसे सागर में तरंगें ।

व्यभिचारी भाव ३३ कहे गये हैं--निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, औग्र्य, चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, मति, अलसता, वेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य तथा चपलता[2] ।

इन सब व्यभिचारी भावों का दर्शन भी नाटकों में प्रदर्शित है । समस्त कृष्ण-कथाश्रित नाटकों से इनके स्वरूप का प्रदर्शन कराने के लिए उदाहरण देना असंभव प्रतीत होता है, अतएव 'विदग्धमाधव' नाटक को श्रेष्ठ मानने के कारण उसी के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं । कतिपय व्यभिचारी भावों के उदाहरण प्रस्तुत करने से अन्य का भी स्वरूप ज्ञात किया जा सकता है ।

रूपजात गर्व का उदाहरण रूपगोस्वामी ने इतना सुन्दर प्रस्तुत किया है कि उसका अवलोकन स्वतः ही हो जाता है । ललिता पद्मा से राधा की सुन्दरता का वर्णन करती हुई कहती है--' हे सखि, वृषराशि में स्थित सूर्य की प्रशस्त कान्ति के प्रकट होने पर सैकड़ों चन्द्रावलियों की कान्ति भी धूमिल पड़ जाती है ।'

इसी प्रकार शंका का भी स्वरूप दर्शनीय है । शंका दूसरे की क्रूरता या अपने दुर्व्यवहार के कारण होने वाली अनर्थ की आशंका होती है । इसमें कम्प, शोष, इधर-उधर देखना, रंग बदल जाना और स्वरभेद आदि (अनुभाव) होते हैं ।[3]

---

१. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ।--दशरूपक--४।७

२. वही--४।८

३. अनर्थप्रतिभा शंका परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात् ।
कम्पशोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ।--दशरूपक --४।११

श्रीकृष्ण में ही शंका नामक व्यभिचारी भाव के दर्शन होते हैं जो अभिमन्यु की क्रूरता से होने वाली शंका है।

श्रीकृष्ण (सांस खींच कर) कहते हैं -- "मेरी एकान्त क्रीडा की बात के खुल जाने पर मूढ़ हृदय वाला क्रूर अभिमन्यु शीघ्र ही राधा को रोक कर घर में बन्द कर देता है अथवा कंस की राजधानी मथुरा पहुंचाता है।"[1]

उग्रता का भी मनोरम उदाहरण प्रस्तुत करने से पहले उसका भी स्वरूप प्रदर्शित करना चाहिए। इसी अभिप्राय से उग्रता के बारे में कहा गया है -- "अपराध, दुर्मुखता, क्रूरता आदि के कारण जो दुष्ट के प्रति क्रोध होता है, वह उग्रता कहलाता है। उसमें पसीना होना, सिर को हिलाना, धमकाना और पीटना आदि अनुभाव कहे गये हैं।"[2]

मुखरा श्रीकृष्ण से क्रोधित होकर कहती है -- हे चंचल, आगे नवीन नातिनी (राधा) है। तुमको धर्म से डर नहीं है। दोपहर में भी गुरु बूढ़ी की यह दृष्टि पड़ नहीं है। हे नन्दपुत्र यदि तुम दरवाजे के चबूतरे से तुरन्त नहीं चले जाते तो निर्दोष में कितना रास्ता है मथुरा का" यह मुखरा का कथन उग्रता व्यभिचारी भाव के अनुभावों का प्रदर्शन करने में समर्थ है।

इस "विदग्धमाधव" नाटक में भावसन्धि का भी सुन्दरतम रूप अभिव्यक्त होता है। राधा के रोष और स्नेह इन दोनों विरोधी भावों का युगपद् कितना मनोहारी वर्णन कवि ने किया है, यह भी दर्शनीय है।

कृष्ण राधा को देख कर कहते हैं--" एक क्षण धैर्य की मुद्रा को ग्रहण करती है तो एक क्षण चंचलता की शोभा को। एक क्षण उपेक्षापूर्ण बोली का विस्तार करती है तो दूसरे क्षण उत्कण्ठा बढ़ाने वाला वचन कहती है। एक क्षण इधर मुग्ध दृष्टि से देखती है तो एक क्षण चंचल कटाक्ष करती है। इस प्रकार क्रोध और प्रेम से व्याकुल बुद्धि वाली राधा दो प्रकार से विभक्त हो रही है।"[3]

---

१. व्यक्तिं गते मम रहस्यविनोदवृत्ते कष्टो लघिष्ठहृदयस्तरसाभिमन्युः ।
राधां निरुध्य सदने विनिगूहते वा हा हन्त लम्भयति वा मधुराजधानीम् ॥
--विदग्धमाधव-- ५।२३

२. वही -- ४।५०

३. मुद्रां धैर्यमयीं क्षणं वितनुते तारल्यलक्ष्मीं क्षणं
सापेक्षाः क्षणमातनोति भणितीरौत्सुक्यभाजः क्षणम् ।
मुग्धा दृष्टिभिः क्षणं प्रणयते प्रेङ्खत्कटाक्षां क्षणं
रोषेण प्रणयेन चाकुलितधी राधा द्विधा भिद्यते ।
--विदग्धमाधव --४।५२

इसी प्रकार भावशबलता का उदाहरण भी दृष्टिगत है जिसमें राधा की चपलता, शंका, उत्सुकता और अमर्षता का सुन्दर शाबल्य प्रस्तुत है ।

राधा कहती है--" वे मृगनयनी धन्य हैं जिनके साथ यह नवीन (कृष्ण) क्रीडा करता है । (फिर शंकापूर्वक) हाय, स्वच्छन्द चपलता को जानकर ललिता मेरी निन्दा करेगी । (फिर उत्सुकतापूर्वक) हां चन्द्रमुख गोविन्द का आलिंगन करने के लिए मन उत्सुक हो रहा है । (फिर क्रोधपूर्वक) विपरीत ब्रह्मा को धिक्कार है जिसने मानसंज्ञक विष का निर्माण किया है[1] ।

<u>५--अलंकार विवेचन (शब्दार्थालंकार)</u>-- इस प्रकार से मनोरम भावों से संवलित रसानन्द की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् काव्य या नाटक में सौन्दर्य के प्रतिपादक अलंकारों पर भी दृष्टिपात करना चाहिए । अलंकारयोजना से ही कोई काव्य या नाटक समृद्ध माना जाता है ।

नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में वाचिक अभिनय निरूपण प्रसंग पर अलंकारों का निरूपण किया गया है । भरत ने अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक इन चार ही अलंकारों का निर्देश किया है । काव्यादर्शकार दण्डी अलंकारों की संख्या ३५ मानते हैं । उद्भट ने " अलंकारसारसंग्रह" में अलंकारों की संख्या ४१ मानी है । इस प्रकार से बढ़ते-बढ़ते अलंकारों की संख्या कुवलयानन्द में १२५ हो गयी ।

भामह तो वक्रोक्ति को ही सब अलंकारों का मूल मानते हैं । इस प्रकार से अन्य अलंकारवादियों ने भी काव्यशोभा के उत्पादक तत्वों में अलंकार की गणना की है । अलंकारवादियों ने तो ध्वनि के स्थान पर अलंकार को ही प्रतिष्ठित किया है । भामह, दण्डी, उद्भट एवं रुद्रट आदि ७वीं से ६वीं शताब्दी के आचार्य अलंकारवादी कहलाते हैं ।

एस०के०डे महोदय ने तो यह भी कहा है कि अलंकारवादियों का झण्डा पहले दण्डीप्रभृति रीतिवादियों द्वारा और उसके बाद ध्वनिवादियों द्वारा झुकाया गया[2] । यहां पर दण्डी वामनादि को रीतिवाद की प्रतिष्ठापना करने के कारण उन्हें अलंकारवाद का न्यूनतम समर्थक प्रदर्शित किया गया है । परन्तु इतना तो संभाव्य ही है कि इन आचार्यों

---

१. विदग्धमाधव--५।७

२. संस्कृत पोएटिक्स--एस०के०डे०, पृ० ६६ । The decline of Alankar-system was probably synchronous with and perhaps hastened by the rise of rival Riti doctrine. The first step towards this is indicated by the general trend of Dandi's work.

ने रीतिवाद की प्रतिष्ठापना करने के साथ-साथ अलंकार को भी गौण स्थान नहीं दिया है। हां,ध्वनिवादियों ने अवश्य ही रस को प्रमुख माना है और अलंकारों को गौण स्वीकार किया है।

विदग्धमाधव नाटक तो अलंकारों की मनोहारिणी छटा से ही सजा हुआ है। वैसे तो अन्य नाटकों में भी मनोरम अलंकारों के दर्शन होते हैं परन्तु उनमें भी सर्वश्रेष्ठ अलंकारों के उदाहरण विदग्धमाधव में प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से रूपगोस्वामी को अलंकारसम्राट भी कहा जा सकता है।

रूपगोस्वामी ने उपमा,रूपक,उत्प्रेक्षा,अर्थान्तरन्यास का तो अपने नाटक में यत्रतत्र प्रयोग ही किया है। रूपक का तो इतना सुन्दर उदाहरण "विदग्धमाधव" में मिलता है जहां स्थिरता पर भुजंग का,क्रीडा पर व्याधि का और पतिव्रता के अपमान पर समुद्र का आरोप करके परम्परित रूपक का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।[1]

उपमा का सुन्दर उदाहरण "वृषभानुजा" नाटिका में प्राप्त होता है।जहां पर गृहगमन करती हुई राधा को कामभवन की लौ की भांति प्रदर्शित किया है और उसी प्रकार कृष्ण की इन्द्रियवृत्ति को शरद ऋतु की भांति हंसकी पंक्तियों को बलपूर्वक आकृष्ट करने के समतुल्य ही कहा गया है।[2] इस प्रकार से यह उपमा का सुन्दर उदाहरण कहा जा सकता है।

श्लेष अलंकार का भी सुन्दर उदाहरण "विदग्धमाधव" में प्राप्त होता है। श्लेष अलंकार के सम्बन्ध में कहा ही गया है कि जहां एक स्थान पर अनेक अर्थों का अभिधान हो वहां श्लेष होता है। इस प्रकार की ही संयोजना निम्नलिखित श्लोक में की गयी है -- कृष्ण चन्द्रावली से कहते हैं--" हे कमललोचने,चन्द्रावली के मुखरूपी, आकाश के संपर्क को पाने वाले कपोलस्थल-रूपी दो चन्द्रमा को जो कि झूठे तर्क से कलंकित अंगवाले हैं,यहां देखता हुआ,शंका सेआकुल तथा दीनता से चंचल हृदय वाला मैं कल्याण में प्रवेश नहीं पा रहा हूं।[3]

१, विदग्धमाधव--१।३७

२, गच्छन्ती सनिकेतं मनसिजभवनप्रदीपिकेयमा ।
हरति ममेन्द्रियवृत्तिं शरदिव हंसावलीं प्रसभात् ।--वृषभानुजा नाटिका १।२२ ।

३, विदग्धमाधव--५।१२ ।

यहां पर राधा में कृष्ण की आसक्ति शंका से ही चन्द्रावली के गण्डस्थल का रक्तवर्ण होना गूढ़ अर्थ ध्वनित होता है ।

इस प्रकार से और भी शब्दालंकार और अर्थालंकार के उदाहरण कृष्णचरिताश्रित नाटकों में अन्वेषित किये जा सकते हैं ।

६-- नाट्यालंकार (लक्षण) विवेचन-- नाट्यालंकार रूपकों की बाह्यमता की शोभा को बढ़ाने में सहायक रहे हैं । नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में नाट्यालंकारों के लक्षणों का निर्देश किया गया है ।

नाट्यालंकारों के नाम और क्रम में थोड़ा भेद नाट्यशास्त्र के दो पाठान्तरों के कारण प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है । एक पाठ को तो प्राचीन टीकाकारों ने लिया और उसी का विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में तथा शिंगभूपाल ने "रसार्णव सुधाकर" में अनुसरण किया ।[१]

"रसार्णव सुधाकर" में भी ३६ वस्तुविभूषण बताये गये हैं और उसी का अनुसरण "नाटकचन्द्रिका" में श्री रूपगोस्वामी ने किया । उन्होंने नाट्यालंकार के विषय में कहा है कि इन अंगों और उपांगों से ग्रन्थित रूपकों की शारीर शोभा कथावस्तु को छत्तीस अलंकारों से भूषित करना चाहिए । ये अलंकार हैं--" भूषण, अक्षरसंघात, हेतु, प्राप्ति, उदाहृति, शोभा, संशय, दृष्टान्त, अभिप्राय, निदर्शन, सिद्धि, प्रसिद्धि, दाक्षिण्य, अर्थापत्ति, विभूषण, पदोच्चय, तुल्यतर्क, विचार, विपर्यय, गुणातिपात, अतिशय, निरुक्त, गुणकीर्तन, गर्हण, अनुनय, भ्रंश, लेश, क्षोभ, मनोरथ, अनुक्तसिद्धि, सारूप्य, माला, मधुरभाषण, पृच्छा, उपदिष्ट तथा दिष्ट ।[२]

साहित्यदर्पणकार ने तो यह सब नाटक के लक्षण बताये हैं और नाट्यालंकार को तो ३३ माना है ।[३]

नाट्य लक्षणों के नाम तो रूपगोस्वामी द्वारा दिये गये नाट्यालंकार के ही नाम हैं पर दोनों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है ।

नाट्यालंकार विश्वनाथ ने आशी:, आक्रन्द, कपट, अक्षमा, गर्व, उद्यम, आश्रय, उत्प्रासन, स्पृहा, क्षोभ, पश्चाताप, उपपत्ति, आशंसा, अध्यवसाय, विसर्प, उल्लेख, उत्तेजना, परीवाद, नीति, अर्थविशेषण, प्रोत्साहन, साहाय्य, अभिमान, अनुवर्तन, उत्कीर्तन, यांचा, परिहार, निवेदन, प्रवर्तन, आख्यान, युक्ति, प्रहर्ष और उपदेशन बताये हैं ।[४]

---

१. नाटकचन्द्रिका, पृ० ६६ । २. वही--पृ० १५०-१५४ । ३. साहित्यदर्पण--६।१७० ।
३. नाट्यलक्षण ६।१७१-१७४ । ४. वही--६।१६५-१६८ ।

'साहित्यदर्पण' में दोनों के पृथक्-पृथक् निर्देश करने के कारण का भी समाधान कर दिया गया है। उन्होंने कहा है कि (भूषण) आदि लक्षणों और नाट्यालंकारों का सामान्यत: एक रूप होने पर भी लक्षणत्व और अलंकारत्व के विनायक न होने के कारण क्योंकि लक्षणों का भी अलंकारत्व है और अलंकारों का भी लक्षणत्व है। इस प्रकार अभिन्न रूप होने पर भी पृथक् रूप से व्यवहार गड्डलिका प्रवाह न्याय से होता है।[1]

इससे यह प्रतीत हो ही जाता है कि उन्होंने भी नाट्यलक्षणों और नाट्यालंकारों को एक ही माना है पर प्राचीन परम्परा का अनुवर्ती होने के कारण अलग निर्देश किया है। रूपगोस्वामी ने भी लक्षण और नाट्यालंकार एक ही नाम दिया है। इन्हीं नाट्यालंकारों का अन्तर्भाव श्लेष आदि में किया जा सकता है। शोभा का श्लेष में और सारूप्य का उपमा में और इसी तरह अन्य का भी अन्तर्भाव हो सकता है।

दशरूपककार ने भी ३६ काव्य या नाटक के लक्षणों को उपमादि अलंकारों में ही अन्तर्भूत माना है तभी तो उन्होंने भी इसका पृथक् विवेचन नहीं किया है।[2]

इससे यह सिद्ध तो हो ही जाता है कि यही नाट्य लक्षण बाद में चल कर अलंकारों में ही अन्तर्भूत हो गये। लक्षणों का सर्वप्रथम विवेचन आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य दण्डी के युग तक इनकी स्वतंत्र सत्ता समाप्त हो गयी थी क्योंकि 'काव्यादर्श' में दण्डी ने स्वयं लिखा है कि लक्षणादि काव्यतत्त्व में हमें अलंकार रूप में ही मान्य है (अलंकारतयैव न:)।

आचार्य अभिनवगुप्त के युग तक लक्षणों के विषय में तरह-तरह की मान्यताएं प्रचलित हो गयी थीं जिनका विस्तृत विवेचन उन्होंने 'अभिनवभारती' टीका में 'दसपक्षी' सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुत: लक्षण को काव्य का शरीर माना गया है।

आचार्य रूपगोस्वामी ने 'नाटकचन्द्रिका' के विभूषण प्रकरण में परम्परा के ही अनुसार ३६ अलंकारों का सोदाहरण व्याख्यान किया है। उन्होंने समस्त अलंकारों के उदाहरण 'ललितमाधव' से प्रस्तुत किये हैं परन्तु प्रस्तुत संदर्भ में 'मुकुन्दानन्द भाण' से केवल एक उदाहरण को देकर इस संदर्भ को समाप्त किया जा रहा है।

---

१. साहित्यदर्पण नाट्यलक्षण--पृ० ५६२।

२. षट्त्रिंशद् भूषणादीनि सामादीन्येकविंशति:।
लक्ष्यसंध्यन्तराख्यानि सालंकारेषु तेषु च।।
--दशरूपक-- ४।८४

आचार्य रूपगोस्वामी के मतानुसार किसी बहाने से अथवा अन्योक्ति के द्वारा अपने मनोगत भाव को बतला देना ही "मनोरथ" नामक अलंकार कहा जाता है।[1]

निश्चित रूप से परवर्ती युग में व्याख्यात अप्रस्तुत प्रशंसा अथवा अन्योक्ति अलंकार का संविधान "मनोरथ" से तादात्म्य रखता है। इसका एक रमणीय उदाहरण "मुकुन्दानन्द भाण" में दृष्टिगोचर होता है जहाँ एक मकरन्दलोभी लम्पट भ्रमर के बहाने कृष्ण को उपालम्भ दिया गया है।--

जन्मारभ्य प्रतिकलमसावारजोदर्शनं ते
भ्राम्यन्भृंग: क्षणगणनया वासरानत्यनैषीद्।
त्वं तूद्भिन्ने रजसि मरुता दक्षिणेनासि मुक्ता
सोढव्यं तद् कमलिनि कथं तेन लोकेन वापि ॥ -- मुकुन्दानन्द--श्लोक ७९ ॥

७-- वृत्ति विवेचन-- नायक आदि के व्यवहार का स्वभाव ही वृत्ति कहलाता है।[2] नायक मानसिक, वाचिक और कायिक जितने भी कार्यकलाप करता है, वह नाट्य में वृत्ति कहलाता है।

नायक नाटक में वैसे तो अन्य कार्यकलाप भी करता है, परन्तु वह सब वृत्ति कहलाने के भागी नहीं हैं केवल मानसिक, वाचिक और कायिक कार्यकलाप ही वृत्ति के अन्तर्गत रखे जाते हैं। इसी कारण "साहित्यदर्पणकार" ने विशेष शब्द का ग्रहण किया है कि जो नाटकों में नायकादि के विशेष व्यापार होते हैं वही वृत्ति है।[3]

दशरूपककार ने इसके लिए "प्रवृत्ति रूप" यह विशेषण दिया है। वृत्तियां काव्य की जननी होती हैं इसको विभिन्न आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।[4] कोई भी नाटककार या कवि कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारों को दृष्टि में रख कर ही काव्य का निर्माण करता है, अतएव यह काव्य या काव्य को अपने-अपने व्यापार की प्रधानता से अत्युत्कृष्ट बना देता है।

---

१. मनोरथस्तु व्याजेन विवक्षितनिवेदनम्।-- नाटकचन्द्रिका, पृ० १७७।
२. दशरूपक--पृ० १८३। नाट्यशास्त्र २२।२३-२५, नाट्यदर्पण ३।१५५, सा०दर्पण ६।१२२-२३
३. नायकादिव्यापारविशेषा वृत्तय: .... नाटकादिषु--साहित्यदर्पण--६।१२३।
४. काव्यानां मातृका वृत्तय: (नाट्यशास्त्र १८।४), नाट्यदर्पण ३।१५५, नाट्यमातर, नाट्यस्य मातृका:, साहित्यदर्पण ६।१२३।

समस्त नाटकों का पर्यवसान आनन्द में ही होता है । अतएव रस,भाव तथा अभिनय से युक्त व्यापार ही नाट्य में होते हैं । नाट्यदर्पणकार ने भी इसे स्वीकार किया है ।[1]

रूपगोस्वामी ने नाटकचन्द्रिका में वृत्तियों को मधुकैटभ का वध करते समय विष्णु के शरीर से उत्पन्न माना है । इन्होंने भी वृत्तियों को नायकादि पात्रों के व्यापार की निदर्शक और रस की स्थिति की सूचना देने वाली माना है ।[2] इस प्रकार से सभी आचार्यों ने वृत्तियों को नाट्य इतिवृत्त में नायक के व्यापार को उत्कृष्ट रूप से सूचित करने वाली और रसानन्द की सृष्टि करने वाली बताया है । इसी कारण नाटकों के नाट्यशास्त्रीय विवेचन के अवसर पर वृत्तियों की उपेक्षा करना उनकी महत्ता के आधार पर उचित नहीं प्रतीत होता है । इनके बिना काव्य या नाटक की सृष्टि ही असम्भव है । वृत्तियों को चार प्रकार की बताया गया है--कैशिकी,भारती,सात्वती और आरभटी ।

कैशिकी वृत्ति गीत,नृत्य,विलास आदि शृंगारिक चेष्टाओं से कोमल होती है । इसके नर्म,नर्मस्फिंज,नर्मस्फोट और नर्मगर्भ ये चार अंग होते हैं ।[3]

साहित्यदर्पण में नाट्यशास्त्र के कैशिकी लक्षण का अनुसरण करते हुए कहा है कि जो विशेष प्रकार की वेशभूषा से चित्रित हो,जिसमें स्त्री पात्रों की बहुलता हो, नृत्य,गीत की प्रचुरता हो,शृंगारप्रधान व्यापार हो,वह चारु विलासों से युक्त वृत्ति कैशिकी है ।[4]

नाट्यदर्पण में कैशिकी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है--लम्बे केश होने के कारण स्त्री कैशिका कही जाती है और स्त्रियों का प्राधान्य होने के कारण इसे कैशिकी वृत्ति कहा जाता है ।[5]

नाटकचन्द्रिका में तो रूपगोस्वामी ने अपना अलग मत ही दिया है । उनके अनुसार श्रीविष्णु के केश से सम्बद्ध होने के कारण इसकी प्रसिद्धि "कैशिकी" नाम से हुई ।[6]

---

1. रसभावाभिनयगाः --नाट्यदर्पण-- ३।१५५
2. जाता नारायणादेता मधुकैटभयोर्वधे ।
   नेतृव्यापाररूपास्तु रसावस्थानसूचिकाः ।--नाटकचन्द्रिका--२४२ ।
3. तत्र कैशिकी ।--'गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृंगारचेष्टितैः ।--दशरूपक २।४७ नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका ।'
4. साहित्यदर्पण--६।१२४
5. नाट्यदर्पण वृत्ति--३।१६२
6. नाटकचन्द्रिका,पृ० २५६ ।

जो कुछ भी हो,इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह वृत्ति स्त्रियों के प्राधान्य के कारण नाटिका में आश्रय ग्रहण करती है यह तो सर्वमान्य है ही ।
कैशिकी वृत्ति का नर्म अंग भी तीन प्रकार का होता है --(१) हास्य से ही केवल उत्पन्न किया गया (२) शृंगार सहित हास्य से किया गया (३) भय सहित हास्य से किया गया।

शृंगार सहित हास्य भी तीन प्रकार का होता है--आत्मोपक्षेप,सम्भोग और मान । भययुक्त हास्य भी दो प्रकार माना गया है--शुद्ध और अंग । हास्य नर्मसहित ये सब वाक्,वेष और चेष्टा के भेद से तीन तीन प्रकार के होते हैं । इस प्रकार से नर्म १८ प्रकार का होता है[१] ।

केवलहास्य का नर्म का मनोरम उदाहरण तो " विदग्धमाधव " नाटक में भी देखने को मिलता है । इसका उल्लेख प्रतिमुख सन्धि के सन्ध्यंग विवेचन के अवसर पर उदाहरण देकर किया गया है । पात्रों का हास-परिहास इस कोटि में आता है जो शृंगारिक वातावरण की सृष्टि करता है ।

मधुमंगल कृष्ण से कहता है--मित्र,सामने से चिल्लाते हुए भी मुझको तुम नहीं देख रहे हो ?

कृष्ण--चम्पकलता की सुन्दरता से मुग्ध होकर नहीं देख सका ।

मधुमंगल--ठीक कहते हो,किन्तु चलने वाली चम्पा की लता की ?

कृष्ण-- चम्पकलता का चलना बिल्कुल असंभव है ।

मधुमंगल--सीधे कहो कि तुम सोये-सोये क्यों हो ?

कृष्ण --(परिहासपूर्वक) माला के बिना ।

इसके उपरान्त मधुमंगल वचनभंगिमा से हास्य की उत्पत्ति करने के लिए कहता है--" बाला के बिना " ऐसा कहो[२] ।

इसी प्रकार वेष के द्वारा भी संभोगेच्छा का प्रकाशन होता है और यह भी नर्म का उदाहरण बनता है ।

राधा कृष्ण के साथ अभिसार करने की हड़बड़ी में अपने को सुसज्जित करती है और इसी विभ्रम में अंगों में उपयुक्त स्थान पर उचित प्रसाधन सामग्री का उपयोग न करके अनुपयुक्त प्रसाधन का प्रयोग कर डालती है । उसकी इस सज्जा को देख कर ही ललिता द्वारा परिहास किया जाता है । परन्तु राधा कामासक्त होकर कहती है--सखि,इसी हाड़

१. दशरूपक--२।४८-५०
२. विदग्धमाधव नाटक,पृ० ६७-६८ ।

शीघ्र ही केसर कुंज का मार्ग बताओ ।[1]"

नर्महास्य का एक और मनोरम उदाहरण "विदग्धमाधव" में ही मिलता है । मधुमंगल पौर्णमासी से कहता है --" आर्ये,सच है । मेरे प्रिय मित्र के हृदय का राग अभी भी आपको गोपियों के अंगों में भी नहीं दीखा है । जबकि उन्हीं का अंगराग इसके हृदय में दिखायी दे रहा है ।[2]"

इसी प्रकार से अन्य भी हास्य उत्पादक नर्म के उदाहरण देखे जा सकते हैं ।

नर्मस्फिञ्ज वह कहलाता है जब (नायिका को) प्रथम समागम के समय आरंभ में सुख होता है और अन्त में भय ।[3] "विदग्धमाधव" नाटक में जब राधा का कृष्ण से प्रथम समागम होता है उस समय जटिला के आ जाने से विघ्न की उपस्थिति हो जाती है । राधा स्वयं इस विषय में कहती है-- (स्वगत) हृदय धीरज रखो,धीरज रखो । यहां मैंने कृष्ण के वचन रूपी अमृत का निःशंक होकर पान नहीं किया और उसके मुख पर भी दृष्टि नहीं लगा सकी । हे सखि बहुत दिनों के बाद सुन्दर अवसर मिलने पर भी (जटिला) बूढ़ा के व्याज से दुर्भाग्य ने बाधा उपस्थित कर दी यह दुःख की बात है ।[4]"

इसी प्रकार नर्मस्फोट को भी समझना चाहिए । जहां पर भावों के कुछ अंशों द्वारा अल्प रस सूचित होता है वह नर्मस्फोट कहलाता है ।[5] "विदग्धमाधव" में मधुमंगल श्रीकृष्ण को देख कर अपने मन में कहता है--" मेरा यह मित्र आज विकसित पुष्पों के गुच्छों से सुवर्ण के समान गौर वर्ण की दिखायी देने वाली इस चम्पकलता को देख कर कम्पित सा रहा है । इससे ऐसी आशंका हो रही है कि निर्मल केसर के समान गौरवर्ण वाली राधिका इसके चित्त रूपी फलक पर तिलक के समान मुख्यतः चित्रित हो चुकी है ।"

यहां पर कृष्ण के प्रकाशित भावों से राधिका में अनुराग सूचित होता है । जो शृंगार रस की दृष्टि में सहायक है ।

जब नायक का प्रयोजनवश प्रच्छन्न व्यवहार होता है तो उसे नर्मगर्भ समझना चाहिए ।[6] "ललितमाधव" नाटक में जब श्रीकृष्ण नववृन्दावन में सत्यभामा रूप से प्रकाशित

---

१. विदग्धमाधव--४।२९ ।०१, वही
२. वही--पृ० १०२
३. दशरूपक,पृ० १८८ । ४. विदग्धमाधव-- २।५६ ।
५. दशरूपक--२।५१ ।
६. वही-- पृ० १८९ ।

राधा को देखते हैं तो कामासक्त होकर स्वप्न में भी उसी का स्मरण करते हैं।
चन्द्रावली भी कृष्ण की विरहावस्था का अनुमान लगा लेती है और माधवी भी
चन्द्रावली से स्पष्ट रूप से कह ही देती है कि वह कृष्ण की मनोहारिणी सत्यभामा
ही होगी। चन्द्रावली कृष्ण से आशंकित होकर पूछती है-- कौन-सी भावी न प्रणयिनी
है? परन्तु कृष्ण शंकित न होने देने के लिए प्रच्छन्न व्यवहार ही करते हैं क्योंकि
सत्यभामा को प्राप्त करने वाला अभीष्ट प्रयोजन उनके समक्ष है। चन्द्रावली के क्रोधित
होने का भय भी है तभी तो वह कह देते हैं--" वृन्दाटवीलतालीरेव मापरा।[1]"
इस प्रकार से कृष्ण यहां प्रयोजनवश ही चन्द्रावली के समक्ष प्रच्छन्न व्यवहार करते हैं।

इसके पश्चात् सात्त्वती वृत्ति का निरूपण किया जा रहा है।

सात्त्वती वृत्ति शोकरहित होती है, यह सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया और सरलता से
युक्त होती है। इसमें संलापक, उत्थापक सांघात्य और परिवर्तन ये चार अंग होते हैं।[2]
संलाप अनेक प्रकार के भावों तथा रसों से युक्त पारस्परिक उक्ति में होता है।[3]

" कंसवध" नाटक में जब बलराम-कृष्ण का चाणूर, मुष्टिक के साथ युद्ध से पहले
वार्तालाप होता है उस स्थल पर यह वृत्ति प्रयुक्त है।

बलराम और कृष्ण चाणूर मुष्टिक से कहते हैं--तुम दोनों मेरे आचार्य हो।
शीघ्र ही मामा को प्रसन्न करो। हम बालक युद्ध कौशल को नहीं जानते। आपकी चेष्टा
का अनुसरण करेंगे।" यहां पर बलराम कृष्ण के द्वारा स्वभाविक रूप से कहा गया
गंभीर कथन चाणूर और मुष्टिक को युद्ध के लिए प्रेरित करने के अभिप्राय से वीरता भाव
जागृत करता है। इसके पश्चात् बलराम, कृष्ण इन दोनों को उत्तेजित करके उनके साथ
द्वन्द्व युद्ध का अनुसरण करते हैं जो कि अन्त में दोनों के अंसस्थल एवं वक्ष को विदीर्ण
कर देता है। इन दोनों के शौर्य से परिचित होकर चाणूर मुष्टिक दोनों बालकों की
प्रशंसा करने के अभिप्राय से कह ही बैठते हैं कि इन बालकों के घात से वज्र से भी दुःसह
हमारे मर्म पीड़ित हैं।[4]" इस प्रकार का उक्ति-प्रत्युक्तिपूर्ण वार्तालाप हृदय में औत्सुक्य
भावों को भी जागृत करता है और रामकृष्ण द्वारा कहे गये गूढ़ अर्थ प्रयोजन को भी सिद्ध

---

1. ललितमाधव नाटक--सातवां अंक।
2. विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।
   संलापोत्थापकावस्यां सांघात्यःपरिवर्तकः ।।--दशरूपक--२।५३
3. संलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः।--दशरूपक, पृ० १९१।
4. कंसवध नाटक--छठा अंक, पृ० ७७।

कर दोनों मल्लों को मरवा कर रसानन्द की सृष्टि करता है। दुष्ट का वध ही श्रेयस्कर है यह तो सहृदय के मस्तिष्क में बात रहती ही है अतएव रसाभास का प्रसंग नहीं उपस्थित होता है।

उत्थापक वह होता है जहाँ पर एक पात्र दूसरे को पहले पहल युद्ध के लिए उत्तेजित करता है।[1] "प्रद्युम्नाभ्युदय" नाटक के पंचम अंक में वज्रनाभ अपनी आत्मप्रशंसा करके प्रद्युम्न को युद्ध के लिए प्रेरित करता है। वह कहता है--" अरे अनात्मज्ञ! तुम वज्रनाभ को नहीं जानते हो?[2]" इस प्रकार की गर्वोक्ति वाणी को सुन कर ही प्रद्युम्न युद्ध के लिए प्रेरित होते हैं। दोनों पक्ष के लोग अपनी-अपनी युद्धवीरता का प्रदर्शन करते हैं।

संघात्य वह अंग होता है जहाँ मंत्र शक्ति, अर्थशक्ति या दैवशक्ति आदि के द्वारा संघ का भेदन किया जाता है।[3]

"प्रद्युम्नाभ्युदय" नाटक में वज्रनाभ द्वारा प्रयुक्त तामसास्त्र, वारुणास्त्र आदि का प्रतिकार प्रद्युम्न पावकास्त्र आदि से करते हैं। दिव्यशक्ति का प्रयोग पक्ष-विपक्ष के दोनों लोग ही करते हैं। ब्रह्मा द्वारा प्रदत्त गदा का प्रयोग वज्रनाभ द्वारा किये जाने पर प्रद्युम्न भी दिव्य सुदर्शनचक्र का स्मरण करते हैं और यही दिव्य शस्त्र प्रतिपक्षी के भेदन में समर्थ होता है।[4]

यहाँ पर दिव्य शक्ति द्वारा ही प्रतिपक्षी के संघ का भेदन किया जाता है।

सात्वती वृत्ति का अन्तिम अंग परिवर्तन है। आरम्भ किये गये उत्थान (पौरुष पराक्रम) कार्य से भिन्न कार्य करने लगना परिवर्तन है।[5]

"रुक्मिणी परिणय" नाटक में जब वासुदेव रुक्मिणी को चैदिराज शिशुपाल के साथ विवाहावधि के सन्निकट आने पर कात्यायनी मन्दिर से ले जाते हैं उस समय शिशुपाल के मित्र जरासन्ध शाल्व आदि विघ्न पहुँचाते हैं। रुक्मी भी अपनी बहिन के राक्षस विवाह होने पर चैदिराज के मानभंग को सुन कर अत्यधिक क्रुद्ध होता है। परन्तु

---

१. स उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम्। --दशरूपक--२।५३
२. अरे अरे अनात्मज्ञ! मानुषडिम्भ! वज्रनाभं न जानासि।--प्रद्युम्नाभ्युदय, पृ० ५०।
३. दशरूपक, पृ० १६२। ४- प्रद्युम्नाभ्युदयम्, पृ० ५१-५२॥
५. वही--२।५५ ।

उसी समय उसके हृदय में परिवर्तन आ जाता है और अपने द्वारा निर्धारित किये गये शिशुपाल के साथ विवाह करने के बदले वासुदेव की महिमा से ही महिमान्वित हो जाता है जिससे कि पहले अत्यन्त क्रोधी था। ऐसे स्थल पर रुक्मी का मौन रहना भी उसकी स्वीकृति का सूचक है।[१]

माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि चेष्टाओं के द्वारा आरभटी वृत्ति होती है। इसके संक्षिप्तिका, संफेट, वस्तूत्थान और अवपातन ये चार अंग होते हैं।[२] संफेट नामक आरभटी का अंग वहाँ होता है जहाँ पर क्रुद्ध एवं उत्तेजित दो व्यक्तियों का एक दूसरे पर प्रहार होता है।[३]

'सुभद्रा धनंजय' नाटक में क्रुद्ध अर्जुन सुभद्राहरण के अवसर पर यादव वंशी लोगों द्वारा बाणों से विघ्न पहुंचाये जाने पर उसका प्रतिकार करने के लिए बाणों से ही वृष्णिवंशियों पर प्रहार करते हैं। इस प्रकार से यह संफेट नामक आरभटी का अंग आरभटी के लक्षण घटित होने पर कहलाया।

अवपात (पात्रों के) निष्क्रमण, प्रवेश, त्रास तथा (आग लगने आदि के द्वारा की गयी) भगदड़ आदि के (वर्णन) द्वारा होता है।[४]

कंसवध नाटक में कृष्ण चाणूर मुष्टिक के वध के पश्चात् बलराम द्वारा आदिष्ट कंसवध के लिए प्रेरित होते हैं। उस समय कृष्ण क्रोधित होकर तीव्रता से द्वार रोकने वाले कुवलयापीड के कुंभस्थल को गदा एवं चपेट से विदीर्ण करके कंस को भी बालों से पकड़ कर मंच से उतार कर पृथ्वीतल पर गिरा कर पीड़ित कर देते हैं।[५]

यहां पर श्रीकृष्ण क्रोधपूर्ण मुद्रा में अपने समस्त वीरतापूर्ण कार्य कलाप करते हैं।

भारती वृत्ति भी वाचिक व्यापार करने के कारण प्रधान मानी गयी है। अतएव उसके भी स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। प्राय: संस्कृत भाषा में नट द्वारा किया गया वाचिक व्यापार भारती वृत्ति कहलाता है जो प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख इन चार अंगों से युक्त होता है।[६]

---

१. रुक्मिणी परिणय नाटक--पृ० ४६।
२. दशरूपक--२।५६।
३. वही-- २।५८।
४. वही-- २।५६।
५. कंसवध नाटक--छठवां अंक--६।४३।
६. दशरूपक-- ३।५

नाट्यशास्त्र,साहित्यदर्पण में भी नटों के वाचिक व्यापार को ही भारतीवृत्ति कहा है ।

प्ररोचना में प्रशंसा के द्वारा श्रोताओं को उन्मुख किया जाता है[1]। "ललितमाधव" नाटक में सूत्रधार कहता है-- यहां बड़े उत्साह से उत्सव मनाया जा रहा है,जिनमें वैष्णव जन की सभाएं निरन्तर प्रकाशित हो रही हैं और इस प्रकार श्रीहरि की विमल कीर्ति की धारा अजस्र प्रवाहित होती रहती है । फिर इससे अधिक क्या होगा कि मधुर स्वरूपधारी श्रीकृष्ण जी स्वयं ही यहां विराजते हैं । इसलिए आप लोगों के लिए यह बड़ा पवित्र,पुण्योदयकारी एवं सद्भावसूचक अवसर है[2]।"

यहां पर सूत्रधार द्वारा इस कथन का अभिप्राय श्रोताजन को ही उन्मुख करना है ।

आमुख वह है जहां सूत्रधार (स्थापक) विचित्र उक्ति के द्वारा नटी,पारिपार्श्विक या विदूषक को अर्थ का आक्षेप करने वाला अपना कार्य बतलाता है[3]।

---

१. उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ।

--दशरूपक--पृ० ३९१ ।

२. क्वास्ति स्फुरदुत्सवः स्फुरति वैष्णवानां सभा,
विरस्य गिरिरुद्धिरत्यमलकीर्तिधारां हरिः ।
किमन्यदिह माधवो मधुरमूर्तिरुद्भासते ,
तदेष परमोदयस्तव विशुद्धपुण्यश्रियः ।।

--ललितमाधव--१।७ ।

३. सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम् ।।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।
प्रस्तावना वा ।

--दशरूपक ३।७ ।

इसके कथोद्घात, प्रवृत्तक, प्रयोगातिशय और वीथी में होने वाले तेरह अंग होते हैं।[१]

जहाँ पात्र अपनी कथावस्तु से समानता रखने वाले सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ को लेकर प्रविष्ट हो जाता है वह कथोद्घात दो प्रकार का होता है।[२]

'कंसवध' नाटक में सूत्रधार जब कंस के दुष्कर्मों की चर्चा करता है तो उसी के वाक्यार्थ को ग्रहण करके कंस प्रविष्ट करके क्रोधपूर्वक कहता है कि 'कौन कंस का मदच्युत करता है ? आज भी तुम लोगों को विदित नहीं है कि त्रिभुवन में अकेला और समस्त दुर्मदों को नष्ट करने वाला अकेला कंस ही है।

इस स्थल पर सूत्रधार नाटक की कथावस्तु को संकेतित करता है जो किसी प्रयोजन को सिद्ध करने के अभिप्राय से ही ग्रथित की गयी है।' कंसवध ही नाटक का चरमावसान है और इसी के मदच्यवन को सूत्रधार ने घोषित किया है। उसी वाक्यार्थ को ग्रहण करके कंस क्रोधित होकर मंच पर प्रविष्ट करता है।

प्रवर्तक वह होता है जहाँ काल के वर्णन की समानता के द्वारा प्रवेश की सूचना दी जाती है।[३]

विदग्धमाधव नाटक में इसी समयगत समानता के आधार पर कृष्ण और राधा के मिलन का वृत्तान्त ध्वनित होता है क्योंकि कृष्ण और राधा का मिलन पौर्णमासी द्वारा कराया जाता है। वसन्त ऋतु को ही इसमें आश्रय बना कर कृष्ण और राधा के मिलन का गूढ़ अर्थ ध्वनित होता है।

सूत्रधार कहता है--' आज वही वसन्त ऋतु आ गयी है जिसमें पौर्णमासी तिथि की अतिप्रकाशित रात्रि में पूर्णचन्द्र उसी सुन्दर विशाखा नक्षत्र के साथ अपनी नवीन रक्तिमा को लिये हुए (रात्रि की) शोभा बढ़ाने के लिए मिलेगा।[४]'

---

१. तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ।।
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यंगानि त्रयोदश ।--दशरूपक ३।८

२. दशरूपक--३।९

३. वही-- ३।१०

४. विदग्धमाधव--१।१०

उसके पश्चात् प्रयोगातिशय को समझना चाहिए ।" यह वह है" --इस प्रकार आरम्भ करते हुए जब सूत्रधार किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दे तो उसे "प्रयोगातिशय" समझा जाता है ।[1]

"ललितमाधव" नाटक के शुभांक में कहा गया है कि " यहां उस वृद्धा के द्वारा सदा रोकी जाने वाली राधिका के साथ भी बिना बाधा के यह माधव रमण करते हैं ।" इसके बाद माधव प्रवेश करते हैं । अतएव यह प्रयोगातिशय है ।

जहां परस्पर वार्तालाप या तो गूढार्थ पर तथा उसके पर्यायों की माला के रूप में होता है अथवा प्रश्न और उत्तर की माला के रूप में होता है ,वह दो प्रकार का उद्घात्यक कहलाता है ।[2] "ललितमाधव" नाटक में यह पद्घात्यक देखने को मिलता है । सूत्रधार ज्योतिष की गणना करता हुआ कहता है--- उस कलानिधि ने अपनी नटलीला से रंगस्थल पर किरातराज का दमन करके अब यथोचित अवसर आने पर गुणशालिनी तारा का ग्रहण करना है[3] ।

(नेपथ्य में) ओहो । राधा और माधव की परस्पर पाणिग्रहण करने की बात को कंसराज के भय से प्रत्यक्षत: साफ-साफ करने में असमर्थ हो इस नटलीला के द्वारा किरातराज के दमन के बहाने से बतलाकर यह कौन मुझे आश्वस्त कर रहा है । मैं तो इसी चिन्ता से घबरा उठी थी[4] ।"

इस प्रकार कहते हुए पूर्णमासी का प्रवेश उद्घात्यक को स्पष्ट करता है ।

जहां एक कार्य में समावेश करके (या एक कार्य के बहाने से) दूसरा कार्य सिद्ध किया जाता है,अथवा एक कार्य के प्रस्तुत[5] होने पर दूसरा कार्य सिद्ध हो जाता है वह दो प्रकार का अवलगितक होता है ।

----

१. एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगत: ।
   पात्रप्रवेशो यत्रैव प्रयोगातिशयो मत: ।--दशरूपक ३।११
२. गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ।
   यात्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्घात्यं तदुच्यते ।--वही ३।१३
३. ललितमाधव--२।११
४. दशरूपक--३।१४

'कंसवध' नाटक में सूत्रधार कहता है-- नटराज पुरुषोत्तम, अब आप क्यों विलम्ब कर रहे हैं ?

(नैपथ्य में) अरे तुम कौन हो जो मुझसे शीघ्र काम कराने को कह रहे हो ?

सूत्रधार--अरे । ये तो गोपाल का वेष धारण किये हुए स्वयं भगवान् आ रहे हैं ।" देखो, देखो" इत्यादि ।[1]

शेष बचे हुए वीथी और प्रहसन अंग तो रूपक के प्रकार भी हैं अतः उनका वर्णन नहीं किया जा रहा है ।

८--सन्धि सन्ध्यंग विवेचन-- नाटक के विषय में नाट्यशास्त्र और तदनुवर्ती दशरूपक प्रभृति नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विस्तृत परिभाषाएं प्रस्तुत की गयी हैं । इन परिभाषाओं को देखते हुए "विदग्धमाधव" को एक सम्पूर्ण नाटक कहा जा सकता है । नाटक का प्राणतत्व है उसकी ख्यातिवृत्तता । विदग्धमाधव में जिस कृष्ण को नायक कल्पित किया गया है वह द्वापर युग में एक महान् लोकोद्धारक मर्यादापुरुष थे । श्रीकृष्ण का वंश यदुवंश की शाखा के रूप में पल्लवित हुआ था । उनके पूर्वजों में महाराज यदु, मधु, शूर और वसुदेव सरीखे लोकविख्यात महापुरुष उत्पन्न हुए थे । ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण सद्वंशोत्पन्नभाव निश्चित हो जाता है ।

श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण चरित अष्टादश पुराणों का विषय रहा है । उन्हें पूर्ण कला का अवतार माना जाता ही है । । उनका संपूर्ण जीवन लोकहित के कार्यों में व्यय हुआ । शैशव में उन्होंने कंस के अत्याचारों से निरीह गोकुलवासियों की अनेकबार रक्षा की । युवावस्था में उन्होंने कंस और जरासन्ध सरीखे महाबली आततायियों का वध करके महाराज उग्रसेन को राजपद दिया और प्रौढ़ावस्था में स्वयं द्वारकाधीश बनकर उन्होंने कौरव तथा पाण्डवों के बीच छिड़ने वाले कुरुक्षेत्र युद्ध का सूत्रसंचालन किया ।

कृष्ण कन्हैया की शैशवकेलियां उनका उन्मुक्त किन्तु रहस्यात्मक प्रणय-व्यवहार, उनकी सद्गृहस्थ के रूप में व्यवस्थाएं और अन्ततः उनकी राजनैतिक सूझबूझ इन सब विशेषताओं ने कृष्ण के जीवन को असाधारण और विलक्षण बना दिया है ।

इस प्रकार से कृष्ण के बहुमुखी व्यक्तित्व ने भारतीय जनमानस को अन्य लोकपुरुषों की अपेक्षा अधिक आकृष्ट किया । कृष्ण के चरित में प्रेमियों, भक्तों, राजनीतिज्ञों और

---

१. नाटकचन्द्रिका--रूपगोस्वामी, पृ० १३ ।

मुमुक्षुओं तक को समान रूप से सन्तोष प्राप्त होता है। इस तरह कृष्ण का जीवन नाट्यशास्त्रीय मानदण्ड के आधार पर प्रत्येक दृष्टि से एक 'प्रख्यातवृत्त' है।

प्रख्यातवृत्तता के बिना नाट्यरचना संभव नहीं है। आचार्य भरत ने तथा अन्यान्य आचार्यों ने भी समकालिक नरपतियों के जीवन पर आश्रित नाटकों का निषेध इसलिए किया था कि वे ख्यातवृत्त नहीं होते। जबतक किसी नरेश का सम्पूर्ण जीवन समाप्त न हो जाए तबतक उसके प्रख्यात अथवा अप्रख्यात होने का निर्णय कैसे किया जा सकता है। महाकवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' को जिस उत्साह के साथ प्रारम्भ किया था वैसा उसका समापन न हो सका क्योंकि जीवन के अंतिम दिनों में सम्राट अशोक चालुक्य पुलकेशिन द्वितीय के हाथों विमर्दित हो चुके थे। फलतः उनका यश भी म्लान हो गया और बाणभट्ट द्वारा कल्पित तथा वर्णित हर्ष की पराक्रम गाथाएं संशयापन्न हो गयीं। इसी कारण जीवनकालावधि के समाप्त हो जाने पर ही प्रख्यातता के आधार पर किसी के चरित का वर्णन किया जाता है।

दशरूपककार ने इतिवृत्त में फलप्राप्ति का साधन अर्थप्रकृति को बताया है। अतएव नाटक में अर्थप्रकृतियां किस प्रकार प्रयुक्त हुई हैं, दशाएं कैसे व्यवस्थित हुई हैं और किन स्थलों पर मुख, प्रतिमुख आदि सन्धियां विद्यमान हैं अथवा नाटक में कहां-कहां चौंसठ सन्ध्यंगों का प्रयोग हुआ है--इसका विचार होना ही चाहिए। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर 'विदग्धमाधव' नाटक का अगले अनुच्छेद में सन्धि सन्ध्यंग विवेचन किया जायेगा।

'विदग्धमाधव' का प्रारंभ नान्दीपाठ से हुआ है जैसा कि पूर्ववर्ती नाटकों की परम्परा रही है। भास के नाटकों में नान्दीपाठ नहीं मिलता परन्तु कालिदास की कृतियों में इसका शुभारंभ हो उठता है। रूपगोस्वामी ने इसी कालिदास-परम्परा का ही अनुसरण किया है।

कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में नान्दी श्लोक में ही कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त किये गये हैं जो नाट्यकथावस्तु को संकेतित कर देते हैं। जैसे प्रकृति का शकुन्तला होना, दो सम्भावनाओं का अनुसूया होना आदि। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इस प्रकार के 'साकूत' शब्द प्रयोग को मुद्रालंकार नाम दिया गया है परन्तु विदग्धमाधव में प्रयुक्त नान्दी में कवि ने इस प्रकार की कोई विलक्षणता नहीं प्रस्तुत की है।

विदग्धमाधव की पहली नान्दी श्रीकृष्ण की प्रणयपात्री राधा की वन्दना प्रस्तुत करती है और दूसरी चैतन्य महाप्रभु की। इन दोनों नान्दी श्लोकों में किन्हीं ऐसे

शब्दों का प्रयोग नहीं है जिससे कि 'विदग्धमाधव' के पात्रों पर कोई प्रकाश पड़ता हो । हां,इतना अवश्य है कि इन नान्दी श्लोकों के द्वारा कवि ने अपने धार्मिक दृष्टिकोण को,हृदय की निष्ठा को अवश्य व्यक्त कर दिया है ।

कवि शचीनन्दन चैतन्य महाप्रभु को ही अपना आराध्य देवता मानता है इसलिए उसने उन्हीं की वन्दना की है । यद्यपि यह नाटक प्रबोधचन्द्रोदय आदि की भाँति प्रतीकात्मक पद्धति पर नहीं लिखा गया है,उसमें एक सुनिबद्ध कथानक है,ऐतिहासिक पात्र हैं,प्रख्यात कथावस्तु है फिर भी कवि ने नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के मुंह से जो घोषणा करायी है उसमें अनेक ऐसे प्रतीकों को स्पष्ट किया है जिससे इस नाटक की प्रतीकात्मकता भी संकेतित हो उठती है । वस्तुत: कवि महाप्रभु चैतन्य का दीक्षित शिष्य है और उन्हीं की प्रेरणा से उसने कृष्णलीला को भक्तिरस में सम्पुटित करके नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है । फलत: 'विदग्धमाधव' ~~लिखने का~~ लिखने का उसका एकमात्र अभिप्राय कृष्ण की कृपा से मुक्ति की प्राप्ति,सद्गति की प्राप्ति है । इसी तथ्य को प्रस्तावना में प्रतीकात्मक रूप से कवि ने व्यक्त किया है जहां पर चित्तवृत्ति को ही मकरी कहा गया है[१]।

विदग्धमाधव का नाट्यशास्त्रीय व्याख्यान करने के संदर्भ में सर्वप्रथम यह श्रेयस्कर होगा कि उसमें पंचसन्धियों और पंचकार्यावस्थाओं का विचार कर लिया जाये ।

दशरूपककार के मतानुसार अर्थप्रकृति और अवस्थाओं के क्रमिक संयोग से ही मुख प्रतिमुख आदि पंच सन्धियों का निर्माण होता है । टीकाकार आचार्य धनंजय ने भी लिखा है -- पंचभि: योगात् यथासंख्येनैव वक्ष्यमाणा मुखाद्यपंचसन्धयो जायन्ते ।" इस प्रकार पंचसन्धियों का व्याख्यान भी अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों में ही अन्तर्भूत है, इसलिए संधियों का ही व्याख्यान करना श्रेयस्कर है ।

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में यद्यपि ६४ सन्ध्यंगों का भी उल्लेख किया गया है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इनका उल्लेख अवश्य ही हो । 'साहित्यदर्पण'[२] में महाकाव्य की लक्षणवृत्ति के समय कहा गया है कि अगर नाटक का कलेवर अत्यन्त संक्षिप्त है या

१, विदग्धमाधव नाटक,पृ० ३ ।

२, सन्ध्यंगानि यथालाभमत्र विधेयानि । ६। महाकाव्य लक्षण पद्यवृत्ति ।

--साहित्यदर्पण,छठवां परिच्छेद,पृ० ६०७ ।

कथानक इस प्रकार का है कि उसमें शास्त्रनिर्दिष्ट ६४ संध्यंगों का सन्निवेश संभव नहीं है, तो नाटककार या कवि उनमें से कुछ अंगों को छोड़ भी सकता है। कभी-कभी इतिवृत्त के प्रवाह को अग्रसर करने के लिए नाटककार या कवि सन्ध्यंगों के क्रम में परिवर्तन भी कर देते हैं।

इस प्रकार से ५ नाट्यसन्धियां और उनके ६४ अंगों का उल्लेख तो नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित ही है। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श तथा उपसंहृति ये पांच नाट्यसंधियां होती हैं।

मुख संधि वहां होती है जहां अनेक प्रकार के प्रयोजन और रस को निष्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है। आचार्य धनंजय के अनुसार मुख सन्धि के बारह अंग होते हैं।[1] अत विदग्धमाधव में भी इन्हीं सन्ध्यंगों का मुख सन्धि सहित क्रमशः व्याख्यान किया जा रहा है।

मुख सन्धि का जन्म आरम्भ नामक अवस्था और बीज नामक अर्थप्रकृति के संयोग से उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से विदग्धमाधव की प्रस्तावना के अनन्तर प्रथम अंक के १२वें श्लोक से बीज तथा आरम्भ स्वीकार किया जा सकता है। नान्दी नामक सेविका के पूछने पर पौर्णमासी उत्तर देती है कि--" जिससे मैं श्रृंगार रस में मंगलयोग्य उन दोनों (राधा और कृष्ण) के नवीन संगम कराने योग्य बनूं।[2] प्रस्तुत अंश में ही " उपक्षेप" नामक मुख संधि का प्रथम अंग है। आचार्य धनंजय ने लिखा है --" बीजन्यास उपक्षेपः" अर्थात् रूपक के प्रारंभिक अंश में जब कवि बीज का न्यास करता है तो उसे उपक्षेप कहते हैं।[3]

---

१. मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
   अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ।--दशरूपक--१।३७।
   उपक्षेपःपरिकरः परिन्यासो विलोभनम् ।।
   युक्तिःप्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ।
   --वही १।३८
२. संभाव्यते फलमभिमतकृत्युष्टैस्तथा,कुर्वं कथं मम भाग्यतरोर्वरीयस् ।
   येनानयोः सुभगयोरुचिता भवेयं श्रृंगारमाङ्गलिक्ययोर्नवसंगमाय ।।--विदग्धमाधव१।१२
३. बीजन्यासः उपक्षेपः -- दशरूपक १।३९ ।

प्रस्तुत नाटक में भी नाटक के मुख्य प्रतिपाद्य राधा और कृष्ण के सम्मिलन की चिन्ता कवि ने व्यक्त की है। इस प्रकार पौर्णमासी का "नवसंगमाय उचिता मैवैषम्" वचन राधाकृष्ण के एक ही भाव की शुभकामना है, प्रारम्भ है और बीजन्यास रूप उपक्षेप भी है।

"हर्षविरचित" रत्नावली" में भी महामंत्री यौगन्धरायण ने इसी प्रकार की चिंता द्वारा उदयन और रत्नावली के मिलन को अभिव्यंजित किया है।[1]

मुखसन्धि के अन्तर्गत दूसरे सन्ध्यंग का नाम है परिकर। दशरूपककार ने लिखा है -- तदबाहुल्यं परिक्रिया[2]। परिक्रिया का तात्पर्य है बीजन्यास बहुलता। रूपक के पात्र को जब अपने फलबीज के विषय में और अधिक विश्वास हो जाता है तो उसे परिकर या परिक्रिया कहते हैं।

आचार्य धनिक लिखते हैं --" बीजोत्पत्तिरेव बहुकरणाद् परिकर:"। "विदग्ध-माधव" के प्रथम अंक में ही एक स्थान पर रैविका नान्दी राधा और कृष्ण का चिरमिलन चाहने वाली देवी पौर्णमासी से उनकी निश्चिन्तता का कारण पूछती है। वस्तुत: प्रसंग पौर्णमासी के चिन्तित होने का है क्योंकि यशोदा की धाय मुखरा ने अपनी नतिनी राधा का विवाह गोकुलनिवासिनी जटिला के पुत्र अभिमन्यु से कर दिया है। इस प्रकार से एकमात्र कृष्ण की सहचारिणी राधा का अभिमन्यु से विवाह हो जाना पौर्णमासी की चिन्ता का विषय है। फिर भी वह निश्चिन्त है अतएव रैविका नान्दी का निश्चिन्तता विषयक प्रश्न उचित ही है। नान्दी के प्रश्न का उत्तर पौर्णमासी इस प्रकार से देती है --" स्वयं योगमाया ने उसको धोखा देने के लिए ही वैसे लोगों को ~~मिलन~~ विवाह आदि का झूठा विश्वास दिलाया है। वे सब तो कृष्ण की सदा की प्रेमिकाएं हैं।[3]

प्रस्तुत वाक्य में विपरीत परिस्थिति होने पर भी पौर्णमासी राधा और कृष्ण के चिरमिलन का दृढ़ विश्वास व्यक्त करती है। उसकी दृष्टि में अभिमन्यु से राधा का विवाह होना एक झूठी बात है, एक दिखावा (मिथ्यैव प्रत्यायितम्) मात्र है। उसको दृढ़ विश्वास है कि राधा कृष्ण की नित्य प्रेयसी है। पौर्णमासी का यही दृढ़ विश्वास

---

१. रत्नावली नाटिका--१।७

२. दशरूपक--१।४० ।

३. विदग्धमाधव--पृ० १२ ।

है कि राधा कृष्ण की नित्य प्रेयसी है । पौर्णमासी का यही दृढ़ विश्वास सन्ध्यंग की पुष्टि करता है ।

मुख संधि का तीसरा अंग है परिन्यास । आचार्य धनंजय लिखते हैं" तन्निष्पत्तिः परिन्यासः[1]" इसका तात्पर्य है वह बीजन्यास जिसका आधिक्य अथवा पुष्टि परिक्रिया में होती है । उसी की सिद्धि अथवा परिपक्वावस्था में पहुंच जाना । इस दृष्टि से विदग्धमाधव के प्रथम अंक का यह सन्दर्भ द्रष्टव्य है--

नान्दी -- प्रथम क्षण में कृष्ण के साथ किस प्रकार (वृन्दावली) संगम सम्पन्न हुआ ?
पौर्णमासी -- बेटी, मिलन में तो गाढ़ प्रेम की भावना ही दूती बनी । मेरे प्रयासों की तो केवल पुनरावृत्ति हुई[2] ।"

उपर्युक्त कथोपकथन में पौर्णमासी बीजन्यास की परिपक्वावस्था को सूचित करती है । रत्नावली और उदयन के सम्मिलन में जैसे महामंत्री यौगन्धरायण को ईश्वरीय कृपा का विश्वास होता है (दैवे चेत्थम् दत्तहस्तावलम्बे आदि) ठीक उसी प्रकार राधा और कृष्ण के सम्मिलन में पौर्णमासी को अपने गुरुचरण देवर्षि नारद की कृपा का विश्वास है क्योंकि उन्हीं की आज्ञा से वह राधा कृष्ण का सम्मिलन कराने के लिए अपने पुत्र महर्षि सान्दीपन को छोड़ कर गोकुल में निवास कर रही है ।

मुख संधि का तीसरा अंग है विलोभन-- गुणाख्यानं विलोभनं[3] । जब फल से सम्बद्ध किसी वस्तु के गुणों का वर्णन किया जाये तो उसे विलोभन कहते हैं । कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु के गुणों के ही कारण उस पर मुग्ध होता है । नाटक में भी नायक आदि को फल की ओर उन्मुख करने के लिए कवि नायक के गुणों का आख्यान करता है । रत्नावली में वैतालिक राजा उदयन के गुणों का वर्णन करता है जिससे रत्नावली के हृदय में उदयन के प्रति उत्कण्ठा होती है । ठीक उसी प्रकार" विदग्धमाधव" के प्रथम अंक में ही नान्दी पौर्णमासी से कहती है कि कृष्ण के प्रति राधा का अनुराग पराकाष्ठा तक पहुंच गया है क्योंकि वार्तालाप के प्रसंग में कृष्ण का नाम सुनते ही राधा पुलकित हो उठती है । दीपिका के वचन का वर्णन करती हुई पौर्णमासी कृष्ण के अप्रतिम व्यक्तित्व का वर्णन करती है जिससे राधा के मन में और भी अधिक उत्कंठा उत्पन्न हो जाती है ।

---

१. दशरूपक--१।४२
२. विदग्धमाधव--पृ० २४-२५
३. दशरूपक--१।४२ ।

इस प्रकार "विदग्धमाधव" के निम्नलिखित श्लोक में विलोभन नामक सन्ध्यंग है--

पौर्णमासी नान्दी से कहती है--"दो अक्षरों वाला "कृष्ण" यह शब्द मुख में नृत्य करता है तो अनेक मुखों को प्राप्त करने के लिए प्रेम का विस्तार करता है। कर्णप्रदेश में अंकुरित होकर असंख्य कानों की स्पृहा करता है। चित्तरूपी आंगन में जाकर समस्त इन्द्रियों के व्यापार को पराजित करता है। न जाने कितने सुधा समूह से दो अक्षरों वाला "कृष्ण" यह नाम उत्पन्न हुआ है।[1]

मुख सन्धि का पांचवां अंग है "युक्ति" जिसकी परिभाषा दशरूपककार ने इस प्रकार दी है --"सम्प्रधारणमर्थानाम् युक्तिः"[2] अर्थात् जहां अर्थों का पात्र के अभीष्ट तथ्यों का अवधारण समर्थन किया जाये वहां युक्ति होती है।

रत्नावली नाटिका में सिंहलेश्वर की पुत्री रत्नावली को देवी वासवदत्ता के हाथों में सौंप कर महामंत्री यौगन्धरायण ने अपनी उक्ति का समर्थन किया है।[3] ठीक इसी प्रकार की युक्ति पौर्णमासी ने राधा कृष्ण के संदर्भ में प्रस्तुत की है। वह कहती है--मुझे भी मोदक समूह के वितरण के व्याज से वृन्दावन पहुंच कर "राधा" इस मंगलमय अक्षर की मधुरिमा से माधव के कर्णयुगल को आनन्दित करना है।[4] इस प्रकार कृष्ण को राधा की ओर प्रेरित करने के लिए वृन्दावन जाने की पूर्णमासी की युक्ति राधा और कृष्ण के सम्मिलन का समर्थन ही करती है।

प्राप्ति नामक छठे सन्ध्यंग का लक्षण है--"प्राप्तिः सुखागमः"[5] फलप्राप्ति की आशा में जहां सुख का आगम हो वहां प्राप्ति नामक मुखांग है।

वेणीसंहार में भीम की गर्वोक्तियों से हर्षित होकर[6] द्रौपदी कहती है--स्वामिन् यह वचन मैंने पहले कभी नहीं सुना था अतः बार-बार कहिए।[7]

---

१. तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये
   कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्।
   चेतः प्रांगणसंगिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
   नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी।--विदग्धमाधव--१।६

२. दशरूपक--१।४३।   ३. रत्नावली, पृ० ६ (टीकाकार रामशास्त्री, बाल मनोरमा प्रेस, मायलापुर, मद्रास (1952)

४. विदग्धमाधव--पृ० १८।

५. दशरूपक--१।४४

६. वेणीसंहार--१।१५

७. वही--पृ० २५

इस वचन से सुखायम प्राप्ति का उल्लेख किया गया है। इस दृष्टि से 'विदग्धमाधव' के प्रथमांक में ही वृन्दावन में कृष्ण और पौर्णमासी का वार्तालाप होने पर,पौर्णमासी द्वारा राधिका की चर्चा की जाने पर कृष्ण आन्तरिक उल्लास को अनुभव करते हुए कहते हैं-- अहा,किस प्रकार मन को हरण करने वाली राधा की बात पुन: संयोगवश आ रही है।[१] कृष्ण के इस वाक्य में उनके हृदय का उल्लास उनकी प्रसन्नता और उनके सन्तोष का प्रकाशन होता है।

मुख संधि का सातवां अंग है समाधान। धनंजय लिखते हैं--' बीजागम: समाधानम्' अर्थात् युक्तियों के द्वारा बीज की फिर से व्यवस्था किये जाने को ही समाधान कहते हैं।[२]

रत्नावली नाटिका में पूजा के अवसर पर महारानी वासवदत्ता रत्नावली को सारिका की रक्षा के लिए अन्त:पुर लौट जाने का आदेश देती हैं लेकिन रत्नावली लौटने के बजाय छिपकर राजा उदयन को देखने की चेष्टा करती है। रत्नावली की यह चेष्टा बीजन्यास की ही पुनर्व्यवस्था है। ठीक इसी प्रकार 'विदग्धमाधव' के प्रथमांक में पौर्णमासी द्वारा व्यक्त किया हुआ निम्नलिखित वक्तव्य समाधान नामक सन्ध्यंग को प्रकट करता है क्योंकि इसमें राधा के प्रति कृष्ण की उत्कण्ठा का फिर से व्यवस्थापन दृष्टिगोचर होता है।

पौर्णमासी-(अपने आप) वटुक (मधुमंगल) का परिहास सत्य है क्योंकि यह (कृष्ण) भावावेश से केवल मनोदशा के द्वारा लज्जायुक्त प्रतीत होता है अत: आज मैं सफल मनोरथ हूं। (प्रकट) यहां उत्कंठा की आवश्यकता नहीं है (अर्थात् राधा के सम्बन्ध में उत्सुक होने की जरूरत नहीं है वह तुम पर सर्वथा अनुरक्त है) आकाशमार्ग में चलने वाली वह राधा मनुष्यलोक में कैसे प्राप्त हो सकती है।[३]

आठवें सन्ध्यंग का नाम है--' विधान' जिसके विषय में दशरूपककार ने लिखा है--विधानं सुखदु:खकृत्[४] 'अर्थात् नायक अथवा नायिका के हृदय में जहां सुख और दु:ख की भावनाएं पैदा हों वहां विधान होता है।

---

१. विदग्धमाधव--पृ० ३५
२. दशरूपक--१।४५।
३. विदग्धमाधव--पृ० ३६।
४. दशरूपक--१।४६।

"मालतीमाधव" और "वेणीसंहार" आदि नाटकों में इस प्रकार की भावनाएं व्यक्त की गयी हैं।[1] "विदग्धमाधव" के प्रथमांक में जब कृष्ण अपने मित्रों के साथ पौर्णमासी से विदा लेकर चले जाते हैं तब पौर्णमासी राधा से मिलने के लिए आगे बढ़ती है और इसी सन्दर्भ में राधा की विभिन्न मनोवृत्तियों का आकलन कर उसके हृदय में एक साथ सुख-दुख की भावनाएं उत्पन्न होती हैं। सचमुच विधान सन्ध्यंग का यह उदाहरण अन्य नाटकों की अपेक्षा बहुत अधिक रुचि कर और स्पष्ट कहा जा सकता है।

राधा की मनोदशा का चित्रण पौर्णमासी इतने सुन्दर ढंग से कहती है कि राधा के भाव स्पष्ट हो जाते हैं। वह कहती है--"राधा के नेत्रों की शोभा बलपूर्वक नवीन कुवलय को निगल रही है। मुख का उल्लास विकसित कमलवन का अतिक्रमण कर रहा है। शरीर की कान्ति सुवर्ण को भी शोचनीय दशा में पहुंचा रही है इस प्रकार राधा का रूप सौन्दर्य कुछ विलक्षण ही दिख रहा है।[2] राधा के सुख दुःख आदि भावों का प्रतिपादक होने के कारण इसे "विधान" कहा गया है।

मुखसन्धि का नवां अंग है परिभाव--"परिभावोद्भुतावेशः[3] अर्थात् जहां पात्र में अद्भुत आवेश हो या आश्चर्य की भावना हो वहां परिभाव या परिभावना होती है। मदनपूजा के अवसर पर ऐसा ही आवेश महाराज हर्ष ने रत्नावली में प्रदर्शित किया है। "विदग्धमाधव" में भी इसी प्रकार का एक अद्भुत आश्चर्य रूपगोस्वामी ने राधिका में भी प्रदर्शित किया है।

ललिता-- सखि, कृष्ण के विहारतरु की यही वह वाटिका है।

राधिका--(उत्कंठापूर्वक मन ही मन) दोनों अक्षरों का माधुर्य विलक्षण है (प्रकट) सखि किसका कहती हो?[4]

---

१. मालतीमाधव--२।३० और वेणीसंहार १।२५-२६ एवं पृ० ४० ।

२. विदग्धमाधव--२।३२

३. दशरूपक--१।४७

४. विदग्धमाधव--पृ० ३८-३६ ।

उपर्युक्त वाक्य में राधा के मन का आश्चर्य प्रकट हुआ है ।

मुख सन्धि का दसवां अंग है--उद्भेद,जिसका तात्पर्य है छिपे हुए बीज का प्रकटीकरण ही उद्भेद कहा जाता है--" उद्भेदो गूढ़भेदनम् ।"[1]

विदग्धमाधव में ललिता द्वारा कृष्ण के प्रति अनुराग पूछे जाने पर राधिका अचानक अपनी विवशता को प्रकट कर देती है । अपनी जिस आसक्ति को अभीतक वह सखियों से छिपाये थी वह रहस्य प्रकट हो जाता है । इस प्रकार निम्नलिखित श्लोक उद्भेद का निदर्शन है-- राधिका लज्जापूर्वक कहती है--" कदम्बवृक्ष के बीच से फैलता हुआ न जाने कौन-सा शब्द कर्णकुहर में प्रवेश कर गया । हा हा । सखि,जिससे आज कुलीन नारी समाज में किसी निन्दा योग्य अवस्था को प्राप्त हुई हूं ।[2]

ग्यारहवें सन्ध्यंग को " करण " कहते हैं--" करणं प्रकृतारम्भः"[3] रूपक की कथा के अनुरूप प्रकृत कार्य का जहां आरम्भ हो वहां करण संध्यंग होता है । इस सन्ध्यंग के द्वारा अगले अंक की कथावस्तु की व्यंजना भी करायी जाती है ।" वेणीसंहार" में जैसे भीम कहते हैं-- प्रिये द्रौपदी अब हम लोग कौरवों के नाश के लिए जा रहे हैं । भीम के इस वचन से वेणीसंहार के अगले अंकों में प्रस्तुत किये गये कौरव पाण्डव समर का प्रारम्भ व्यंजित किया गया है ।[4] ठीक इसी प्रकार विशाखा नामक राधा की सखी,जो कि चित्र-रचना में भी निपुण है,राधा के पास पहुंच कर उसके प्रति मन ही मन अपना भाव व्यक्त करती है --

विशाखा (राधा का निश्चय करती हुई अपने आप) इस समय यह कुछ दूसरी लग रही है । तो निश्चय ही यह कृष्ण की मुरली से ठगी गयी है । अच्छा पूछती हूं ।(समीप जाकर कहती है)--कमल के समान दोनों नेत्रों से बहते हुए अश्रुबिन्दु धरती को कीचमय बना रहे हैं । लम्बी सांस दूर से वक्षस्थल के वस्त्र की पीलिमा लिये हुए गोरे मुख पर उड़ा रही है और ये रोमांच समूह तुम्हारी मूर्ति को निरन्तर कण्टकयुक्त कर रहे हैं । मानो माधव की मधुरिमा कानों के समीप आ गयी हो ।[5]

---

१. दशरूपक--१।४८
२. विदग्धमाधव--२।३४
३. दशरूपक--१।४६
४. वेणीसंहार नाटक--पृ० ४९ ।
५. विदग्धमाधव नाटक,२।३६ ।

उपर्युक्त संदर्भ में विशाखा राधा का जो चित्र प्रस्तुत करती है उससे "विदग्ध-माधव" के अगले अंकों में प्रस्तुत किये गये राधा और कृष्ण के पराकाष्ठागत प्रेम की व्यंजना होती है ।

मुख सन्धि का अन्तिम अंग है-- भेद जिसका लक्षण है--"भेद: प्रोत्साहना मता:" अर्थात् किसी पात्र को बीज के प्रति जब प्रोत्साहित किया जाये तो वही भेद होता है।[1] "वेणीसंहार" में जैसे भीम के वचन विषण्ण द्रौपदी के मन में उल्लास भर देते हैं।[2]

इसी प्रकार "विदग्धमाधव" के प्रथम अंक के अन्त में राधा और विशाखा का निम्नलिखित वार्तालाप दु:खिनी राधा के मन में उल्लास भरता है ।

राधिका--सखि, मेरे हृदय को कोई भारी वेदना उत्पन्न हो गयी है । अत: जाकर सोऊँगी ।

विशाखा--सखि राधे, तुम्हारी वेदना को नष्ट करने वाली कोई यह औषधि मेरे हाथ में है, अत: इसका सेवन करो ।[3]

उपर्युक्त वाक्य में यह कह कर कृष्ण के चित्र को राधा के हाथ में सौंप देना राधा को कृष्ण के प्रति प्रोत्साहित करना है । इस दृष्टि से यह "भेद" नामक सन्ध्यंग कहा जायेगा ।

मुख सन्धि के अनन्तर आचार्यों ने प्रतिमुख सन्धि का विश्लेषण किया है । आचार्य धनंजय के मतानुसार जब कथानक का बीज कुछ-कुछ दृष्टिगोचर होता है और कुछ कुछ गूढ़ बना रहता है तो इसी लक्ष्य-अलक्ष्य परिस्थिति में उस बीज का फूट पड़ना या उद्भिन्न हो जाना प्रतिमुख सन्धि का विषय है । इसमें बिन्दु नामक अर्थप्रकृति और प्रयत्न नामक कार्यावस्था का सम्मिश्रण होता है । प्रतिमुख सन्धि वस्तुत: बीज के अंकुरण को घोतित करती है।[4]

---

१. दशरूपक--१।५०
२. वेणीसंहार--१।२६-२७ ।
३. राधिका--सखि,जाता मम हृदये कापि गुर्वी वेदना ।तद्गत्वा स्वप्स्यामि ।
विशाखा--सखि,राधे तववेदनाविध्वंसनं किमप्येतदौषधं मम हस्ते वर्तते तत्सेवस्व ।
--विदग्धमाधव,पृ० ४४।
४. लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादंगान्यस्य त्रयोदश ।।-- दशरूपक--१।५१ ।

रत्नावली नाटिका में उदयन और रत्नावली का अनुरागबीज नायिका की सखी सुसंगता और विदूषक के प्रयत्नों से लक्षित होता है परन्तु चित्रफलक वृत्तान्त द्वारा महारानी वासवदत्ता के कारण गूढ़ भी हो जाता है। इस प्रकार नायक नायिका के अनुराग की यही दृश्यादृश्यरूपता प्रतिमुख सन्धि है।

कृष्णकथापरक नाटकों में भी यह सन्धियाँ देखी जा सकती हैं। विदग्धमाधव के द्वितीय अंक में विशाखा और राधिका के वार्तालाप में प्रतिमुख सन्धि देखने को मिलती है। राधिका विशाखा से कहती है--" शरीर से मरकतमणि की कान्ति को फैलाता हुआ मयूरपुच्छधारी एक नवयुवक पर्दे से बाहर निकला और उसने चंचल भ्रूभंग से मेरी बुद्धि को उन्मत्त बना दिया। खेद है कि चन्द्रमा मेरे लिए अग्नि बन गया और अग्नि चन्द्रमा।[1]

प्रस्तुत संदर्भ में राधा का प्रणय लक्ष्यालक्ष्य स्थिति में होने के कारण प्रतिमुख सन्धि प्रस्तुत करता है।

आचार्यों ने प्रतिमुख सन्धि के तेरह अंग बतलाये हैं--विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास और वर्णसंहार।[2]

आचार्य धनंजय रति की इच्छा को " विलास " नामक अंग मानते हैं।[3] संस्कृत टीकाकार सुदर्शनाचार्य यहाँ रति का तात्पर्य नायक-नायिका के आंगिक सम्पर्क से मानते हैं, परन्तु यहाँ पर उसका सामान्य अर्थ (प्रेम) ही लेना श्रेयस्कर है।

" विदग्धमाधव " में राधिका विशाखा के प्रश्न का उत्तर देती हुई कहती है--अरे दुष्ट हृदय मर्कट, कृष्ण, वैणविक और श्यामल किशोर इन तीन पुरुषों में प्रेम करते हुए भी तुम्हें लज्जा नहीं आती है?[4]

उपर्युक्त वाक्य में राधा का अनुराग भाव कृष्ण के प्रति व्यक्त हो रहा है, अतएव यही " विलास " नामक अंग माना जायेगा।

---

१. वितन्वानस्तन्वा मरकतरुचीनां रुचिरतां
   पटान्निष्क्रान्तोऽभूद् धृतशिखिण्डो नवयुवा।--विदग्धमाधव, पृ० ४६।

२. दशरूपक--१।५२

३. रत्यर्थेहा विलासः स्याद् --दशरूपक १।५३।

४. अयि दुष्टहृदय मर्कट, कृष्णो वैणविकः श्यामलकिशोर इति त्रिषु पुरुषेषु रागं वहन्नपि त्वं न लज्जसे। तदिदानीमात्मानं व्यापाद्य पामरं त्वां हताशं करिष्ये।
   --विदग्धमाधव, पृ० ५१।

दशरूपककार ने लिखा है --दृष्टनष्टानुसर्पणं परिसर्पः[1] ,अर्थात् जब बीज एक बार दृष्टिगोचर हो किन्तु पुनः छिपायी पड़ कर नष्ट हो जाय तो उसका अन्वेषण ही परिसर्प नामक प्रतिमुख सन्ध्यंग है ।

रत्नावली नाटिका में भी मन्दुरा से वानर के प्रभ्रष्ट होने पर जब सागरिका चली जाती है तो उसे दृष्ट नष्ट हो जाने पर राजा उदयन का उसे पुनः खोजना "परिसर्प" कहा जायेगा[2] । "विदग्धमाधव नाटक" में भी राधा कृष्ण के प्रति निराश हो जाने पर अपनी सखियों के द्वारा पुनः धैर्य धारण करायी जाती है ।

निम्नलिखित कथोपकथन से परिसर्प सन्ध्यंग स्पष्ट हो जाता है ।

राधिका-- इस अवसर पर तुम्हीं कहती हूं कि जिस प्रकार मैं एक मजबूत लतापाश को प्राप्त कर सकूं उस प्रकार प्रेम की निष्कृति करो ।

दोनों सखियां-- सखि, इस प्रकार दुःसह वचन बोलती हुई तुम सखियों के जीवन को खतरे में न डालो । तुम्हारे अभिलषित फल की प्राप्ति समीप ही है[3] ।

"विधूत" नामक सन्ध्यंग का लक्षण आचार्य धनंजय ने इस प्रकार दिया है--विधूतं स्यादरतिः[4] । बीज के नष्ट होने पर,पात्र उससे दुखित होकर लक्ष्य के प्रति निराश होकर उसकी आकांक्षा छोड़ देता है । रति भावना का यही विधूनन "विधूत" कहा जाता है ।

रत्नावली नाटिका में उदयन के प्रति निराश सागरिका कहती है--सखी,इन्हें हटा लो,क्यों व्यर्थ ही अपने को कष्ट दे रही हो ?[5] ठीक इसी प्रकार "विदग्धमाधव" में कृष्ण के प्रति निराश राधा कहती है--" एक का सुना हुआ" कृष्ण" यह नाम ही बुद्धि को हर रहा है । दूसरे की मुरली ध्वनि गहन उन्माद की श्रेणी प्राप्त करा रही है । स्निग्ध मेघ की कांति वाला यह (तीसरा) एक ही बार के देखने से मेरे मन में समा गया है । दुःख है धिक्कार है कि तीन पुरुषों में मेरी आसक्ति हुई है । मैं तो मृत्यु को ही श्रेष्ठ समझती हूं ।[6]"

---

१. दशरूपक--१।५५
२. रत्नावली नाटिका--अंक २ ।
३. विदग्धमाधव--पृ० ५३ ।
४. दशरूपक--१।५५ ।
५. रत्नावली नाटिका,पृ० ४६ ।
६. विदग्धमाधव--२।६ ।

प्रतिमुख सन्धि का चौथा अंग शम है। आचार्य धनंजय ने विधुत सन्ध्यंग में उत्पन्न अरति का शान्त हो जाना स्वीकार किया है।[1]

"रत्नावली नाटिका" में सागरिका द्वारा स्वयं को चित्रलिखित देख कर जब राजा उदयन प्रसन्न हो जाते हैं तो सागरिका उल्लासपूर्वक कहती है--हृदय धीरज धर, तेरा तो मनोरथ यहाँ तक नहीं पहुँच पाया था।[2] ठीक इसी प्रकार का दृश्य "विदग्धमाधव" में भी है जब विधुत नामक सन्ध्यंग में पूर्ववर्णित स्थिति के अनन्तर ही सखियों द्वारा आश्वस्त किये जाने पर राधा कहती है--"हृदय धीरज रखो, धीरज रखो। अब इस संसार में रहने की लालसा उत्पन्न हुई है।"[3]

पाँचवां सन्ध्यंग नर्म है जिसका लक्षण दशरूपक में दिया है--"परिहासवचो नर्म"।[4] पात्रों का पारस्परिक हास-परिहास ही नर्म कहा जाता है। विदग्धमाधव नाटक में नर्म नामक सन्ध्यंग का अत्यन्त रमणीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। दृश्य इस प्रकार का है--

मधुमंगल-- मित्रवर! सामने ही चिल्लाते हुए मुझे तुम क्यों नहीं देखते हो?

कृष्ण -- मित्र, चम्पकलता की सुन्दरता से मुग्ध होकर मैं तुमको न देख सका।

मधुमंगल--यह तो ठीक ही रहे हो किन्तु चलती-फिरती चम्पकलता (अर्थात् राधा) की सुन्दरता से आकृष्ट होकर।

कृष्ण --मित्र, चम्पकलता का चलना-फिरना बिल्कुल असंभव है।

मधुमंगल--अच्छा चालाकी छोड़ो। सीधे बताओ ऐसे-तैसे से क्यों हो?

कृष्ण-- (मुस्करा कर) -- माला के बिना।

मधुमंगल-- यह क्यों नहीं कहते कि बाला के बिना।[5]

उपर्युक्त उदाहरण में विदूषक के साथ कृष्ण का वार्तालाप हास-परिहास का रम्य चित्र प्रस्तुत करता है।

नर्मद्युति नामक सन्ध्यंग का लक्षण है-- धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता,[6] अर्थात् धैर्य संचार से युक्त परिहास द्युति को नर्मद्युति कहते हैं। "विदग्धमाधव" में विदूषक "मधुमंगल" द्वारा राधा वृत्तान्त जान लिये जाने पर कृष्ण का निम्नलिखित वचन नर्मद्युति[7] प्रस्तुत करता है।

---

1. तच्छमः शमः।-- दशरूपक--१।५६। 2. रत्नावली नाटिका--पृ० ६६।
3. विदग्धमाधव--पृ० ५५। 4. दशरूपक--१।५७।
5. विदग्धमाधव नाटक, पृ० ६७। ६. दशरूपक, १।५८।
7. मम राधा मिलनेऽस्य प्रतीपनयमन्मनः।
महाज्यैष्ठीव सख्या प्रवाहं सौरसैन्धवम्।--विदग्धमाधव--२।२८।

कृष्ण--(मानो आप) इस धूर्त ने क्या सब कुछ समझ लिया ? तो उसको ठगना व्यर्थ है।
(प्रकट) मित्र,तुम सच कहते हो । तो सुनो--" मेरे स्वस्थ मन को राधा ने विपरीत गति अर्थात् अस्वस्थ बना दिया है जिस प्रकार महाज्येष्ठ की पूर्णिमा तिथि गंगा के प्रवाह को सहसा उलट देती है ।

प्रतिमुख संधि के अन्य अंगों में प्रगमन,निरोधन,पर्युपासन,पुष्प,उपन्यास,वज्र और वर्णसंहार आदि आते हैं । परन्तु" विदग्धमाधव" में इनका वह रूप दृष्टिगोचर नहीं होता जो कि आचार्य धनंजय को इष्ट है । उदाहरण के लिए वर्णसंहार नामक अंतिम सन्ध्यंग का लक्षण है-- चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते[1] अर्थात् जहां ब्राह्मण,क्षत्रिय, वैश्य,शूद्र--यह चारों वर्ण एकत्र हों उसे वर्णसंहार कहते हैं ।

इस प्रकार का दृश्य भवभूतिरचित" महावीरचरित" के तीसरे अंक में मिलता है[2]। निश्चय ही यह एक विशेष परिस्थिति है परन्तु दुर्भाग्यवश इस प्रकार का कोई चित्रण "विदग्धमाधव" में उपलब्ध नहीं है ।

सच बात तो यह है कि ६४ सन्ध्यंगों का क्रमिक विवेचन निरपेक्ष रूप से लिखे गये किसी नाट्यग्रन्थ में मिलना सम्भव भी नहीं है क्योंकि कोई नाटककार सिद्धान्तों के आधार पर नाट्यरचना नहीं करता । वह सर्वथा स्वतंत्र भाव से आत्मसंतोष के लिए स्वेच्छापूर्वक नाट्यकथा की कल्पना करता है । इसलिए यह बिल्कुल संभव नहीं है कि समस्त सन्ध्यंग एक ही कृति में दिखायी पड़ जायें । ऐसी स्थिति में सन्ध्यंग विवेचन एक आकस्मिक प्रक्रिया समझी जानी चाहिए ।

उपर्युक्त व्याख्यान से यह स्पष्ट हो चुका है कि" विदग्धमाधव" में पंचसन्धियां और सन्ध्यंगों का विवेचन रमणीय रूप में हुआ है परन्तु अब अति विस्तार के भय से इस संदर्भ को यहीं छोड़ा जा रहा है ।

रूपगोस्वामी का" ललितमाधव" नामक नाट्यग्रन्थ भी कृष्णकथाश्रित रूपकों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यह रचना आद्यन्त नाट्यशास्त्रीय पद्धति पर लिखी गयी है, क्योंकि इसका सन्धि-सन्ध्यंग विवेचन आचार्य रूपगोस्वामी ने" नाटकचन्द्रिका" नामक

---

१. दशरूपक--१।६५
२. महावीरचरित--३।५ ।

अपनी नाट्यशास्त्रीय कृति में किया है ।

'नाटकचन्द्रिका' अपने समस्त सन्धि-सन्ध्यंग उदाहरण 'ललितमाधव' से ही उद्धृत करती है । ठीक उसी प्रकार जैसे आचार्य धनंजय ने सारे उदाहरण मुख्यतः हर्ष की कृतियों से लिये हैं । इस प्रकार 'नाटक चन्द्रिका' को दृष्टि में रखते हुए 'ललितमाधव' के संदर्भ में कुछ भी लिखना पिष्टपेषण मात्र होगा ।

कृष्णकथाश्रित अन्य प्रमुख कृतियों में बालचरित, रुक्मिणी परिणय, कंसवध, प्रद्युम्नाभ्युदय और वृषभानुजा नाटिका आदि हैं । इन नाट्यकृतियों में भी अर्थप्रकृति और अवस्थाओं, सन्धियों और सन्ध्यंगों का विवेचन 'विदग्धमाधव' की ही भाँति सन्वेषित किया जा सकता है, परन्तु प्रस्तुत संदर्भ में उनका पृथक् शास्त्रीय नाट्यव्याख्यान नहीं किया जा रहा है क्योंकि वह प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का विषय नहीं है । शोधकर्ता का उद्देश्य तो केवल इतना है कि कृष्णकथाश्रित नाट्यकृतियों की नाट्यशास्त्रीय मान्यताओं को सिद्ध कर दिया जाये । इसी उद्देश्य से स्थालीपुलाकन्याय का आश्रय लेकर 'विदग्ध-माधव' का उपर्युक्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है । शेष कृतियों को 'सर्वपदाः हस्तिपदे निमग्नाः' मान्यता का आश्रय लेकर छोड़ा जा रहा है ।

---oo---

पंचम अध्याय

विषयोपसंहार

सौन्दर्य के प्रति अनुरक्तलालसा प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर में विद्यमान रहती है । सौन्दर्य की इन्द्रधनुषी छटा में व्यक्ति अपने को मात्र दर्शक बनाकर नहीं रख पाता, उसकी झलक निहारने के लिए उत्कंठित हो जाता है । उस सौन्दर्य की तरंगिणी में निमग्न होकर प्रत्येक व्यक्ति उस अपरिमित आनन्द की उपलब्धि करना चाहता है, जहां पर उसकी रागात्मिका वृत्ति सौन्दर्याभिभूत हो सके ।

श्रीकृष्ण और राधा का स्वरूप तो सौन्दर्य का विशाल समुद्र है जिसके अमृतकुण्ड में भक्तगण अपने को निमग्न करके अमर हो जाना चाहते हैं । श्रीकृष्ण और राधा की मनमोहिनी छटा भक्तगणों के अन्तस्तल को सौन्दर्यापूरित कर देती है और वह मंत्रमुग्ध की तरह उस सौन्दर्य का पान करते हैं । श्रीकृष्ण का सगुण रूप इसलिए लोकप्रिय रहा, क्योंकि यहीं पर भक्तजनों को आत्मिक आनन्द की उपलब्धि होती है । श्रीकृष्ण का मोरमुकुट, उनका वंशीनिनाद, अलौकिक मधुरलीलाएं--सब आनन्द को ही प्रवाहित करती हैं और यह आनन्द केवल पृथ्वीतल को ही आनन्दित करने वाला नहीं है परन्तु ब्रह्माण्ड को भी लालायित कर देने वाला है ।

श्रीकृष्ण की चिरसंगिनी राधा का भागवतपुराण और विष्णुपुराण में उल्लेख न होने पर भी ब्रह्मवैवर्त आदि में इतना मनोहारी चित्रण किया गया है कि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति राधा और कृष्ण की क्रीडास्थली के लिए सुन्दर रमणी का रूप धारण करके, राधाकृष्ण की चरणसेवा करती हुए, उनकी महारासलीला में उपादानभूत सौन्दर्योत्पादक सामग्री लेकर, सन्नद्ध उपस्थित हो गयी हो । जड़-चेतन समस्त पदार्थ श्रीकृष्ण और राधा की आराधना में संलग्न होकर सौन्दर्याधान करके राधाकृष्ण की नीराजना करते हुए प्रतीत होते हैं ।

इस प्रकार पुराणों में प्रतिपादित राधाकृष्ण का मनमोहक स्वरूप परवर्ती नाटककारों के मन को मधुर रस के लोभी भंवर की भांति इतना आकर्षित कर गया कि वह अपने लोभ का संवरण न कर पाये और अपने नाटकों में विशुद्ध माधुर्यभाव का दिग्दर्शन कराया ।

कवि की श्रेष्ठता उसकी कृतियों का पर्यालोचन करने के उपरान्त ही अंगीकृत की जाती है । कोई भी कवि अपने आन्तरिक उद्गारों का जितना बिम्बात्मक चित्रण प्रस्तुत करता है उसी के आधार पर कवि के भावों की गहरी पैठ का प्रत्यभिज्ञान हो पाता है । भावों को व्यक्त करने में ही कवि की प्रतिभा प्रदर्शित होती है कि वह

मनुष्य के अन्तर में विद्यमान भावों का कितना मनोवैज्ञानिक एवं सूक्ष्म अध्ययन कर पाया है अथवा नहीं ?

कवि की सृष्टि तो अलौकिक होती है, जहाँ पर वह रूप-रस का आस्वादन भी अलौकिक धरातल पर करता है और उसे परब्रह्मजनित आनन्द की उपलब्धि की भाँति ही आनन्द की प्राप्ति होती है । इस आनन्द का पान सहृदय को कराने के लिए वह प्रयास करता है, परन्तु वह कहाँ कहांतक सफल हो पाता है, यही नाटकों में अन्वेषित करना है ।

राधा और कृष्ण दोनों ही परब्रह्म और उनकी सहचरी के रूप में विख्यात रहे हैं । दोनों की रतिक्रीडा का वर्णन जब नाटकों में सहृदय के समक्ष उपस्थित किया जाता है तो दोनों के दिव्य होने के कारण यह प्रसंग अश्लीलता उपस्थित नहीं करता, क्योंकि उनकी लीलाएं प्राकृतमानव के समतुल्य नहीं हैं । कभी-कभी यह प्रसंग भी उपस्थित होता है कि राधा और कृष्ण के दिव्य होने के कारण सहृदय को रसानन्द की प्राप्ति उस कोटि तक नहीं हो पाती जितना प्राकृत नायक की रतिक्रीडा में वह अपनी रागात्मिका वृत्ति का तादात्म्य स्थापित करता है, परन्तु इस प्रसंग का निराकरण तो इस बात से हो जाता है कि राधा और कृष्ण का चरित अलौकिक होने पर भी इसलिए मनोहारी है कि वह लौकिक आचरण करते हुए प्रतीत होते हैं । कहीं पर भी राम की भाँति अपनी मर्यादा का ही एकमात्र प्रदर्शन नहीं करते । कृष्ण मधुर रस से संवलित माधुर्य शिरोमणि के रूप में राम की अपेक्षा अत्युत्कृष्ट हो जाते हैं ।

कृष्ण ने अपने सौन्दर्य से भक्तगणों की आत्मा को ही केवल विशुद्ध रस में निमग्न नहीं किया परन्तु अन्तरात्मा के विविध भावदलों की पंखुड़ियों को भी प्रफुल्लित कर दिया जिनके सौन्दर्य का निःशब्द आँखें खोलना बहुत कम कवि देख पाये हैं फिर भी उस सौन्दर्य की पराकाष्ठा पर पहुंचने के लिए कतिपय कवियों का प्रयास तो अनुपम है ।

रूपगोस्वामी ने प्रेमप्रसूनों को सौन्दर्य की टहनियों पर मधुर हास करते हुए देखा है जिससे आत्मसौन्दर्य सहज ही खुलता जाता है और हम उनके नाटकों में सौन्दर्य का अन्वेषण करने के लिए तत्पर हो जाते हैं ।

श्रीकृष्ण का रूप, उनकी चेष्टा, उनका धाम, परिकर--सब कुछ मधुर है अतएव सबसे पहले नाटकों में उनके रूप का और उसके बाद प्रेम का प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करके जड़-चेतन के सौन्दर्य का आकलन करना चाहिए ।

<u>रूपसौन्दर्य वर्णन</u> -- पुराणों में श्रीकृष्ण के रूप का मनोहारी चित्रण किया गया है,यह तो बताया ही जा चुका है।[1] भागवतपुराण में मयूर पिच्छधारी,वैजयन्ती-माला से सुशोभित कृष्ण की आकृति का गुणगान जिस प्रकार से किया गया है उसी प्रकार से नाटकों में भी कृष्ण का सौन्दर्य एवं उनके गुणों का श्रवण ही राधा को आकर्षित करने में और उनके प्रेम को उद्दीप्त करने में सहायक रहा है।

'कंसवध' नाटक में कृष्ण के पीताम्बर,नेत्र और श्यामवर्ण का इतना सुन्दर वर्णन हुआ है कि राधा के गौरांग से युक्त कृष्ण ऐसे प्रतीत होते हैं मानो गंगाप्रोत का समागम यमुना में हो गया हो[2]।

इसी प्रकार राधा के सौन्दर्य का भी अलौकिक वर्णन 'विदग्धमाधव' नाटक में मिलता है,जहां पर राधा का सौन्दर्य परब्रह्म जन्य आनन्द की प्रतीति करानेवाला है। कृष्ण द्वारा राधा के अलौकिक शोभाधाम का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् लौकिक आनन्द से विरत हो जाना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है[3]।

राधा अपने अतुल सौन्दर्य के कारण ही तो कृष्ण के मानसपटल पर अंकित रहती है। इसकी सुन्दर उद्भावना इसी नाटक में राधा को चम्पकलता बताकर की गयी है[4]। चम्पकपुष्प की भांति गौरवर्ण होने के कारण राधा इस उपमा को प्राप्त करने की अधिकारिणी है।

---

१. बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
   बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।--भागवतपुराण--१०।२१।५

२. एष दृश्यते पुण्डरीक नयनो नीलोत्पलश्यामलः ।
   पादालम्बितकण्ठमालासुभगः पीताम्बराम्बरः ।
   गौरांगेण च मामानुगतो नीलाम्बरोद्भासिना ।
   गंगास्रोतसमागत इव यमुनापूरो यशोदासुतः । -- कंसवध--५।३१

३. यदवधि तदकस्मादेव विस्मायिताक्षं
   नवतडिदभिरामं धाम साक्षाद् बभूव ।
   तदवधि चिरचिन्ताकल्पका विरक्तिं
   मम मतिरपमार्गे योगिनीव प्रयाति ।।-- विदग्धमाधव--२।२४

४. फुल्लप्रसूनपटलीस्तपनीयवर्णामालोक्य चम्पकलतां किल कम्पते सौ ।
   अंके निरंकमकलंकमयंकगौरी राधाऽस्य चित्तफलके तिलकी बभूव ।।
   -- विदग्धमाधव--२।२५

राधा का अंगविलास प्रेम की शिक्षा देने वाला है । तभी तो श्रीकृष्ण भी राधा के प्रथम साक्षात्कार से ही कामदेव के बाणों से बिंध जाते हैं । प्रेम के भावों को मूर्तरूप देने वाले राधा के भ्रूभंगविलास का भी इतना बिम्बात्मक चित्रण प्रस्तुत किया गया है कि मन उसमें अनुरक्त हो जाता है । कृष्ण कहते हैं--" चंचल भ्रूलताओं के द्वारा प्रत्येक दिशा में कटाक्ष संचार से हरिणी को मानो नेत्रों के विलासभार की शिक्षा देती हुई बिम्ब के समान ओंठो वाली उस राधा के मेरे देखने पर क्रोध से भीषण कामदेव ने अनुपम पुष्पनिर्मित धनुष को चढ़ा लिया है ।[1]

यहां पर राधा के अनुभावों का व्यक्तीकरण प्रेम का ही सन्देश देने में सहायक है । राधा अपने सौन्दर्य के समक्ष समस्त उपमानों को भी तिरस्कृत कर देती है । कृष्ण राधा के सौन्दर्य का वर्णन करते समय उसके सौन्दर्य की उपमा चन्द्रमा या कमल से देते समय लज्जाक्रान्त हो जाते हैं,क्योंकि राधा की कान्ति के समक्ष ये सब उपमान कृष्ण को नगण्य प्रतीत होते हैं ।[2] इसी प्रकार राधा की शोभा चन्द्रमा,कुमुद और नक्षत्रों की शोभा को भी तिरस्कृत कर देने वाली है ।[3] चन्द्रमा तो दिन में मलिनता को प्राप्त हो जाता है और कमल भी सायंकाल में संकुचित हो जाता है परन्तु राधा तो हर समय ही सौन्दर्य कान्ति को विकीर्ण करती रहती है,अतएव यह सब उपमान राधा के सामने तुच्छ ही जान पड़ते हैं ।[4]

`रुक्मिणीपरिणय' नाटक में भी रुक्मिणी के असीम मुखकान्ति-जलधि के समक्ष चन्द्रमा को भी बिन्दु रूप सैसमझ लिया जाता है[5]। रुक्मिणी के अंगों की सुकुमारता का इतना मनोहारी चित्रण प्रकृति के उपादान शिरीषकलिका के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है कि उनकी सुकुमारता के समक्ष शिरीषकलिका भी कर्कशता को धारण करने वाली प्रतीत होती है ।[6]

---

१. विदग्धमाधव--२।२६
२. वही -- --३।३१
३. वही -- --३।२६ । ४. वही--५।३०
५. तस्या निःसीममुखद्युतिजलधेर्नियतमिन्दुरपि बिन्दुः ।
अधरमणिदीधितानामतिमृदुलः पल्लवोऽपि लवः ।।--रुक्मिणीपरिणय--१।१०
६. वही-- २।७

उन्मुक्त प्रणय चित्रण-- राधाकृष्ण का रूप सौन्दर्य प्रेमाधिक्य को प्रज्ज्वलित करने वाला है और दोनों ही संयोग सुख की प्राप्ति के लिए बेचैन रहते हैं। विरह को लेशमात्र भी प्राप्त नहीं करना चाहते हैं। राधा और कृष्ण के इस प्रेम को अत्युत्कृष्ट रूप देने के लिए ही प्रकृति को माध्यम बनाया गया और इसके द्वारा प्रेम की प्रत्येक अवस्था का इतना मनोहारी चित्र खींचा गया जो प्रेम को और भी गाढ़ रूप में उपस्थित कर देता है। राधा के प्रेम की उत्कृष्टता का इतना मनोरम उदाहरण "विदग्धमाधव" नाटक में मिलता है जब राधा कृष्ण के विरह में व्याकुल होकर तमालवृक्ष का आश्रय लेना चाहती है। तमालवृक्ष वर्णसाम्य में कृष्ण के समान है अतः राधा मरणासन्न अवस्था में रहने पर भी कृष्ण के वर्ण से समानता रखने वाले तमालवृक्ष का ही आश्रय चाहती है। यह प्रेम की चरमावस्था है।[1]

प्रिय के अनुराग में उससे साम्य रखने वाली समस्त वस्तुएं अत्यन्त प्रिय प्रतीत होती हैं। इसी मनःस्थिति का चित्रण कवि ने कुशलता से राधा के प्रसंग में किया है। राधाकृष्ण के भावी मिलन की सूचना देने में कवि प्रकृति का आश्रय ग्रहीत करता है, जिसके द्वारा राधाकृष्ण के परस्परानुरागाधिक्य के कारण भविष्य में घटित होने वाले राधाकृष्ण के संयोग का वृत्तान्त सूचित होता है।

"वृषभानुजा" नाटिका में चम्पकलता स्वप्न में देखे गये राधाकृष्ण के भावी मिलन को प्रकृति का आश्रय लेकर राधा के समक्ष उस स्वप्न का आख्यान करती है जिससे राधा इस निगूढ़ भावार्थ को समझ न पाये। प्रकृति के माध्यम से नायक-नायिका पर चरितार्थ होने वाला चम्पकलता का कथन इस वृत्तान्त को राधा के समक्ष निगूढ़ नहीं रह पाता और राधा इस वृत्तान्त को समझ कर लज्जावनत मुख वाली हो जाती है। चम्पकलता इस वृत्तान्त को निगूढ़ रखने के लिए प्रकृति के जिन उपादानों को ग्रहीत करती है उस पर दृष्टिपात करना चाहिए।

चम्पकलता सुवर्णयूथिका लता का तमालवृक्ष से संयोग राधाकृष्ण के भावी संयोग[2] से संयोजित कर लेती है। उसकी इस तरह की उद्भावना करना राधा के अन्तर में कृष्ण के प्रति प्रेमाधिक्य की पराकाष्ठा तक पहुंचा देना है।

---

१. विदग्धमाधव--२।४७।

२. वृषभानुजा नाटिका-- पृ०१४

इसी प्रकार "विदग्धमाधव" नाटक में भी सूत्रधार बसन्तऋतु की मनमोहक छटा के माध्यम से राधाकृष्ण के भावी मिलन को व्यक्त करता है । वह कहता है--" यह वह समय है जिसमें गूढ़ नक्षत्रयुक्त यह पूर्णिमा नवीन लालिमायुक्त निशापति पूर्ण चन्द्रमा की शोभा के लिए सुन्दर विशाखा नक्षत्र से मिलाने वाली है[1] ।" यहाँ पर बसंत में होने वाली रात्रिकालीन पूर्णिमा ही चन्द्रमास्वरूप वाले श्रीकृष्ण को विशाखा नक्षत्र रूप राधा से मिलाने वाली है । इस प्रकार से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो प्रकृति स्वयं मूर्त रूप धारण करके राधाकृष्ण का संयोग कराने का प्रयास कर रही है । शरत्कालीन पूर्णिमा पौर्णमासी का ही मूर्त रूप धारण करके राधाकृष्ण के संयोग के लिए अनवरत प्रयास करती दिखलायी भी पड़ती है ।

<u>जड़-चेतन समन्वय</u>--- प्रकृति का मानव के साथ चिरकाल से सम्पर्क रहा है । आदि मानव के नयन उघारते ही प्रकृति ने अपनी शीतल छाया मानव पर कर दी तभी तो मानव चिरकाल से ही प्रकृति का ऋणी रहा है ।

संस्कृत में प्रायः प्रत्येक विम्बजीवी कवि ने प्रकृति चित्रण किया है,परन्तु सबके आदर्श भिन्न रहे हैं । अधिकांश कवियों ने प्रकृति को विभाव रूप में ही प्रस्तुत किया परन्तु महाकवि कालिदास ने मूक प्रकृति को चेतन जगत् की हृदय सम्वेदनाओं से सम्बध्य करके एक अभूतपूर्व आदर्श की सृष्टि की । शाकुन्तल में मालिनीतटवर्ती वृक्ष शकुन्तला के सोदर बन जाते हैं[2] ।

पतिगृह प्रस्थिता शकुन्तला को यही कान्तार वृक्ष जाने की आज्ञा भी देते हैं[3] । यही वनवृक्ष शकुन्तला को सारे वस्त्राभूषण भी प्रदान करते हैं । (क्षौमं केनचिदिन्दु आदि) और अन्ततः प्रकृति के ही उन्मुक्त प्रांगण (हेमकूट पर्वत) में दुष्यन्त-शकुन्तला का समागम भी सम्पन्न होता है । परवर्ती युग में भी कवियों ने कालिदास के इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया । इसी प्रकार राधा कृष्ण का संयोग कराने में सहायक तत्वों का सन्निवेश प्रकृति करती है क्योंकि यह सृष्टि के प्रारम्भ से ही परब्रह्म की अनुवर्ति

---

१. सोऽयं वसन्तसमयः समयाय यस्मिन्पूर्णं तमीश्वरमुपोढनवानुरागम् ।
गूढग्रहा रुचिरया सह राधयासौ रंगाय संगमयिता निशि पौर्णमासी ।।
--विदग्धमाधव--१।१०

२. अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु--- अभिज्ञान शाकुन्तलम्,प्रथम अंक,पृ० ४२ ।

३. परभृतविरुतं कलमयथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् --वही,अंक ४।१० ।

रही है और उनका प्रसादन करना ही इसका महत्वपूर्ण काम है ।

"भागवतपुराण" में रासलीला में शरत्कालीन रात्रियों में मल्लिका पुष्पों का खिलना श्रीकृष्ण के प्रेमवीक्षण मात्र से ही हो जाता था । इसमें प्रधान कारण[1] कौन-सा विद्यमान था जिसके कारण असमय में पुष्प मुकुलित हो जाते थे ? भगवान का जब जन्म,कर्म सब दिव्य है तब अलौकिक रात्रि की सृष्टि एवं प्रकृति के समस्त उपादान अलौकिक ही प्रतीत होते हैं जो दिव्यलीला को ही सम्पादित करते हैं ।

इस दिव्यलीला में सहायक अभिसारिका आदि गोपियों में से आठ को "उज्ज्वल-नीलमणि" में प्रमुख माना गया है जो नायिका-प्रकरण में नायिकाओं की आठ अवस्थाओं को भी द्योतित करती हैं ।

"ललितमाधव" नाटक में इन गोपांगनाओं को भी अष्टदिग्गनाएं बताया गया है, जो मेघजल वर्षण से वृक्षों के अंकुरों को सिक्त करके,अनेक प्रकार की विशेष सुन्दरता को धारण करके पुष्पोद्यान को मण्डित करती हैं । इसी प्रकार गोपियां भी शृंगार रस से कृष्णवर्ण मेघ अर्थात् कृष्ण को आनन्दित करती हैं । इन गोपियों में से राधा, चन्द्रावली पर कृष्ण का अनुराग अतिशय है[2] ।

राधा और कृष्ण के मिलन का वृत्तान्त भी इस नाटक में चन्द्रमा के द्वारा ताराकर ग्रहण से दिया गया है । चन्द्रमा ही रंगस्थल में किरातराज अर्थात् कंस को मारकर गुणशाली तारा का ग्रहण करेगा[3] । यहां पर तारा से तात्पर्य राधा से ही है जिससे चन्द्रमास्वरूप कृष्ण का भावी मिलन होगा ।

इस प्रकार श्रीकृष्ण-राधा के संयोग का चित्रण प्रकृति के माध्यम से करने के पश्चात् शृंगार के द्वितीय पक्ष वियोग का चित्रण भी प्रकृति की सुरम्य क्रीडास्थली पर हुआ जहां वियोग और भी बिम्बात्मक रूप से उपस्थित होकर मनोवेग को निरुद्ध करने में समर्थ नहीं हो पाता और हम अपने आन्तरिक उद्गार नेत्रों के अश्रुजलवर्षण से व्यक्त कर देते हैं । राधा जब कृष्ण के प्रेम में वशीभूत होकर विरहापन्न दशा में पहुंच जाती

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--१०।२९।१ (भगवानपि ता रात्रिः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः। वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।)

२. ललितमाधव--१।२

३. वही--   १।१९

है उस समय कृष्ण के प्रति राधा की उपेक्षा पौर्णमासी को असह्य है और वह ऐसे समय राधा के ऊपर नदी का और कृष्ण के ऊपर समुद्र का आरोप करके अपने अभीष्ट कथन को चरितार्थ कर देती है।

जिस प्रकार से नदी मार्गवर्ती वृक्षों की भी परवाह न करके अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करके समुद्र को प्राप्त कर लेती है परन्तु समुद्र की उत्ताल तरंगे उसका प्रत्यावर्तन करती हैं,उसी प्रकार समुद्र स्वरूप कृष्ण के समक्ष नदीरूपा राधा गुरुजनों का अतिक्रमण करके आयी है,अत: उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है[१]।

पौर्णमासी द्वारा कृष्ण को उपालम्भ दिया जाना भी प्रकृति की विशाल तरंगिणी में इतना चमक हो गया है कि यह उपालम्भ कान कृष्ण के प्रति मलिनता का आभास नहीं होने देता वरन् राधा के प्रेम के ही अत्युत्कृष्ट रूप प्रदान करता है। कृष्ण का अनुराग तो राधा पर है ही परन्तु पौर्णमासी कृष्ण और राधा की भाव-परीक्षा के लिए ही इस प्रकार का कथन करती है।

विरहावस्था में राधा को माधवी पुष्परस और चन्द्रमा दोनों ही दु:ख प्रदान करते हैं। यह तो प्रणय की अनूठी रीति ही है कि जो संयोगावस्था में शीतलता प्रदान करने वाले उपादान हैं वह विरहावस्था में कामावस्था को अत्यधिक उद्दीप्त करने में सहायक बन जाते हैं[२]। इसका सुन्दर वर्णन भी "विदग्धमाधव" में हुआ है।

राधा कृष्ण के प्रेम में इतनी व्याकुल हो गयी है कि उसे कृष्ण के वियोग में एक-एक क्षण यातना से भरा हुआ प्रतीत होता है। वह अपनी कामज्वाला को शान्त करने में समर्थ नहीं है तभी तो वह यह सोचती है कि कहीं कामयातना से पीड़ित होकर मैं प्राणों से भी अपने हाथ न धो बैठूं। अपने इस आन्तरिक उद्गार को राधा कमलिनी और सूर्य का रूपक देकर इतना सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है कि वह उस पर चरितार्थ हुआ ही प्रतीत होता है।

प्रेम में पीड़ित होकर प्राणान्तक की बात सोचना राधा के लिए स्वाभाविक ही है। राधा कृष्ण के आने में एक क्षण विलम्ब को भी सहन नहीं कर पाती है। यह तो सच ही है कि विरहावस्था में प्रतिपल दीर्घनिश्वास लेता हुआ-सा प्रतीत होता है। ऐसे समय में कवि द्वारा राधा के हृदय में इस प्रकार के भावोद्गार को सन्निविष्ट करना सार्थक ही है। वह कहती है --" सघन कलिकावाली कमलिनी को रात में अशंक

---

१. विदग्धमाधव नाटक--३।६

२. वही-- ३।१०

भाव से घेरा डाल कर कामदेव रूपी जंगली हाथी (यदि) चूर कर देता है तो यहां पर प्रेमी सूर्य के देर से उगने पर भी उस अभागिनी ~~कमलिनी~~ कमलिनी को क्या सुख मिलेगा।[1]

राधा कामदग्धावस्था में शीतल आपेय रूप कृष्ण के केवल वर्णा की ही आकांक्षा रखती है जिसके मधुर स्पन्दन से ही रोम-रोम प्रेमरस की भीनी छटा से सिक्त होकर आपूरित हो जाता है।

राधा के प्रेम का आधिक्य अपने चरम रूप में उस समय उपस्थित हो जाता है जब राधा कृष्ण के प्रेमरस से स्नात कृष्ण के उदासीन होने पर भी निर्मल वनमाला की मधुकरी बनने की आकांक्षा रखती है।[2] प्रेम का यहां अत्यधिक अवसान है जहां पर कृष्ण द्वारा उपेक्षा करने पर भी राधा वृन्दावन में रह कर मरणोपरान्त भी कृष्ण की सेवा करना चाहती है। इसी प्रकार कृष्ण को भी प्रेम की अतिशयावस्था में समस्त वृन्दावन ही राधामय दिखलायी पड़ता है। चन्द्रमा से जिस प्रकार चांदनी वियुक्त नहीं रह पाती है उसी प्रकार राधा भी कृष्ण से वियुक्त नहीं रह सकती है।

इस प्रकार कृष्ण और राधा के प्रेम ने प्रकृति से इतना तादात्म्य स्थापित कर लिया है कि एक-एक भावोद्गार की छाया में पल्लवित होकर अपने अभीष्ट कथन को और भी रोचक रूप में प्रस्तुत कर देता है। प्रकृति और प्रेम यह दोनों समान रूप के ही प्रतीत होते हैं। प्रकृति के प्रति सहृदय का निश्छल प्रेम स्वाभाविक ही होता है। उसी प्रकृति से पार्थक्य स्थापित करके वह चैन नहीं पाता। प्रकृति की सुन्दरता को देखकर ही सहृदय की रागात्मिका वृत्ति को विश्रान्ति मिलती है। वह उसके लीलाविलास के कटाक्षपाश में बंध कर रह जाता है,उसी प्रकार से प्रकृति से मनुष्य तादात्म्य स्थापित करके अपने आन्तरिक भावों का उद्घाटन सहृदय के समक्ष कर देता है। प्रेम के जितने भी प्रसंग हैं वह सब प्रकृति के प्रति मानव की प्रेम प्रवृत्ति होने के कारण ही उससे सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं जिससे प्रेम और भी उद्दीप्त हो उठता है। चन्द्रोदय,मलयानिल आदि प्रेम को उद्दीप्त करने में सहायक ही हैं।

---

१. नालीकिनीं निशि घनोत्कलिकामरालैं
क्षिप्त्वा कुटीरतनुबन्धगजः खुणन्ति।
अस्यादुरागिणि चिरादुदिते पि भानौ
हा हन्त किं सखि सुखं भविता वराक्याः ।।--विदग्धमाधव--३।१०

२. वही-- ३।१६

कृष्ण का वेणुनिनाद तो गोपियों के धैर्य को परित्यक्त करा देने वाला और प्रेमरस में निमग्न कराके कृष्ण के साथ अभिसार कराने के लिए प्रेरित करता है। जड़ वेणु न केवल गोपियों के मान को भंग करती है अपितु योगियों के चित्त को भी अस्थिर बना देती है। जड़-चेतन को आकृष्ट करने वाली वेणु कृष्ण की अन्तरंगिणी होने के कारण सर्वाधिक प्रिय रही है तभी तो गोपियों द्वारा उससे ईर्ष्या करके उपालम्भ किया जाता है।

गोपियों को अनन्तकाल तक कृष्ण के सान्निध्य का जो सुख नहीं मिलता परन्तु उस जड़ वेणु को अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि कृष्ण के सामीप्य सुख से प्राप्त होती है। उसका यही परम सौभाग्य है कि कृष्ण उसे अपने अधर पर धारण करके अलौकिक मधुर तान छेड़ते हैं और उनकी सहचरी राधा भी कृष्ण के वेणुनिनाद के कर्णकुहर में प्रवेश करने मात्र से अपनी लज्जा का परित्याग करके कृष्ण के सान्निध्य की आकांक्षा करने लगती है।

राधा "विदग्धमाधव" नाटक में भी इसी मुरली ध्वनि से आकृष्ट होकर अपने मनोवेग को निरुद्ध कर पाने में असमर्थ होकर मुरली को ही उपालम्भ दे डालती है, क्योंकि अपने चित्त को मुरली निनाद के समय वश में रखना उसे असंभव जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसके लिए यह कहना कि "कदम्ब वृक्ष के बीच से फैलता हुआ न जाने कौन-सा शब्द कर्णकुहर में प्रवेश कर गया। हा सखि, जिससे आज कुलीन नारी समाज में किसी निन्दायोग्य अवस्था को प्राप्त हुई हूँ।"[1]

यह प्रेम की उद्दीप्त्या अवस्था में चित्तवृत्ति को उस गाढ़ानुराग से निवृत्त न कर पाने वाली स्थिति को द्योतित करने में समर्थ है।

इस प्रकार से मुरली राधा की सखियों को भी अपने मधुर रव से आकृष्ट कर देती है तभी तो ललिता द्वारा रूपक अलंकार के माध्यम से स्थिरता पर भुजंग का, क्रीडा पर लज्जा का और पातिव्रताभिमान पर समुद्र का आरोप करके मुरली पर क्रमशः विहंगेश्वर, धन्वन्तरि और कुम्भोद्भव (अगस्त्य) का आरोप किया गया है।[2] इससे मुरली-

---

१. नादः कदम्बविटपान्तरतो विसर्पन्को नाम कर्णपदवीमविशन्न जाने।
हा हा कुलीनगृहिणीगणगर्हणीयां येनाद्य कामपि दशां सखि लम्भितास्मि।
--विदग्धमाधव--२।३४

२. वही-- १।३७।

ध्वनि का विलक्षण पराक्रम द्योतित होता है। ललिता का यह कथन अनेक उपमानों द्वारा मुरली ध्वनि की सर्वोत्कृष्टता का इतना स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत करता है कि चित्त आह्लादित हुए बिना नहीं रह पाता। मुरली ध्वनि से आकृष्ट गोपियों की साधारण मन:स्थिति का आकलन करना कवि का एक अभूतपूर्व प्रयत्न है।

अतएव यह तो कहा ही जा सकता है कि सर्वदा कृष्ण के अधीन रहने वाली मुरली अपने प्रिय के आमोद सुख के लिए ही मनमोहक नाद का प्रसार करती है जिसे चेतन मन्त्रमुग्ध होकर वीतयोगी सन्यासी की भाँति उसी ध्वनिपथ का अनुसरण करने लगता है। यह तो मुरली रव से चेतन की अवस्था होती है। इसी प्रकार वृक्ष भी इस अनिर्वचनीय नाद को सुन कर धैर्य का परित्याग कर देते हैं और शंकरसमुद्र भी मुरली ध्वनि के अमृत को बरसाने वाले (हरि) कृष्ण के मुखचन्द्र के उदय होने पर अपनी मर्यादा को छोड़ देते हैं।[1] अतएव मुरलीनाद चन्द्ररूप कृष्ण के उदय होने पर समुद्र रूप शंकर को हिलोरे लेने के लिए प्रेरित करता है। प्रकृति का आश्रय लेकर चन्द्र और सूर्य के माध्यम से कृष्ण के वंशी निनाद को सुन कर शंकर के धैर्य का लुप्त हो जाना कवि ने मनोहारी ढंग से प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार कृष्ण की प्रेममाधुरी ने न केवल चेतन व्यक्तियों को ही मोहित कर रखा है अपितु पशु-पक्षी आदि जीवजन्तुओं को भी आकृष्ट कर डाला है। कृष्ण के वियोग में प्राणियों को जो मानसिक क्लान्ति होती है उसी प्रकार पशु-पक्षी भी व्याकुल दिखायी देते हैं। इसका मनोहारी चित्रण "विदग्धमाधव" में मिलता है,जब राधा पशु एवं भौंरे को दुखी देखती है तब उनकी मन:स्थिति का आकलन भी वह व्यक्ति की तरह ही कर लेती है कि यह भी कृष्ण के वियोग में दुखी हैं। राधा चारों तरफ दृष्टिपात करके कहती है--" चक्कर काटते हुए ये भौंरे फूल के रस को नहीं पी रहे हैं, यह शुक पक्वावस्था अनारफल नहीं खा रहा है। यह दुखी हरिणी हरी घास की फुनगी को नहीं चर रही है। अत: श्रेष्ठ गज के समान गति वाला,स्वामी हरि कृष्ण इस मार्ग से गया है।" समस्त जीव-जन्तुओंका निष्क्रिय होना कृष्ण के प्रेम में तन्मयावस्था को द्योतित करता है।[2]

१, विदग्धमाधव--२।२६

२, वही--६।२६ ।

इसी प्रकार "कंसवध" नाटक में अक्रूर के आगमन पर श्रीकृष्ण और बलराम के मथुराप्रयाणावसर पर मयूरों को, गायों को और भौरों को शोकमग्न दिखाया गया है[1]। जब पशुओं की कृष्ण से प्रेमातिशय होने के कारण यह अवस्था है तब व्यक्तियों की क्या अवस्था होगी जो कि आनन्दमग्न हैं। इसी स्थिति का प्रदर्शन कराने के लिए ही समस्त सृष्टि को ही श्रीकृष्ण वियोग में दुखी प्रदर्शित किया गया है। पशु-पक्षी ही क्या वृक्ष आदि भी कृष्ण के वियोग में अपनी मनोव्यथा को प्रदर्शित करते से दिखायी पड़ते हैं।

कृष्ण के विरह में जड़-चेतन की विकलावस्था का इतना स्वाभाविक चित्रण किया गया है कि प्रकृति भी सुख-दुःखों को समान रूप से भोगनेवाली चेतनधारी रमणी की भांति प्रतीत होती है जो कृष्ण को ही अपना सर्वस्व समझती है। प्रकृति कृष्ण के आगमन पर विविध आभरणों से अपने को सुसज्जित करके कृष्ण का मनोविनोद करके प्रसन्नता का अनुभव करती है, उसी प्रकार ~~श्रीकृष्णागमनावसर~~ श्रीकृष्णागमन पर उसका दुखी होना स्वाभाविक है। वियोग के अवसर पर ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृति निराभूषण होकर वैधव्य को धारण कर रही हो।

प्रकृति के माध्यम से उपदेश देने की परम्परा भी पुरानी ही है। इसी को अन्योक्ति साहित्य का उद्भव माना जाता है। "विदग्धमाधव" नाटक में वृन्दा राधा को इसी रीति से उपदेश देती है जो राधा पर ही पूर्णरूप से घटित होता है और प्रकृति के माध्यम से कही गयी अपनी कथन को व्यक्त करने में पूर्ण सफल रहता है। वृन्दा द्वारा कहा गया वह पद्य सुनकर विशाखा के पास पहुंचाता है और विशाखा के हाथ से ललिता उसका पारायण करती है कि "माधवी के खिलते हुए नूतन पल्लव के द्वारा सौंदर्य सिद्ध भी इस भौंरे को यदि इसका हटा दिया है तो सुन्दरता के विनाश से माधवी की ही हानि है। यह भौंरा तो कमलिनियों में गुंजन करता हुआ आनन्द ही पाता है।"[2]

---

१. सजल जलद नीलं त्वामुदीक्ष्योर्ध्वकण्ठा नटति विततबर्हं मण्डली बर्हिणानाम्।
मधुरमधुरकेकारावियणी वन्यवधूया समुपसरति वर्हापीडनं दर्पणेण ॥
--कंसवध-४।२६,२७,३२,३४।

२. विदग्धमाधव--५।११

वृन्दा द्वारा रचित उस पद्य का अभिप्राय राधा की मान की समाप्ति करना है जिससे वह मान राधा-कृष्ण के प्रेम मार्ग में बाधक रूप से उपस्थित न हो । इसके बाद राधा अपना मान समाप्त करके विषाद धारण करती है । माधवी ही राधा है और उस पर गुंजार करने वाले भौंरे को कृष्ण कहा गया है । जिस प्रकार माधवी की शोभा भ्रमर से होती है उसी प्रकार राधा की शोभा कृष्ण से होती है । अतएव यह कहना अनुचित प्रतीत होता है कि कृष्ण के साथ ही राधा के सौन्दर्य की सार्थकता है । प्रस्तुत सन्दर्भ में एक तथ्य उल्लेखनीय है वह यह कि वंशी उपालम्भ आदि ऊपर व्याख्यात संदर्भों की पृष्ठभूमि क्या है ? समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि "वाल्मीकि रामायण" से लेकर रूपगोस्वामी के पूर्व तक प्राय: समस्त कवियों ने उपालम्भ पद्धति का आश्रय लिया है । कालिदास ने पुष्पधन्वा कामदेव, चन्द्रमा और मुद्रिका के प्रति उपालम्भ व्यक्त किये हैं । श्रीहर्ष ने "नैषध" में चन्द्रमा के प्रति उपालम्भ प्रस्तुत किये हैं । कभी-कभी सम्पूर्ण घटनाचक्र का केन्द्रीय सम्बन्ध किसी एक वस्तु से होता है जैसे वियोग के वातावरण का चन्द्रमा से अथवा शकुन्तला के समस्त दुर्भाग्य का सम्बन्ध शचीतीर्थ में खोयी हुई मुद्रिका से ।

"विदग्धमाधव" में भी राधा के सम्पूर्ण आह्लाद एवं विषाद के मूल में नन्द-नन्दन की वंशीध्वनि ही है । वंशी का उन्मादक स्वर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सचेतन बना देता है । ऐसी स्थिति में संताप की उदग्र अनुभूति होने पर वंशी को उपालम्भ देना युक्तियुक्त ही है ।

"अभिज्ञानशाकुन्तलम्" में भी महाराज दुष्यन्त मुद्रिका पाते ही बीती घटनाओं को अचानक स्मरण करने लगते हैं और पश्चाताप की उच्छ्वसित ज्वालाओं में दग्ध होते हुए अनन्यशरणा शकुन्तला के प्रति अपने ओछे व्यवहार का स्मरण कर दुःखी हो उठते हैं । वह कहते हैं--" हे मुद्रिके ! सुन्दर तथा कोमल अंगुलियों वाले (शकुन्तला) के उस हाथ को छोड़कर तू जल में कैसे गिर गयी ? हाय, अचेतन गुणों की ओर ध्यान न देकर मैंने ही प्रिया का अपमान क्यों किया ?"[१]

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल--६/१३ ।

दिनश्री सूर्य के सन्ध्याग्नि में प्रवेश करने पर तमसान्धकार की सृष्टि होती है और उस तमोमय लालिमायुक्त वातावरण में किसी भी पदार्थ की निश्चित अवधारणा नहीं हो पाती है। सूर्य के अस्त हो जाने पर टिमटिमाते हुए चन्द्र एवं तारे सौन्दर्य की सृष्टि उसी प्रकार करते हैं जैसे तमसान्धकार से रंजित वातावरण में खद्योत स्फुट प्रभा को विकीर्ण करता है।

ऐसे समय में कृष्ण का गायों को लौटा लाना गायों के रव से जान लिया जाता है। गायों के हुंकार से भी अद्वैतानन्द की उपलब्धि होती है[1]। ऐसे मनोहारी वातावरण में चित्त वहीं अनुरक्त हो जाता है और क्षणमात्र के लिए भी उस सौन्दर्य सुषमा से विरत होना नहीं चाहता बल्कि निर्निमेष दृष्टि से ही अनन्तकाल तक सौन्दर्य का पान करना चाहता है।

"बालचरित" नाटक में भी अन्धकार का विशद चित्रण किया गया है कि अन्धकार अंजन की भांति अंगों में व्याप्त होकर दृष्टि को भी निष्फल बना रहा है[2]। इस अंधकार रूपी भुजंग से व्याप्त कालिन्दी की तरंगें किस तरह की प्रतीत होती हैं[3], इसकी भी सुंदर उद्भावना भास ने उस प्रसंग में की है जब वसुदेव बालक कृष्ण के उत्पन्न होने पर भाद्रपद की अंधेरी रात्रि में उनको गोद में उठा कर ले जाते हैं।

"वृषभानुजा" नाटिका में भी भौंरे के सदृश अन्धकार के समूह का अन्त करने के अभिप्राय से जब चन्द्रमा अपनी सुधारश्मि विकीर्ण करता है उस समय उदित होने वाले चन्द्रमा की शोभा रक्ताम्बुज की भांति प्रसन्नता की सृष्टि करने वाली होती है[4]।

---

१. [illegible]—३।२३

२. लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥— बालचरित—१।१५

३. वही—१।१८

४. सुधारश्मिः सद्यस्तिमिरनिकरं निरस्य -
न्नालिन्दैः स्पन्दं शशिमणिगणानां च वितरन्।
उदेत्यासौ रक्ताम्बुजसमरुचिः कैरववने,
प्रमोदं तन्वानो मधुपवनितागीतिमधुरम् ॥

— वृषभानुजा—३।७।

इसी प्रकार का प्रसंग रुक्मिणी परिणय नाटक में भी प्राप्त होता है जब सन्ध्यायोषित पश्चिम दिशा में अस्त होने वाले सूर्य के साथ अभिसार करके इन्दु के आगमनपर गमन करती है। चन्द्रमा का उत्तकाल अन्धकारागमन से भयभीत मानव को अपनी प्रभा से शीतल छाया प्रदान करता है।

रात्रिवेला से संलग्न यह शरत्पूर्णिमा अपनी उज्ज्वल कान्तियुक्त तारावली के प्रपंच से आकाश की मेघराशि के मध्य में देदीप्यमान रह कर मुक्तामणि विकीर्ण करती है।[1] चन्द्रप्रभा से स्नात जगत् धवल प्रतीत होता है।

रात्रि में जब चन्द्रमा का उदय होता है उस समय का वर्णन भी रात्रि को रमणी का रूप प्रदान करके इस नाटक में अलंकरण किया गया है जिससे विचित्र आभरणों को धारण करने पर सौन्दर्य की सृष्टि होती है। रात्रियोषित अन्धकार का प्रसार करके,जब सुन्दर मुख पर पुष्पित कैरव पुष्पों को कर्णाभूषण बनाती है तब वह देदीप्यमान होती है। चम्पककलिका भी दीपशिखा की भांति चमकती हुई दिखलायी पड़ती है।[2] यहां पर निशारानी के श्वेताभूषण स्वर्ण की भांति जो देदीप्यमान दिखायी दे रहे हैं उससे यह तात्पर्य निकाला जा सकता है मानो निशारमणी चन्द्रमा को ही अपना कर्णाभूषण बनाये हुए हो। तभी तो इतनी कान्ति उसके कर्णाभूषण से प्रसारित हो रही है। चम्पककलियों से तात्पर्य तारों से भी लगाया जा सकता है।

प्रद्युम्नाभ्युदय नाटक में भी सूर्य की प्रचण्ड आभा के वर्णन के साथ ही साथ दिवसकर के ताप से खिन्न चन्द्र का समागम रात्रि की इच्छा करता हुआ दिखायी पड़ता है।[3] ऐसे मनमोहक वातावरण की सृष्टि करने के साथ ही साथ प्रकृति प्रद्युम्न की मदनावस्था को भी और तीव्र करने में सहायक हो जाती है। यह तो सर्वप्रसिद्ध ही है कि प्रिय के वियोग में शीतलता प्रदान करने वाली चन्द्रमा की किरणें भी अग्नि का वमन करती हुई दिखलायी पड़ती हैं।[4] इस प्रकार प्रद्युम्न की कामोत्तेजक अवस्था में चन्द्रातप भी शरीर पर अग्नि का प्रसार करता हुआ दिखलायी पड़ता है,क्योंकि

---

१. रुक्मिणी परिणय नाटक--१।२६

२. प्रावृत्यासंघनमन्धकारमभितूल्यां निशायोषित:
प्रफुल्लत्कैरवकाशिमि प्रविलसद्वाभिरामे मुखे।
भासन्ते कलधौतकोमलशिखा: कर्णावतंसीकृता:
स्मेराश्चम्पककोरका इव भृशं दीप्रा: प्रदीपांकुरा।--रुक्मिणीपरिणय १।२५

३. दिवसकरतापखिन्न: समधुकर: कैरवाकरो रक्त:।
प्रतिपालयति रजन्या: समागमं चन्द्रहासिन्य: ।।--प्रद्युम्नाभ्युदय ३।१०

प्रभावती की प्राप्ति न होने के कारण विरहाग्नि प्रद्युम्न के अन्तर में विद्यमान है। कमलिनी भी उसके शरीर को शीतल तरंगों से सुवासित नहीं करती हैं। चन्दन का लेप भी विष के समान ही लगता है। जब शरीर विरह से दग्ध हो चुका है ऐसी अवस्था में चन्दन का लेप शीतलता प्रदान करने के अतिरिक्त स्वयं जल कर विष का रूप धारण कर लेता है।

प्रमदवन की वायु का स्पर्श ही केवल प्रद्युम्न के अंगों को सुवासित कर पाता है,[1] क्योंकि प्रमदवन में प्रिया प्रभावती के लिए विद्यमान रहते समय उस समय प्रवाहित पवन प्रद्युम्न को प्रिय-सुख स्पर्श का प्रतीति कराता है।[2]

वर्षा का भी मनोहारी वर्णन इस नाटक में कवि ने किया है जो दम्पत्ति के लिए सुखकारी प्रतीत होती है।[3] वर्षा का चित्रण करने में कवि ने उसी वातावरण की सृष्टि नेत्रों के समक्ष कर दी है जो वर्षाकाल के आगमन के समय दृष्टिगोचर होती है। वर्षा उल्लासमय वातावरण को उपस्थित करके जड़-चेतन को आनन्द के सरोवर में निमग्न करा देती है। वृक्ष, पुष्प आदि झूमते हुए प्रसन्नता को व्यक्त करते हैं। उस समय विरहणियों को ऐसा प्रतीत होता है मानो यह परिहास कर रहे हों।

एक तरफ वर्षा जड़-चेतन को मधुर वर्षण से सिक्त कर देती है परन्तु दूसरी ओर यह विरही व्यक्ति को अपने सौन्दर्य की छटा का दर्शन करा पाने में असमर्थ होकर भुजंग की भाँति उसे ग्रस लेती है जिससे प्रेम विष उसके समस्त शरीर पर फैल जाता है और उसका निवारण कुशल वैद्य रूप प्रियदर्शन से ही सम्भव होता है।

वर्षा वियोग के अवसर पर कामी जनों की रागात्मिका वृत्ति को अत्यधिक उत्तेजित कर देती है जिससे उस व्यक्ति को पृथ्वी को आह्लादित करने वाली वर्षा मनोहारी प्रतीत नहीं होती है क्योंकि उसका मन प्रकृति के सौन्दर्य को अपलक देखने के लिए एकाग्र नहीं रह पाता। वह अपने प्रिय के लिए अत्यन्त आकुल हो जाता है।

घनगर्जन होने पर बादलों को देख कर मयूर नृत्य करने लगते हैं और कदम्ब वृक्ष की शीतल वायु का सेवन करके आह्लादित होते हैं।[3] इस प्रकार से वर्षा पृथ्वी, वृक्ष, पशु-पक्षी सब के लिए हर प्रकार से सुखकारी होती है।

---

१. प्रद्युम्नाभ्युदय--३।१३

२. क्वाचन् स निर्विशन् प्रमुदित: कदम्बानिलान् क्वापि घनगर्जितं निशमयन् परीरम्भदम्
क्वाचन विलोकयन् गृहशिखण्डितां ताण्डवं क्षणाधिपमिव कान्तया क्षपयति स्म वर्षासुखम्।
--वही--५।२

३. वही--४।२।

वसन्तात् प्रेमीजनों की कामोत्तेजना को उद्दीप्त करने में सहायक होती है तभी तो "रुक्मिणी परिणय" नाटक में सूत्रधार द्वारा वसन्त का वर्णन करते समय इसे कामदेव के पांच बाणों से युक्त कहा गया है।[1]

प्रकृति की छत्रछाया में प्रेमी युगल के मधुर स्पंदित भावों का अवलोकन करने के पश्चात् पुर, शैल और रथ के वेग का भी बिम्बात्मक चित्रण कवि ने अपनी अनूठी सूझ-बूझ के आधार पर किया है जिसकी उपेक्षा करना भी उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि यह भी कथानक को अग्रसर करने में सौन्दर्योत्पादक तत्व रहे हैं जिससे उल्लासमय वातावरण की सृष्टि होती है।

"रुक्मिणी परिणय" नाटक में विन्ध्य पर्वत को मलयानिल से सुवासित प्रदर्शित किया गया है जहां पर सैकड़ों भौंरों से युक्त मन्दानिल प्रवाहित हो रहा है।[2]

इसी प्रकार विदर्भ नगरी की सुन्दरता का वर्णन[3] किया गया है जो अपने सौन्दर्य से नेत्रों को भी उन्मादित कर देती है। विदर्भ नगरी का सौन्दर्य तो वहां रहने वाले नर्तककुलों एवं विदग्धजनों से ही द्विगुणित हो उठता है। विदर्भ नगरी के सौन्दर्य को देख कर उसमें आसक्त दारुक का मन अपनी सौन्दर्यानुभूति को निगूढ़ रख पाने में असमर्थ होकर अपने आन्तरिक उद्गार वासुभद्र के समक्ष प्रस्तुत कर देता है। दारुक का यह कथन सौन्दर्यापूरित व्यक्ति के सत्य उद्गारों को प्रकट करने में सक्षम है।

चेदिराज के साथ रुक्मिणी के विवाह के अवसर पर इस नाटक में स्वयंवर यात्रा के समय भी नारियल, कदली, कटहल आदि वृक्षों से शोभित एवं पुरजनों द्वारा विकीर्ण किये गये कुंकुम आदि से रंजित विदर्भ नगरी चेदिराज को वधू रुक्मिणी के विलोकनार्थ मत्तोत्सुक श्वेतहस्तिनी की भांति दिखायी देती है।[4]

इसी प्रकार द्वारवती की शोभा का वर्णन भी वासुभद्र द्वारा किया गया है जो कि स्वर्गिक सौन्दर्य के तुल्य ही है। द्वारका नगरी विविध वैभवों से युक्त वैदूर्यमणि

---

1. रुक्मिणी परिणय--१।५
2. वही--१।१५
3. एतत्प्रस्तुतनृत्तनर्तककुलं जल्पाकविदग्धजनं क्रन्दद्दुन्दुभि वन्दिवृन्दपठितक्षोणीन्द्रभोजावलि। गायद्वारपुरन्ध्रि सिन्धुरघटानीरन्ध्ररथ्यान्तरं नेत्रोन्मादकरं विदर्भनगरं वर्तते सर्वोपरि।।
   -- वही--१।१७
4. वही--चतुर्थ अंक पृ० ३६

से रंजित है।[1]

पुर, गिरि के सौन्दर्य का अवलोकन करने के साथ ही साथ कवि ने सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं को भी उपेक्षित नहीं छोड़ दिया है वहां तक भी उसकी प्रतिभा ने भलीभांति निरीक्षण किया है। रथ के वेग का सुन्दर चित्रण भी इस नाटक में प्राप्त होता है जो कि अपने तीव्र वेग के समक्ष वायु को भी जीतने के लिए प्रवृत्त-सा दिखायी पड़ता है। रथ अश्वों की सुन्दर लगाम से युक्त अट्टहास करता हुआ [illegible] प्रतीत होता है।[2]

इस प्रकार कविदृष्टि जगत् की समस्त वस्तुओं की गतिविधियों को दृष्टि में रख कर उसे सुन्दरतम रूप से ही अभिव्यक्त करती है।

<u>व्यक्ति एवं समाज-चित्रण</u>-- प्रेम का भी प्रत्येक भावभूमि पर अभिनय देखने के पश्चात् यह निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि प्रेम के कमनीय प्रसंगों को प्रकृति के कर-पल्लव से थपकी देने के उपरान्त और भी गाढ़ानुराग से रंजित करने का प्रयास प्रत्येक कृष्णचरिताश्रयी कवि ने किया है। प्रेम अधिकांश संस्कृत नाटकों में सौन्दर्य की पृष्ठभूमि पर ही प्रतिष्ठापित किया गया है परन्तु केवल प्रेम के स्वर्गिक आनन्द में ही निमग्न रहने के कारण व्यक्ति और समाज की उपेक्षा करना भी उचित नहीं जान पड़ता है। समाज व्यक्तियों का ही तो समूह है। इसी धरातल पर तो प्रेम आदि का भी निर्वाह होता है। अतः नाटकों की सामाजिक पृष्ठभूमि पर भी किंचित दृष्टिपात कर लेना चाहिए।

भासरचित "बालचरित" और "दूतवाक्य" ही प्राचीनता में सर्वोत्कृष्ट रहे हैं अतएव उन्हीं के सामाजिक उत्कर्ष का वर्णन सर्वप्रथम करना चाहिए।

भास के एकांकी "दूतवाक्य" में दुर्योधन की राज्यावस्था का जो चित्रण किया गया है उससे पता चलता है कि राजा सर्वाधिकारसम्पन्न होने पर भी अक्षौहिणी सेना का सेनापति बनाने के लिए मन्त्रणा करता था। इसी कारण दुर्योधन जैसे अहंकारी व्यक्ति को भी अपने आचार्यों एवं सभासदों से मन्त्रणा करनी पड़ती है।[2]

आचार्य का पूजन करना श्रेयस्कर समझा जाता था तभी तो मन्त्रशाला में प्रवेश करते समय दुर्योधन आचार्य एवं पितामह का अभिनन्दन करके उनसे आसन ग्रहीत करने को कहता है।

---

१. रुक्मिणीपरिणय--४।२४
२. वही--३।११
३. दूतवाक्य, पृ० ४४२।

"दूतवाक्य" में दुर्योधन की राजसभा में कृष्ण के आगमन पर कंचुकी द्वारा उन्हें पुरुषोत्तम नारायण से सम्बोधित करना राजाज्ञा के विरुद्ध जान पड़ता है तभी तो दुर्योधन के कथन मात्र से वह अपनी भूल का प्रायश्चित करके, दुर्योधन को प्रसन्न करता है।[1]

इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय राजाज्ञा के बन्धन अत्यधिक कठोर थे और सभासद राजा के समक्ष परतन्त्र थे क्योंकि उन्हें राजाज्ञा के विरुद्ध काम करने पर राजदण्ड का भय था। दुर्योधन इसी भय से भयभीत कराने के उद्देश्य से ही अपने सभासदों से कहता है कि "जो केशव के आने पर खड़ा होगा वह द्वादशसुवर्णभार से दंडित होगा।[2]"

इसी प्रकार का प्रसंग सोलहवीं शताब्दी में लिखे गये शेषकृष्ण के "कंसवध" नाटक में भी प्राप्त होता है, जब अक्रूर रामकृष्ण को मथुरा लाने के लिए कंस की आज्ञा को परतंत्र की भाँति शिरोधार्य करते हैं। उनकी आत्मा इस दुष्कर्म को करने में गवाही नहीं देती है क्योंकि वह कंस के दुर्विचार से परिचित हैं फिर भी राजाज्ञा के बन्धन से ग्रसित मन ही इस कर्म को करने के लिए प्रवृत्त हो जाता है।

राजा को पृथ्वीपालक ही माना जाता था, चाहे वह कितना ही अन्यायी, दुराचारी क्यों न हो। "दूतवाक्य" में इसी स्वरूप के निहित होने के कारण सभासदों में इतनी भी सामर्थ्य नहीं है कि दुर्योधन द्वारा प्रदर्शित किया गया द्रौपदी के वस्त्रापहरण चित्र का निवारण कर सकें।

कृष्ण के आगमन पर सभासदों को किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में ही संभ्रान्त देखा जाता है। एक तरफ तो राजाज्ञा प्रधान है और दूसरी तरफ कृष्ण के प्रति आसक्ति। इन द्विविध धाराओं के भँवर में पड़े व्यक्ति की स्थिति का यथार्थ चित्रण ही यहाँ पर किया गया है।

"बालचरित" नाटक में भी उद्धव के उद्वेगों का अत्यन्त मनोहारी वर्णन प्राप्त होता है। मनुष्य की अन्तश्चेतना जब किसी निश्चित अवधारणा पर नहीं पहुँच पाती है उस समय के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के समय हृदय की क्या गति होती है, इसका मनोवैज्ञानिक चित्रण कवि ने किया है।

---

१. प्रसीदतु महाराजः। संभ्रमेण प्रभुशासनं विस्मृतः। --भासनाटकचक्रम् (दूतवाक्य) पृष्ठ ४४२।

२. वही।

ऐसी अनिर्णयात्मक अवस्था में हृदय की गति भी दो भागों में विभाजित हो जाती है जैसे आकाशगंगा में चन्द्रलेखा दो कर दी जाती है[1]।

स्त्रीवध का भागवतपुराण में निषेध होने पर भी राजा कंस योगमाया का हनन करता है जबकि उसे यह स्मरण रहता है कि स्त्रीवध उचित नहीं है। कंस के हृदय में भय की स्थिति विद्यमान हो है। भय में उचित-अनुचित का विवेक नहीं रहता। इस मनोभाव को व्यक्त करने वाला कंस का कार्य अनुचित नहीं प्रतीत होता है।

इस नाटक में समाज की भी स्थिति का चित्रण किया गया है कि उस समय मित्र कृतघ्न नहीं थे वरन् प्रत्युपकार करना जानते थे। इसी कारण नन्द-वसुदेव के प्रत्युपकारों का स्मरण करके बालक कृष्ण को ग्रहण कर लेते हैं।

"प्रद्युम्नाभ्युदय" नाटक की सामाजिक पृष्ठभूमि का भी अवलोकन किया जाये तो उस समय संगीत आदि ललितकलाओं के प्रति व्यक्तियों की आस्था दृष्टिगोचर होती है तभी तो प्रभावती की संगीत शिक्षा के लिए वज्रनाभ भद्रनट को शिक्षक नियुक्त करता है।

<u>लीलास्थली-चित्रण</u>-- इस प्रकार से समाज की गतिविधि का अवलोकन करने के उपरान्त कृष्णकथाश्रित नाटकों में प्रकृति का मुखौटा चढ़ाये हुए प्रेम के मधुर भावों का स्पंदन सुन कर, उसे मूर्त रूप देने के लिए जिस लीलाधाम में प्रेम की यह क्रीडा प्रकृति की सुरम्य स्थली में सम्पादित होती है, उस आनन्दमय भगवान् के दिव्य धाम का भी सौन्दर्य नाटकों में देखना चाहिए जहां पर भगवान् अपनी नित्यसहचरी के साथ दिव्य क्रीडा करते हैं।

इन धामों का पौराणिक महत्व क्या है? जिसके कारण भगवान ने उसे अपनी आनन्दमयी क्रीडा की रंगस्थली बनाया और उन धामों का भी सौन्दर्य भगवान् की क्रीडा सम्पादित कराने के कारण द्विगुणित हो गया।

जिस प्रकार से भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी सहचरी एवं उनके अंश सब कुछ दिव्य हैं उसी प्रकार उनके लीलाधाम भी चिन्मय और नित्य हैं। ईश्वर की अलौकिक लीला तो निरन्तर ब्रह्माण्ड में चलती रहती है। उसे धराधाम पर भक्तों के आह्लादनार्थ प्रदर्शित करने के लिए सगुण रूप से भगवान् अवतरित होते हैं। वस्तुतः निराकार, निर्गुण रूप में तो भगवान् का न कोई स्वरूप है और न कोई धाम है जहां पर वह शाश्वत आनन्द का अभिव्यक्तीकरण कर सके।

---

१. हृदयेनेह तत्रापि द्विधाभूतेव गच्छति।
यथा नभसि तोये च चन्द्रलेखा द्विधा कृता॥--बालचरित--१।१३

विष्णु का परमधाम तो वैकुण्ठ ही बताया गया है जहाँ पर आनन्द की निर्झरिणी प्रवाहित होती रहती है। श्रीकृष्ण का विष्णु के साथ तादात्म्य स्थापित करने के कारण वैकुण्ठ से भी कृष्ण का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है परन्तु भागवतपुराण में वैकुण्ठ का नाम तो स्पष्ट रूप से नहीं आया है[1]। पुराणों में अगर श्रीकृष्ण के धाम का अवलोकन किया जाये तो श्रीकृष्ण का नित्यधाम गोकुल ही वर्णित किया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में श्रीकृष्ण ने गोलोक को ब्रह्मलोक के समान बताया गया है[2]।

इसी प्रकार 'हरिवंशपुराण' में भी 'गायों के लोक' गोलोक की चर्चा के सन्दर्भ कृष्ण का नाम भी आया है[3]।

'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में तो गोलोक का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान जो मण्डलाकार तेजपुंज है उसके भीतर नित्यधाम छिपा हुआ है उसका नाम 'गोलोक' कहा गया है[4]। इस वैकुण्ठ से भी पचास करोड़ योजन ऊपर स्थित नित्यलोक बताया गया है जो गौवों, गोपांगनाओं से परिवेष्टित और रासमण्डल से मण्डित है। वृन्दावन से भी आच्छन्न और विरजा से सुशोभित इस गोलोकधाम के देदीप्यमान ऐश्वर्य का भी चित्रण किया गया है। ऐसे अनुपम रत्नों से निर्मित राजसिंहासन पर श्रीकृष्ण को आसीन दिखलाया है जो स्वयं अपनी आभा से कामदेव के भी लावण्य को तिरस्कृत कर देते हैं।

इस प्रकार से पुराणों में भगवान् के अप्रकट लीला में सहायक नित्यधाम के रूप में ही गोलोक का चित्रण किया गया है। अप्रकट लीला परब्रह्म द्वारा भी अप्राकृत ब्रह्माण्ड के हृदय में होती है। गर्गसंहिता, वृहद्ब्रह्मसंहिता, नारद पांचरात्र, अनन्तसंहिता आदि में भी पुराणों की तरह ही गोलोक का वर्णन किया गया है।

'ब्रह्म संहिता' में तो गोलोक को श्रीकृष्ण का नित्यधाम बताया गया है और उसकी स्थिति देवी, महेश आदि के धामों से भी उच्च बतायी गयी है[5]।

'अनन्त संहिता' में तो महावैकुण्ठ से ऊपर प्रकृति से भी परे गोलोक की स्थिति को बताया है जो नित्य गुणों और उत्सवों से युक्त हो[6]।

---

१. श्रीमद्भागवतमहापुराण--२।६ तथा ११।३१।
२. महाभारत शान्तिपर्व--३५२,१३८।
३. हरिवंश पुराण, विष्णुपर्व, अध्याय १६ श्लोक ३४-३५।
४. ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखण्ड, अध्याय २८, प्रकृतिखण्ड अ० ५४।
५. ब्रह्म संहिता, ५-४।
६. अनन्तसंहिता--५।

इसी प्रकार "गर्गसंहिता" के "गोलोकखण्ड" में गोलोक धाम के सौन्दर्य का मनमोहक चित्र खींचा गया है। ईश्वर को अरूप से दिखाने के लिए दर्शन के आधार पर गोलोक में अंकित कृष्ण का वर्णन किया गया है। इस गोलोक को शेषनाग के अंक में प्रतिष्ठित दिखाया गया है जो कि महालोक नाम से अभिहित किया जाता है।[1]

इस संहिता में भी "ब्रह्मवैवर्तपुराण" की तरह गोलोक को वनमालिनी से, गोपियों से, गोगणों से आवृत, रासमण्डल एवं वृन्दावन की के दिव्य वृक्षों से सुशोभित बताया गया है।[2] यह तो अप्रकट लीला के धाम वैकुण्ठ और गोलोक की चर्चा की गयी पर इस गोलोक का सौन्दर्य पृथ्वीतल पर कहाँ अभिव्यक्त दिखायी पड़ता है जहाँ पर भगवान् सगुणरूप में क्रीडा करते हैं, यह देखना शेष है।

भगवान जहाँ अवतरित होते हैं उनके धाम तो उनके साथ ही अवतरित हो जाते हैं अतएव भगवान् की प्रकट लीला में पृथ्वीतल पर गोलोक की त्रिविध अभिव्यक्ति दिखायी पड़ती है--- गोकुल, द्वारका और मथुरा।

गोकुल का महत्व तो द्वारका मथुरा से अधिक जान पड़ता है क्योंकि यहीं पर भगवान् श्रीकृष्ण की माधुरी का सर्वाधिक प्रसार हुआ है। गोकुल को व्रज भी कहा जाता है। इसका परम सौभाग्य है कि इसने भगवान् के बाल्यकाल से लेकर यौवन तक के सौन्दर्य को अपलक निहारा है और अपने को श्रीकृष्ण का अनुचर समझ कर उनका मंगल करने के लिए ही उन्हीं के चरणों का अनुसरण किया है। श्रीकृष्ण ने भी अपने प्रिय भक्तजन की तरह ही इस गोकुल को अपना अन्तरंग धाम स्वीकार किया है।

रूपगोस्वामी ने "लघुभागवतामृत" में मथुरा की महिमा का भी व्याख्यान किया है और उसकी महिमा वैकुण्ठ से भी अधिक स्वीकार की है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि त्रिविध लीलाधाम ही श्रीकृष्ण की मधुरमाधुरी से सुवासित होकर अपनी सुषमा से सबको आह्लादित करके अत्युत्कृष्ट बन जाते हैं लेकिन व्रज को ही गुणातीत भगवान् का चेतनांश कहा गया है।

---

१. तस्यास्त्वङ्गे महालोको गोलोको लोकवन्दित:।
यत्र काल: कलयतामीश्वरो धाममानिवाय ।।--गर्गसंहिता गोलोकखण्ड, श्लोक १८।

२. अथ देवगणा: सर्वे गोलोकं ददृशु: परम्।
यत्र गोवर्धनो नाम गिरिराजो विराजते।
वनमालिनीभिश्च गोपीभिर्गोगणावृत:
कल्पवृक्षलताभिश्च रासमण्डलमण्डित: ।।--वही, श्लोक ३२-३३।

"श्रीमद्भागवतमहापुराण" में भी व्रज को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है जिसे गोपियाँ स्वयं अंगीकृत करती हैं।[1] वृन्दावन भी गोकुल की तरह ही कृष्ण-भक्तों के लिए सर्वाधिक महिमाशाली रहा है। वृन्दावन में की गयी भगवान् की अलौकिक लीलाएं सहृदय भक्तों को अत्यधिक आकृष्ट करती हैं।

"गोपालतापिनी उपनिषद्" में भी कृष्ण के क्रीडाधाम के रूप में ही "वृन्दावन" कहा गया है।[2] उक्त उपनिषद में वृन्दावन को "गोपालपुरी" के नाम से अभिहित किया गया है। शरीर में जिस भांति कमल स्थित रहता है उसी प्रकार कमलाकृति भूमि में मथुरा है और उसमें गोपालपुरी स्थित है।[3]

इसी प्रकार कृष्णोपनिषद् में भी वृन्दावन को श्रीकृष्ण की क्रीडास्थली बताया गया है। "गर्गसंहिता" में भी कृष्ण वृन्दावन, यमुना एवं गोवर्द्धन का महत्त्व बताते हैं।

वृन्दावन की लीलाओं से ओतप्रोत "गीतगोविन्द" है जो कि भक्तों का ध्यान श्रीकृष्ण की लीलाओं की ओर आकृष्ट करता है।

श्रीकृष्ण के निजधाम के रूप में वृन्दावन प्रसिद्ध रहा है। गोकुल को श्रीकृष्ण का निजधाम मानने वाले भी वृन्दावन को ही श्रीकृष्ण का सर्वोच्च धाम स्वीकार करते हैं, क्योंकि गोकुल के महान् उत्पातों एवं श्रीकृष्ण के अलौकिक कृत्य को देख कर भी राधा से श्रीकृष्ण की रक्षा के लिए वृन्दावन जाने का विधान "श्रीमद्भागवत" में उपनन्द द्वारा किया गया है।[4] सारी लीलाएं यहीं पर सम्पादित होती हैं। "भागवतपुराण" में "वृन्दावन" नाम पड़ने का कारण भी बताया गया है। सप्तद्वीप के अधिपति केदार नृपति की वृन्दा कन्या तपश्चर्या करते समय प्रकट हुए श्रीकृष्ण के मधुर रूप सम्मोहन से आकृष्ट होकर उन्हें पति रूप में वरण करने की आकांक्षा करती है। श्रीकृष्ण द्वारा उसकी मनोकामना की पूर्ति कर गोलोक को जाने पर राधा के समान वह भी श्रेष्ठ बन जाती है। इसी कारण जब कृष्ण पृथ्वीतल पर अवतरित होते हैं तब यह वृन्दा भी वृन्दावन

---

१. श्रीमद्भागवतपुराण--१०।३०।१
२. तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहंपंचपदं वृन्दावने। -- गोपालतापिनी--८।
३. गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद्।
४. श्रीमद्भागवतपुराण--१०।११।२८।

के रूप में श्रीकृष्ण के साथ रहवास करने के लिए अवतरित हो जाती है।" ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी यही कथा वृन्दावन के रूप में श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में प्राप्त होती है।[1] वृन्दा ने जहाँ तप अथवा क्रीडा की उस स्थान का नाम वृन्दावन रखा गया।

राधा के सोलह नामों में एक वृन्दा नाम भी श्रुतियों में सुना गया है। उन वृन्दा नामधारिणी राधा का यह क्रीडावन होने के कारण भी "वृन्दावन" कहलाता है। विश्वकर्मा ने वृन्दावन में जाकर मणिमय परकोटों से युक्त रासमण्डल का निर्माण किया। पुष्प,उद्यान,मणिमय रत्नकलश एवं सरोवरों से सुशोभित वृन्दावन का निर्माण करके विश्वकर्मा ने अपनी निर्माणकला की सराहना की क्योंकि यह राधा-माधव की क्रीडा के लिए विलक्षण वनों से युक्त मनोरम क्रीडास्थल बन गया था।[2]

"पद्मपुराण" के पातालखण्ड में ६९ से ८३ तक के १५ अध्यायों में वृन्दावन-महात्म्य वर्णित है। गोलोक का समस्त ऐश्वर्य गोकुल में प्रतिष्ठित है और द्वारका में वैकुण्ठ का,[3] परन्तु नित्य वृन्दावन धाम को समस्त ब्रह्माण्ड से ऊपर संस्थित बताया गया है। इस पुराण में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं वृन्दावन,यमुना और मथुरापुरी को नित्य बताया है।[4]

वृन्दावन पूर्णानन्दमय रस का आश्रय है और जल भी अमृत के समान ही है,जिसे पीकर लोग अमरत्व को प्राप्त कर लेते हैं। इसी सौन्दर्यावेष्टित वृन्दावन में श्यामतेज कृष्ण निरन्तर विद्यमान रहते हैं और इसी भूमि पर संगीत,नृत्य आदि का आयोजन भगवान् द्वारा किया जाता है जिससे अनिर्वचनीय सुख आनन्द की प्राप्ति होती है।

वृन्दावन के सम्बन्ध में यदि हम यह कहें कि परब्रह्म की क्रीडास्थली ही पृथ्वीतल पर अवतरित होकर आनन्द की सृष्टि कर रही है तो ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वृन्दावन की लताएं एवं धारा ऐश्वर्य दिव्यता की गन्ध से ही सुवासित रहता है,कहीं पर भी प्राकृत लोक की गन्ध का आभास नहीं होता। ऐसा प्रतीत

---

१. ब्रह्मवैवर्तपुराण--कृष्णजन्मखण्ड--अध्याय १७।

२. वही।

३. तत्कलांस्थानमूर्धन्यं विष्णोरत्यन्त दुर्लभम्।
नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरिसंस्थितम्।
पूर्णब्रह्मसुखैश्वर्यं नित्यमानन्दमव्ययम्।
वैकुण्ठादि तदंशांशं स्वयं वृन्दावनं भुवि।
गोलोकैश्वर्यं यत्किंचनदगोकुले तत्प्रतिष्ठम्।
वैकुण्ठ वैभवं यद्वै द्वारकायां प्रतिष्ठितम्।--पद्मपुराण ६९।८,९,१०।

४. वही--७३।२४-२६।

होता है कि यह वृन्दावन कृष्ण की चरणसेवा करते हैं श्रीकृष्ण की प्रकट लीलास्थली होने पर भी अप्रकट लीलास्थली का भी स्वरूप दिखाकर अपनी दिव्यता को प्रतिष्ठित कर रखा है।

श्रीकृष्ण स्वयं वृन्दावन में ही अपना आविर्भाव-तिरोभाव बतलाते हैं। यह लीलास्थली इन चर्मचक्षु वाले लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होता। भगवान् की कृपा का जो पात्र होता है उन्हीं के माध्यम से भगवान् के स्वरूप का अवलोकन किया जा सकता है। इससे भी वृन्दावन की महत्ता सूचित होती है जो अन्य प्राणियों को भी अपनी गरिमा का ज्ञापन करा देती है।

"श्रीमद्भागवतपुराण" में तो यहीं वृन्दावन की सुषमा से सम्मुग्ध उद्धव भगवान् के वहाँ भाग में गुल्मलता बन कर रहने की कामना करते हैं।[1] यह वृन्दावन के प्रति उद्धव के प्रेम की चरमावस्था है जो आराध्य की लीलास्थली होने के कारण और भी प्रिय हो गया है।

"पद्मपुराण" में भी इसे नित्य रास-रसोत्सवपूर्ण, कृष्ण परम गुह्य और पूर्ण प्रेमरसात्मक बताया गया है।[2] इसी प्रकार "बृहद्ब्रह्मसंहिता" में तो समस्त वनों की अपेक्षा इस वृन्दावन को ही दिव्यता के कारण श्रेष्ठ वन स्वीकार किया गया है।[3]

जब हम "श्रीमद्भागवतादि" में कृष्ण की केलिक्रीड़ा का आश्रय सूचित करने वाली वृन्दावन की स्थिति का दर्शन करते हैं तो उसमें कहीं भी अलौकिक, प्रतीकात्मक, अपार्थिव वृन्दावन की स्थिति का वर्णन नहीं होता। रासप्रसंग में इसकी केवल [illegible] दिव्यता के सम्बन्ध में किंचित् प्रकाश पड़ता है। वृन्दावन की दिव्यता का प्रतिपादन "पद्मपुराण" आदि की तरह विस्तार से नहीं किया गया। इसके बावजूद भी इस पुराण में वृन्दावन धाम की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

इस प्रकार से वृन्दावन का स्वरूप पौराणिक वाङ्मय के धरातल पर देखने के पश्चात् हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि एक ओर वृन्दावन का भौतिक वर्णन प्राप्त होता है दूसरी तरफ उसे नित्य एवं दिव्य कह कर अलौकिक रूप प्रदान किया जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि वृन्दावन के दोनों रूपों की कल्पना ही अधिकांश के मस्तिष्क में व्याप्त रही है।

---

१. श्रीमद्भागवत महापुराण--१०।४७।६
२. पद्मपुराण, अध्याय ७४, पातालखण्ड।
३. बृहद्ब्रह्मसंहिता--तृतीयपाद, अध्याय द्वितीय--२०-२१।

वृन्दावन में प्रवाहित होने वाली कालिन्दकन्या यमुना की महत्ता का वर्णन भी पद्मपुराण में प्राप्त होता है। यमुना-जल को मुक्ति प्रदान करने वाला कहा गया है। इस जल में आनन्ददायिनी सुधा से मिश्रित घनीभूत मकरन्द की प्रतिष्ठा है तभी तो वह अपनी सुगन्ध से मनुष्यों का मन भी मोह लेती है[1]। यमुना के किनारे स्थित वृक्ष में संलग्न पुष्पों की छाया जब यमुना जल पर पड़ती है उस समय उसका जल विचित्र रंगों वाला दिखलायी पड़ता है।

वृन्दावन की मधुर सुषमा के साथ "मथुरा-महिमा" का भी गान "पद्मपुराण" में किया गया है। मनोरम पुरी मथुरा की स्तुति देवराज इन्द्र, नागराज अनन्त एवं बड़े-बड़े मुनीश्वर भी करते हैं। मथुरा में रहने वाले धन्यभाग्य के होते हैं जिन्हें मथुरापुरी का दर्शन होता है। वे सबके सब चतुर्भुज विष्णुस्वरूप हैं[2]।

"विष्णुपुराण" में भी मथुरा नगरी को पापों को हरण करने वाली शुभ पुण्या[3] नगरी के नाम से सम्बोधित किया गया है जिसमें साक्षात् सनातन विष्णु उत्पन्न हुए। इसी प्रकार मथुरा की महिमा का वर्णन "स्कन्दपुराण" में भी प्राप्त होता है जहां पर स्वर्गलोक, पाताल, अन्तरिक्ष और मनुष्यलोक में मथुरानगरी के प्रति ही स्वाभाविक प्रेम प्रदर्शित किया गया है। समस्त तीर्थों में मथुरा की महत्ता सर्वव्यापक है और यहां पर ही गोपालों के साथ भगवान कृष्ण ने "मधुवृन्दा" में बालरूप धारण करके अनेक क्रीडाएं कीं[4]।

मनुस्मृति में भी मनु ने सप्तपुरियों में मथुरा का उल्लेख किया है। मथुरानगरी भी भगवान् की क्रीडास्थली होने के कारण भक्तों के लिए सर्वाधिक प्रिय रही है। वृन्दावन की सम्पूर्ण सौन्दर्य हरि पर आश्रित है, इसी प्रकार मथुरा भी हरि के आगमन पर साज-श्रृंगार करके सुन्दर रमणी की भांति दिखायी पड़ती है। मथुरा, वृन्दावन का पौराणिक महत्त्व ज्ञात कर लेने के पश्चात् यह भी जान लेना होगा कि पौराणिक पृष्ठभूमि के आधार पर नाटकों में वृन्दावन, मथुरा एवं द्वारका की सुन्दरता एवं उनके महत्त्व का वर्णन नाटकों में किया गया है अथवा नहीं।

---

1. पद्मपुराण (पातालखण्ड) अध्याय ६९।७३-८० ।
2. वही--७३।४३-४७½।
3. विष्णुपुराण--अंश २, अध्याय २, श्लोक २-३ ।
4. स्कन्दपुराण द्वितीय, वैष्णवखण्ड, अध्याय १७, श्लोक २०-२१ ।

वृन्दावन को सर्वोत्कृष्ट धाम स्वीकार करने वाले तो यह भी मानते हैं कि श्रीकृष्ण वृन्दावन में ही नित्य विहार करते हैं । वृन्दावन के क्रोड में ही रासक्रीड़ा करते हैं और यह लीला शाश्वतकाल तक चलती रहती है । इसमें वियोग की तो किंचित् गुंजाइश ही नहीं है । जब श्रीकृष्ण मथुरा प्रस्थान ही नहीं करते तब वहां पर लीला सम्पादित करने का प्रश्न ही नहीं उठता । कुछ लोग तो यहां तक कह देते हैं कि प्रकट लीला में ही अक्रूर के आगमन पर श्रीकृष्ण और बलराम का मथुरागमन हुआ था और विरह का प्रसंग उद्घाटित किया गया ।

भगवान् जब अप्रकट लीला में अपने मथुराधाम में सपरिकर निवास करते हैं और सबको अपना सामीप्य सुख प्रदान करते हैं तब मथुरागमन का प्रसंग उठाना न्यायसंगत नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण की इतिश्री वृन्दावन में लीला करने पर ही हो जाती है । इस सम्बन्ध में शास्त्र का कथन है कि श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़ कर कहीं नहीं जाते हैं[1] ।

उनके इस दृष्टिकोण का ही आश्रय लेने वाला रूपगोस्वामी का 'ललितमाधव' है जिसमें भगवान् मथुरागमन करने पर भी वहां स्थित होकर व्रजांगनाओं को उसी तरह आनन्द की उपलब्धि कराते हैं । यहां पर श्रीकृष्ण का गमन होने पर भी अप्रकट लीला की भांति व्रजांगनाओं को उस रस की प्राप्ति होती है ।

वृन्दावन का जो सौन्दर्य श्रीमद्भागवतादि पुराणों में प्राप्त होता है वह ऐसा प्रतीत होता है मानो नित्य एवं अनित्य इन द्विविध धाराओं के मध्य में सरस्वती की भांति अपनी गरिमा बनाये हुए हो । सरस्वती तो गंगा-यमुना के मध्य में लुप्त रहती है परन्तु वृन्दावन नित्य अनित्य की त्रिवेणी से सुशोभित प्रतीत होता है ।

नाटकों में भी वृन्दावन का सौन्दर्य वर्णित है और इस वर्णनक्रम में कवि कहां-तक भागवत एवं अन्य पुराणों से प्रभावित रहे हैं यह नाटकों में वृन्दावन के सौन्दर्य को देखने पर ही ज्ञात हो सकता है ।

'बालचरित' नाटक में अरिष्टर्षभ वृन्दावन की सुन्दरता का वर्णन करता है । वह वृन्दावन की सुषमा को अपलक निहारने के पश्चात् कृष्ण द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है[2] ।

---

१. कृष्णोऽन्यो यदुसम्भूतो यः पूर्णः सोऽस्त्यतः परः । वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति ।। द्विभुजः सर्वदा सोऽत्र न कदाचिच्चतुर्भुजः । गोप्यैकया युतस्तत्र परिक्रीडति नित्यदा । —— लघुभागवतामृत—२६५ ।

२. बालचरित— ३।५ ।

"रुक्मिणी परिणय" नाटक में रुक्मिणी गांधर्व विवाह कर लेने के पश्चात् जब वासुभद्र का रथ वृन्दावन पहुंचता है तब वह वृन्दावन की मनमोहिनी छटा को देख कर अपने भावोद्गार प्रकट कर देते हैं। वासुभद्र रुक्मिणी से वृन्दावन की शोभा के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहते हैं--" यहां पर उन्मत्त नृत्य करते हुए मयूर एवं क्रीडा करती हुई सुन्दर कोयलें तुम्हारे हृदय को आनन्दित करने वाली हैं।[1]"

वृन्दावन के सौन्दर्य में ही मनमोहिनी शक्ति है जो किसी को भी अपने मन्त्र पाश में सुगमता से आबद्ध कर लेती है।

"वृषभानुजा नाटिका" में श्रीकृष्ण प्रियालाप से वृन्दावन की शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह भौंरों के मधुर गीतों से गुंजायमान एवं कोलाहल से युक्त है। लताएं किसलय में अनुराग के उद्गम से नववधू की भांति श्रीकृष्ण के आगमन पर मंगल करती हुई प्रतीत होती हैं।[2]

इसी प्रकार वृक्ष भी फलों से नम्र होने के कारण ऐसे प्रतीत होते हैं मानो प्रेम का प्रचार कर रहे हों। मलयानिल भी श्रीकृष्ण को आवाहन करती हुई-सी प्रतीत होती है। अतएव यही कहा जा सकता है कि नाटकों में सौन्दर्य के अभिव्यक्तिकरण में प्रकृति को उद्दीपन के अतिरिक्त आलम्बन ही अधिक बनाया।

रूपगोस्वामी का "विदग्धमाधव" तो वृन्दावन की केलिक्रीडा से ही ओतप्रोत है। अतएव इसमें वृन्दावन का विस्तृत वर्णन होना समुचित ही है। रूपगोस्वामी ने भी भागवत की भांति सौन्दर्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म पक्ष पर भी अपनी दृष्टि डाली है। भागवत की भांति श्रीकृष्ण को ब्रह्मरूप से मानने के कारण और पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्त-पुराण से प्रभावित होने के कारण उन्होंने वृन्दावन को अलौकिक सुषमा से युक्त प्रदर्शित किया है, जहां पर आनन्द की सृष्टि होती है।

वृन्दावन को नित्य ही स्वीकार किया है। विदग्धमाधव में वृन्दावन को इन्द्रपुरी से भी उत्कृष्ट बताया है। उत्कृष्टता का कारण कलकल करने वाली यमुना को बताया है। वृन्दावन में विचरण करने वाली गौओं का धवलवर्ण होने के कारण उनमें आकाशगंगा की उत्प्रेक्षा की गयी है और इस उत्प्रेक्षा से वृन्दावन स्वर्ग से भी अधिक शोभा को धारण कर लेता है।[3]

---

१. रुक्मिणी परिणय --४।१२

२. इदं मधुरगीतिभिर्मधुकराङ्गनानां घनै, कलापिकुलनर्तितैः पिककदम्बकोलाहलैः।
लतानववधूतति किसलयानुरागोद्गमैः, ममाँगमनमंगलं परितनोति मन्ये वनम्।
--वृषभानुजा--१।२६-२७

३. विदग्धमाधव--२।१८।

मलयानिल से आन्दोलित वृन्दावन[1] श्रीकृष्ण के अन्तर में असीमित आनन्द की तरंगिणी प्रवाहित करने वाला है, क्योंकि यह वृन्दावन दिव्यलताओं से व्याप्त है। लताएं विकसित पुष्पों से पूर्ण हैं। फूल भंवरों से सुशोभित हैं और भौंरे भी श्रवणसुखद मधुर गुंजार कर रहे हैं।[2]

वृन्दावन अपनी कान्त सुषमा से इन्द्रियों को भी उन्मत्त कर देता है तभी तो श्रीकृष्ण मधुमंगल से कहते हैं--" कहीं मधुकरी का मधुर गान है। कहीं मन्द मलयानिल की शीतलता है। कहीं लता की थिरक है, कहीं स्वच्छ चमेली का पराग है। कहीं स्वर्णफल के समूह का प्रवाहमय रसभार है। इस प्रकार वृन्दावन नेत्र आदि इन्द्रिय को विशेष आनन्दित कर रहा है।[3]

श्रीकृष्ण को राधा के साथ प्रणयप्रसंग अवसर पर भी वृन्दावन अत्यधिक आकृष्ट करता है। यद्यपि वह राधा के रूप पर स्वयं आसक्त ही हैं, वन-शोभा से उन्हें क्या प्रयोजन। इसके बावजूद भी वह वृन्दावन की शोभा का वर्णन करने में अपने आवेग को नहीं रोक पाते हैं। वह राधा से कह ही देते हैं--" जहां वृक्षों पर रहने वाले पक्षिगण मधुवर्षी पुष्पसमूहों से विकसित लतावधुओं से चारों ओर से मिलने वाले भ्रमर रूपी अतिथियों की सेवा करते हैं और जो स्वच्छन्दभाव से खेलते हुए पशुओं तथा पक्षियों से व्याप्त है। हे सुकण्ठि, वह वृन्दावन किसे आनन्द न देगा ?[4]

श्रीकृष्ण के नेत्रों को आनन्दित करने के उपरान्त वृन्दावन की शोभा श्रीकृष्ण के संगम के कारण कृष्ण के स्वरूप की भी समता प्राप्त कर लेती है। सघन छायायुक्त वृन्दावन की शोभा श्यामवर्ण की है। उसमें खिले हुए कटसरैया के पुष्प का पीला रंग पीताम्बर धारण किये हुए है। श्रीकृष्ण श्याम वर्ण के हैं ही और उनका पीताम्बर भी कटसरैया के पुष्प की भांति पीले रंग का है। अतएव श्यामवर्ण ही वृन्दावन का पीले पुष्प से संयोग होने के कारण कृष्ण के स्वरूप की समता प्राप्त करने की उद्भावना रोचक प्रतीत होती है।[5]

---

१. विदग्धमाधव--२।२३

२. वृन्दावनं दिव्यलतापरीतं लतास्तु पुष्पस्फुरिताग्रभाजः ।
   पुष्पाण्यपि स्फीतमधुव्रतानि मधुव्रताश्च श्रुतिहारिगीताः ॥--वही २।२४

३. वही--२।३१

४. वही--५।३८

५. वही--६।५

वृन्दावन के सौन्दर्य का वर्णन करते समय रूपगोस्वामी की प्रतिभा भी दिग्दर्शित होती है जिसने वृन्दावन के सौन्दर्य को निर्निमेष दृष्टि से देख कर कृष्ण के साथ तादात्म्य स्थापित करने की योजना की है।

"भागवतपुराण" में रासलीला के अवसर पर मल्लिका पुष्पों के असमय विकसित होने के तुल्य पुष्पों के खिलने का दृष्टान्त रूपगोस्वामी ने अपने नाटक "विदग्धमाधव" में भी दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहीं से कवि ने भाव ग्रहीत करके अपने नाटक में इसको रमणीय रूप से प्रस्तुत कर दिया।

श्रीकृष्ण की मुरली-ध्वनि के श्रवणमात्र से गौओं के दूध की धारा ने दूर से प्रत्येक दिशा को इस प्रकार सेया कि असमय में खिलते हुए फूलों[1] वाले वृक्षों से चारों तरफ सुशोभित होकर यह वृन्दावन दधिसिंचित प्रदेश बन गया। इस प्रकार कृष्ण की महिमा से परिमाण्डित वृन्दावन का सौन्दर्य श्रीकृष्ण पर ही आश्रित है।

"कंसवध" नाटक में श्री सुदामा वृन्दावन की शोभा का अनेक उपमानों से वर्णन करके श्रीकृष्ण[2] को वृन्दावन का स्मरण दिलाते हैं जब श्रीकृष्ण मथुरा जाने को प्रस्तुत होते हैं।

गोकुल की शोभा का वर्णन भी "वृषभानुजा" नाटिका में प्राप्त होता है, जिसकी मुक्ताकान्तियुक्त भूमि नेत्रों को सुभग आनन्द प्रदान करती है और जहां कालिन्दी के समीप समीप खग, मृग वीतशंकभाव से मन्द-मन्द चरते हैं।[3]

अतएव नाटकों में वृन्दावन गोकुल के सौन्दर्य का जितना वर्णन हुआ है उतना मथुरा और द्वारका का नहीं हुआ। मथुरा और द्वारका में श्रीकृष्ण की ऐश्वर्यप्रधान लीलाएं होने के कारण ही इनका वर्णन कवियों को उतना रुचिकर नहीं लगा जितना

---

१. पिबन्तीनां वंशीरवमिह गवां कर्णचुलुकैः
   पयःपूरा दूरादिशि दिशि तथा प्रस्नुरभी।
   अकाले पुष्पाढ्यैस्तरुभिरभितः शोभितमिदं
   यथा वृन्दारण्यं दधिमयनदीमातृकमभूत् ॥-- विदग्धमाधव--६।७

२. कंसवध, पृ० ५७।

३. क्वचिन्मुक्ताकान्तिं सितकुसुमैर्यत्परिसरे
   हरत्येषा भूमिर्नयनसुभगं गोकुलमिदम्।
   यस्योपान्ते तपनतनयातीरमासाद्य वत्सा,
   वीताशंकैः सह खगमृगैर्मन्दमन्दं चरन्ति ॥-- वृषभानुजा नाटिका--१।११

कि कृष्ण के बालस्वरूप की क्रीडाओं ने उन लोगों के चित्त को आकर्षित किया । वृन्दावन में भी की गयी लीलाओं को ऐश्वर्य लीला का नाम दिया जा सकता है फिर भी रासलीला होने के कारण वृन्दावन की केलिस्थली ही कवियों का आधार बनी ।

"भागवतपुराण" का परवर्ती नाटककार रूपगोस्वामी आदि पर क्या प्रभाव पड़ा यह तो उनके नाटकीय सौन्दर्य को देखने पर ही ज्ञात हो जाता है कि इन्होंने भक्त भावों की शृंखला का अनुसरण कहां तक किया ।

<u>कृष्णकथा का क्रमिक विकास</u>--- कृष्णकथा का संकेत नाटकों में तो सबसे पहले भास के नाटक "बालचरित" में मिलता है जिसमें कृष्णलीला सुन्दर रूप से गुम्फित हुई है । उसके बाद अश्वघोष की इस पंक्ति में " ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः"[1] में गोपालकृष्ण का उल्लेख मिलता है । कालिदास ने "मेघदूत" में भी " गोपवेषस्य विष्णोः" की चर्चा की है[2]।इसी प्रकार "रघुवंश" महाकाव्य में भी श्रीकृष्ण के साथ वृन्दावन,यमुना और मथुरा का प्रशंसात्मक शब्दों में वर्णन किया गया है[3] ।

भास,अश्वघोष और कालिदास का समय विभिन्न विद्वानों द्वारा निर्धारण करने के आधार पर हम यही कह सकते हैं कि ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से ही नाटकों में कृष्णकथा प्रचलित हो गयी थी और उसके बाद परवर्ती नाटककारों ने भी अपने नाटक का आश्रय उसे बनाया ।

भट्टनारायण जिनका समय आठवीं शताब्दी पूर्वार्ध है[4] ,उसमें भी राधा कृष्ण के प्रेम का वर्णन है[5] ।

इस प्रकार से नाटकों में प्रतिपादित कृष्णकथा के समान महाकाव्यों में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान रहा है । क्षेमेन्द्र के " दशावतारचरित, जयदेव के "गीतगोविन्द", लीलाशुक बिल्वमंगल के "कृष्णकर्णामृत" काव्यों ने तो कवियों को अत्यन्त आकृष्ट किया जिसके फलस्वरूप नाटककार अपनी कृतियों में इसका संयोजन करने से अपने को रोक न पाये । जयदेव के "गीतगोविन्द" ने तो विशेष रूप से परवर्ती कृष्णकाव्य -साहित्य को प्रभावित किया ।

---

1. मध्यकालीन धर्म साधना--पृ० ११८--डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ।
2. बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ।--मेघदूत,पूर्वभाग १५ ।
3. रघुवंश--6।४६-५१ ।
4. संस्कृत साहित्य का इतिहास--श्री बलदेव उपाध्याय,पृ० १५८ ।
5. वेणीसंहार-- १।२ ।

संस्कृत साहित्य ही न केवल राधाकृष्ण की मधुर रास एवं रसक्रीडाओं से ओतप्रोत है वरन् प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में भी कृष्ण की लीलाओं का गुणगान किया गया है।

हाल की "गाथासप्तशई" तथा "प्राकृत पैंगलम्" नामक प्राकृत छन्द के ग्रन्थ में तो श्रीकृष्ण के ब्रजलीला सम्बन्धित कई पद संकलित हैं। अपभ्रंश साहित्य में तो पुष्पदन्त द्वारा रचित कृष्णसम्बन्धी प्रमुख काव्यरचना "महापुराण" है जो "भागवतपुराण" एवं "हरिवंशपुराण" के आधार पर लिखी गयी है। इस पुराण में कृष्णकथा का दसवीं शताब्दी का रूप मिलता है।

प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत--इन तीनों साहित्यों में कृष्णकथा का संकेत मिलने के उपरान्त तेलुगु एवं कन्नड़ भाषा में भी कृष्णकथा को महत्व प्रदान किया गया। पोतन्ना ने तेलुगु भाषा में "भागवत" की रचना की और कन्नड़भाषा में वेणुगीता, गोपीगीता और भ्रमरगीता लिखी गयी जिनमें कृष्ण की मधुर भक्तिरस युक्त भावमयी लीलाओं का गान किया गया है। इसके समकक्ष और भी भाषाओं में कृष्णचरित मिलता है परन्तु सबका उल्लेख करना सम्भव भी नहीं है और यह शोध-विषय से सम्बद्ध भी नहीं है।

परवर्ती हिन्दी साहित्य तो राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं से ओतप्रोत है। हिन्दी साहित्य में कृष्णकाव्य का पूर्ण विकास १६वीं शताब्दी में हुआ जो कि कृष्णभक्ति काव्य के लिए स्वर्णिम युग ही प्रतीत होता है। ब्रजभाषा में रचित कृष्ण का चरित और भी सुन्दर रूप में व्यक्त किया गया है जिसमें बालक कृष्ण शिशु की भाँति ब्रजभाषा रूपी माँ का आलिंगन करते हुए साधारण बालक की भाँति अपने रूप का बिम्बात्मक प्रदर्शन करते हैं।

चैतन्य सम्प्रदाय में दीक्षित रूपगोस्वामी भी राधाकृष्ण के प्रेम में आसक्त षट्गोस्वामियों में सर्वाधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुए जिनका "विदग्धमाधव" और "ललितमाधव" नाटक संस्कृत साहित्य को कृष्णलीला सम्बन्धी देदीप्यमान पुंज से प्रकाशित कर रहा है।

अतएव अन्त में निष्कर्ष के आधार पर यही कहा जा सकता है कि परवर्ती रचनाकारों ने पौराणिक पृष्ठभूमि के आधार पर उन्हीं के भावजाल में फंसकर अपनी किंचित कल्पनाशक्ति के धरातल पर निष्क्रमण करने का यत्न तो किया परन्तु

अधिकांशत: वह पौराणिक कृष्णकथा के महत्व को समझ कर उसे नवीन रूप देने में अपने को असमर्थ समझते रहे,क्योंकि उनके अनुसार में भागवतादि पुराणों में प्रतिपादित कृष्ण का स्वरूप विद्यमान था ।

इसके बावजूद भी कतिपय कवियों ने अपनी स्वाभाविक कल्पनावृत्ति का आश्रय लेकर इतिवृत्त में नवीन तथ्यों को उद्घाटित करने का भी दुस्साहस किया है यह उनकी पुराणों में आस्था न होने का परिचायक नहीं है बल्कि अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर देना मात्र है ।

पुराणों से कथानक ग्रहीत करने का तात्पर्य ही पुराणों में आस्था होना है । नाटककारों ने "श्रीमद्भागवत पुराण" को ही केवल आधार बना कर नाटकों की रचना नहीं की क्योंकि नाटकों में केवल श्रीकृष्ण का ब्रह्म स्वरूप प्रतिपादित कर देने मात्र से सहृदय को रस की उपलब्धि उस सीमा तक नहीं होती जितनी ब्रह्मवैवर्त आदि का आश्रय लेकर लिखे गये नाटक प्राकृतमानव को रुचिकर प्रतीत होते हैं ।

यह भी शोचनीय प्रश्न है कि कृष्ण के विराट स्वरूप की नाटकों में अभिव्यंजना न करके केवल शृंगारिक पक्ष को ही इतना उभारा गया है कि वह कहीं-कहीं अश्लील-सा लगता है । इतना होने पर भी "भागवतपुराण" से प्रभावित नाटककार श्रीकृष्ण को परब्रह्म का स्वरूप बताकर उन्हें सर्वोच्च आसन पर आसीन कर देते हैं ।

"भागवतपुराण" तो कृष्णकथाश्रित पुराणों में प्राचीन होने के कारण अन्य पुराणों को भी प्रभावित करता है । अत: इसके परिप्रेक्ष्य में लिखे गये परवर्ती नाटक अगर अन्य पुराण का भी आश्रय लेकर लिखे जाते हैं तब भी इसकी श्रेष्ठता में सन्देह नहीं होता,क्योंकि भागवत में प्रतिपादित कृष्ण की लीलाओं का सौन्दर्य इतना चिन्मयात्मक है कि वह अन्य पुराणों के कतिपय प्रसंगों की तरह कहीं भी शुष्क एवं नीरस नहीं हो पाता । "अतएव" भागवत" को ही श्रेष्ठ समझ कर उनकी लीलाओं का व्याख्यान किया गया है । अन्य नाटकों में अन्य पुराणों की झलक दिखलायी पड़ने के कारण अन्य पुराणों का भी अध्ययन किया गया है वह परवर्ती नाटककारों की कृष्णकथाश्रित सामग्री को पुष्ट करने में सहायक है ।

---00---

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची
पत्र-पत्रिकाएं आदि

—o—

सहायक ग्रन्थ-सूची

(मूल संस्कृत ग्रन्थ)

१. कंसवधम्--शेषकृष्णविरचितम्--काव्यमाला सीरीज़--सम्पादक दुर्गाप्रसाद एवं काशीनाथ पाण्डुरंग परब--निर्णयसागर प्रेस,बम्बई,संवत् १८८८ ।

२. कृष्णचन्द्राभ्युदयम् (छाया नाटक)--महामहोपाध्याय शंकरलाल शास्त्री-प्रणीतम् -- टीका हाथीभाई--गुजराती प्रिंटिंग प्रेस,सासून बिल्डिंग,एल्फि फोर्ट,बम्बई, संवत् १९७३ (वि) ।

३. प्रद्युम्नाभ्युदयम्--[illegible] रविवर्मविरचितम्--अनन्तशयनं ग्रन्थावलिः ग्रन्थांक ८ (गणपतिशास्त्री संशोधितम्)--गायकवाड ओरियन्टल सीरीज़,बड़ौदा ।

४. बालचरितम् एवं दूतवाक्यम् (भासप्रणीतम्)--"भासनाटकचक्रम्--सम्पादक सी०आर०देवधर, ओरियन्टल बुक एजेन्सी,१५ शुक्रवार,पूना-२,द्वि०संस्करण १९५१ ।

५. रुक्मिणीपरिणयम् (रामवर्मप्रणीतम्)--सम्पा० शिवदत्त एवं काशीनाथ पांडुरंग परब--काव्यमाला-४०,निर्णयसागर प्रेस,बम्बई,सं० १८९४ ।

६. ललितमाधवम् (रूपगोस्वामी विरचितम्)--नारायणप्रणीतया टीकया समुपेतम्--सम्पादक-बाबूलाल शुक्ल शास्त्री,चौखम्बा संस्कृत सीरीज़,१९६९ ई० ।

७. विदग्धमाधवं (रूपगोस्वामी विरचितम्)--टीकाकार श्री रमाकान्त झा,चौखम्बा संस्कृत सीरीज़,वाराणसी १९७० ई० ।

(नाटकेतर रूपक कृतियाँ)

८. मुकुन्दानन्द भाण (काशीपतिप्रणीतम्)--निर्णयसागर प्रेस,बम्बई,१९२६ ।

९. रुक्मिणीहरण (कविवत्सराजप्रणीतरूपकषट्कम्)--गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़, बड़ौदा,१९१८ ।

१०. रासलीला (वी० राघवनप्रणीतम्)--संस्कृत रंग वार्षिक,मद्रास,१९६३ ।

११. राधामाधवीयम्--डा० राजेन्द्र मिश्र--"नाट्यपंचगव्यम्"--वैजयन्त प्रकाशन,द्रोणीपुर, जौनपुर,१९७१-७२ ।

१२. वृषभानुजा--मथुरादास प्रणीतं--काव्यमाला सीरीज़-४४,निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, संवत् १८९४ ।

१३. वेणीसंहार --भट्टनारायणप्रणीतं--सम्पा० शिवराज शास्त्री--साहित्य भण्डार,सुभाष-बाजार,मेरठ,तृतीय संस्करण,१९७२ ई० ।

१४. सुभद्राधनंजयं-- त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज नं० १३--टीका-शिवराम,सम्पा० श्री गणपति-शास्त्री--त्रावनकोर प्रे०,१९१२ ।

१५. सुभद्रापरिणयं--व्यासरामदेवप्रणीतं--सम्पादक मंगलदेव शास्त्री--जयकृष्णदास गुप्ता विद्या विलास प्रेस,बनारस,१९३८ ।

(मुख्य आधार ग्रन्थ)

१६. श्रीमद्भागवतमहापुराणं--गीताप्रेस,गोरखपुर,संवत् २०२८ ।

(अन्य पुराण ग्रन्थ)

१७. अग्नि पुराणं--आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़ (१९००) ।

१८. गर्गसंहिता (प्रथम भाग)--सम्पा० श्रीशचन्द्र चट्टोपाध्याय--वाराणसेय संस्कृत विश्व-
 विद्यालय, वाराणसी, १९५६ ई० ।

१९. गरुडपुराणं--वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९६३ ई० ।

२०. पद्मपुराणं --आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावली, १८९४ ई० ।(द्वितीय भाग)

२१. ब्रह्मपुराणं --आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावली, १८९५ ई० ।

२२. ब्रह्मवैवर्तपुराणं--(प्रथम एवं द्वितीय खण्ड)--आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावली, १९३५ ई० ।

२३- ब्रह्माण्डपुराणं--क्षेमराज कृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९६९ ।

२४. भविष्यपुराणं--क्षेमराज कृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९५९ ई० ।

२५. मत्स्यपुराणं --आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावली, पूना, १९०७ ई० ।

२६. देवीभागवतपुराणं--क्षेमराज कृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

२७. वायुपुराणं--आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, १९०५ ई० ।

२८. स्कन्दपुराणं (द्वितीय भाग)--प्रका० मनसुखरायमोर, ५ क्लाइव रोड, कलकत्ता-१, सन् १९६० ।

२९. हरिवंशपुराणं(खिलपर्व महाभारत) भाग १--सा०सम्पादक परशुरामलक्ष्मण--भण्डारकर-
 रिसर्च इन्स्टीट्यूट, क्रिटिकल टैक्स्ट पूना, १९६९ ।

(अन्य संस्कृत ग्रन्थ)

३०. अथर्वसंहिता--भाषाभाष्य भाग-२, आर्य साहित्य मण्डल लिमि०, अजमेर, १९६० ई० ।

३१. उज्ज्वलनीलमणि--(रूपगोस्वामी विरचितम्)--सम्पा० कृष्णदास बाबा, गौरहरि प्रेस,
 राधाकुण्ड, मथुरा, संवत् २०२२ ।

३२. ऋग्वेद संहिता-- सम्पादक--मैक्समूलर, लन्दन ।

३३. कौशीतकी ब्राह्मण-सम्पादक--ई०बी० कॉवेल, कलकत्ता संस्करण, १८६१ ।

३४. गाथा सप्तशती--सम्पा० स०आ० जोगलेकर--अनुवाद गोपाल जोशी, प्रसाद प्रकाशन सं०१८७८

३५. गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, नृसिंहतापिन्युपनिषद्, राधोपनिषद्--
 (१०८ उपनिषद --साधना खण्ड)--सम्पा० श्रीरामशर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, प्रथम-
 संस्करण १९६१ ।

३६. छान्दोग्योपनिषद्-- गीताप्रेस, गोरखपुर ।

३७. जयादित्य (काशिका)--न्यास काशी संस्करण ।

३८. तैत्तरीय आरण्यकं (टीका-सायणाचार्य) सम्पा० राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता (सं०१८७२),
 आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना (१९२७ ई०) ।

३९-तैत्तरीय उपनिषद्--सम्पादक-श्रीपाद दामोदर सातवलेकर,स्वाध्याय मंडी (१९५६ ई०) ।

४०-दशरूपकं--सम्पादक-डा० श्रीनिवास शास्त्री,साहित्य भण्डार,सुभाष बाजार,मेरठ,प्रथम-
संस्करण १९६६ ई० ।

४१-नामलिंगानुशासनं--सम्पादक गणपति शास्त्री और डी०बी० पांड्या (त्रिवेन्द्रम संस्कृत-
सीरीज़ नं० ३८) पूना,१९४० ।

४२-नाटकचन्द्रिका--रूपगोस्वामीप्रणीतं--व्याख्याकार बाबूलाल शुक्ल शास्त्री,चौखम्बा संस्कृत-
सीरीज़,वाराणसी,प्रथम संस्क० १९६४ ई० ।

४३-नाट्यदर्पणं-- गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ क्रम ४८,बड़ौदा,१९२९ ई०,हिन्दी व्याख्या-
दिल्ली विश्वविद्यालय,१९६१ई०।

४४-नाट्यशास्त्रं--गायकवाड ओरियन्टल सीरीज़ खण्ड १,१९२६ ई०,द्वितीय संस्क० १९५६,
खण्ड २,१९३४,खण्ड ३,१९५४,बड़ौदा । काशी संस्कृत सीरीज़ बनारस,१९२९ ई०।

४५-बौधायन धर्मसूत्र--सम्पादक सी० शास्त्री ,बनारस,१९३४ ई० ।

४६-ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्--टीका भामती,कल्पतरु और परिमल--सम्पादक अनन्तकृष्ण शास्त्री,
द्वितीय संस्करण,प्रकाशित पाण्डुरंग जावजी,निर्णयसागर प्रेस,बम्बई,१९३८ ई० ।

४७-ब्रह्मसंहिता--टीका जीवगोस्वामी--सम्पादक आर्थर एवलोन (भाग१५)--अगमानुसंधान समिति,
कार्नवालिस स्ट्रीट,कलकत्ता सं० १९८५ ।

४८-भावप्रकाशनं--गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़,बड़ौदा,१९३० ।

४९-महाभारतम्--गीताप्रेस,गोरखपुर और भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट-सम्पादक--
एस०के० बेल्वेलकर ।

५०-महाभाष्यम्--सम्पादक एफ० कीलहॉर्न,भाग १-३,बाम्बे संस्कृत सीरीज़(१८९२-१९०४) ।

५१-मनुस्मृति:-- सम्पादक जी०एन०झा,इलाहाबाद,१९३२ ।

५२-रसगंगाधर:--व्याख्याकार पण्डित मदनमोहन झा ,चौखम्बा भवन,वाराणसी,१९६९ ।

५३-रसमंजरी --चौखम्बा संस्कृत सीरीज़,१९०४ ।

५४-रसार्णव सुधाकर:--त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़,१९१६ ई० ।

५५-ललितविस्तर: -- सम्पादक लैफमान,१९०२ ।

५६-लघुभागवतामृत--खेमराज कृष्णदास,वेंकटेश्वर प्रेस,बम्बई ।

५७-बृहदारण्यकोपनिषद्--सम्पादक ओ०बोहटलिन्ग,१८८९ ।

५८-विष्णुस्मृति:--सम्पादक पी० जौली--चौखम्बा संस्कृत सीरीज़,वाराणसी,१९६२ ।

५९-वासुदेवोपनिषद् (नारायणकृतदीपिका सहित कृष्णोपनिषद्)पूना,नवम्बर,१८९० ।

६०-शतपथब्राह्मण:--सम्पादक ए० वेबर,लन्दन,१८८५ ।

६१-शृंगारप्रकाशः--वी० राघवन,बम्बई,१६४० ।

६२-शृंगारतिलकं--काव्यमाला,भाग ३,बम्बई (रुद्रभटकृत) ।

६३-शृंगारतिलकं (रुद्रट प्रणीतं)--काव्यमाला,क्रम ३,बम्बई संवत् १८८७ ।

६४-साहित्यदर्पण: --निर्णयसागर प्रेस,बम्बई,१६२२ सम्पादक-डा० निरुपम विद्यालंकार ।

और --साहित्य भंडार,सुभाष बाजार,मेरठ,प्रथम संस्करण १६७४ ई० ।

६५-सरस्वतीकंठाभरणं--निर्णयसागर प्रेस,बम्बई ।

(सहायक हिन्दी ग्रन्थ)

६६-कृष्णभक्ति काव्य में सखी भाव--डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी--चौखम्बा संस्कृतसीरीज़,
वाराणसी,१६६६ ई० ।

६७-कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत--डॉ० श्यामसुन्दर दीक्षित--विनोद पुस्तक मंदिर,आगरा,१६५८ई०।

६८-भागवत सम्प्रदाय--श्री बलदेव उपाध्याय--नागरी प्रचारिणी सभा,काशी,संवत् २०१० ।

६९-भक्तिकाव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप--डॉ० श्यनाथ नलिन--मैकल एण्ड कम्पनी,१६६६ ।

७०-(अ) मध्यकालीन हिन्दी कृष्णकाव्य में रूप सौन्दर्य--डा० पुरुषोत्तमदास अग्रवाल--प्रकाशक-
रोशनलाल जैन,जयपुर संवत् २०२७ ।
(ब) मध्यकालीन संस्कृतनाट्य -- डॉ० रामजी उपाध्याय ।

७१-रासपंचाध्यायी :सांस्कृतिक अध्ययन--रसिक बिहारी जोशी,प्रथम संस्करण १६६१ ।

७२-वैष्णव धर्म--परशुराम चतुर्वेदी--मित्र प्रकाशन,इलाहाबाद,प्र०संस्करण १६५३ ।

७३-वैष्णव शैव एवं अन्य धार्मिक मत--श्रीरामकृष्ण भंडारकर--भारतीय विद्या प्रकाशन,१६६७

७४-वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन--डॉ० मलिक मोहम्मद--राजाभ प्रिंटर्स,शाहदरा,
दिल्ली,प्रथम संस्करण १६७२ ई० ।

७५-विदूषक--श्री गोविन्द केशव भट (अनु० बलदूलाल दुबे) साहित्य भवन,इलाहाबाद--प्रथम
संस्करण १६७० ।

७६-श्रीकृष्ण प्रसंग--पं० गोपीनाथ कविराज--भारतीय विद्या प्रकाशन,१६६७ ई० ।

७७-श्रीमद्भागवतगीतारहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र--बालगंगाधर तिलक (अनु० श्री माधवराव सप्रे)
प्रकाशक-जयन्त श्रीधर तिलक,लोकमान्य तिलक मंदिर,गायकवाड,पूना २।
बारहवाँ संस्करण १६६२ ।

७८-श्रीराधा का क्रमिक विकास--डॉ० शशिभूषणदास गुप्त,हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,
वाराणसी,१६५६ ई० ।

७९-संस्कृत काव्यकार--श्री हरिदत्त शास्त्री--साहित्य भण्डार,सुभाष बाजार,मेरठ,१६७० ।

८०-संस्कृत नाट्यकला--डॉ० रामलखन शुक्ल--मोतीलाल बनारसीदास,वाराणसी,प्र०सं०१६७० ।

८१-संस्कृत नाटक--प्रो० ए०बी० कीथ (भाषान्तर--उदयभानु सिंह)--मोतीलाल बनारसीदास-
वाराणसी,१९६५ ई० ।

८२-संस्कृत नाटककार--कांतिकिशोर भरतिया--प्रकाशन तथा सूचना विभाग,उत्तर प्रदेश,लखनऊ,
प्रथम संस्करण १९५९ ई० ।

८३-संस्कृत साहित्य का इतिहास--श्री बलदेव उपाध्याय --शारदा मंदिर बनारस,तृतीय-
संस्करण १९५३ ।
संस्कृतसाहित्य का इतिहास -- वाचस्पति गैरोला । चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १,१९६०

८४-हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य की पृष्ठभूमि--डॉ० गिरिधारीलाल शास्त्री--भारत प्रकाशन-
मंदिर अलीगढ़ ,प्रथम संस्करण जनवरी,१९७७ ।

८५-हिन्दी साहित्य में राधा--डॉ० द्वारिकाप्रसाद मीतल,जवाहर पुस्तकालय,मथुरा,१९७०ई० ।

८६-हिन्दी साहित्य में कृष्ण--डॉ० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ,राज्यश्री प्रकाशन मथुरा,१९६५ ई० ।

८७-हिन्दी कृष्णकाव्यों में माधुर्य उपासना--डॉ० एस०एन० पाण्डेय,रमा प्रकाशन,लखनऊ,१९६३

८८-हिन्दी कृष्णभक्तिकाव्य में मधुर भाव की उपासना--डॉ० पूर्णमासी राय (१९७४ ई०) ।

८९-हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक विवेचन-- श्रीमती वीणापाणि पाण्डेय--प्रकाशन शाखा-
सूचना विभाग,उत्तर प्रदेश,लखनऊ,प्रथम संस्करण १९६० ई० ।

(अंग्रेजी ग्रन्थ)

९०-ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर--ए०वेबर--वाराणसी,छठवां संस्करण ।

९१-ए स्टडी आफ भागवतपुराण --अड्यार (१९५०) ।

९२-ए स्टडी आफ वैष्णविज्म इन एन्श्येंट मीडिवल बंगाल--एस०सी० मुकर्जी (कलकत्ता,पंथी-
पुस्तक,१९६६) ।

९३-आसपैक्ट आफ अर्ली वैष्णविज़्म--जे०गोंडा । एन०वी०ए० आस्थोएक एण्ड वितगर्व(१९५४)

९४-भक्ति कल्ट इन ऐंश्यिएन्ट इंडिया--बी०के०गोस्वामी,चौखम्भा संस्कृत सीरीज,सैकेंड एडिशन,
वैल्यूम फर्स्ट एण्ड सैकेण्ड (१९६५) ।

९५-भगवान भाव ए स्टडी--प्रो० ए०डी० पुसालकर,द्वितीय संशोधित संस्करण,१९६८,मुंशीराम
मनोहरलाल ओरियंटल पब्लिशर्स,दिल्ली-६ ।

९६-क्रिटिकल स्टडी आफ द भागवत पुराण--टी०एस०रुक्मिणी--चौखम्बा०(१९७०)।

९७-कल्चरल हैरिटेज आफ इंडिया--एडिटर-एच०भट्टाचार्या,रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट आफ
कल्चर वैल्यूम थर्ड एण्ड फार्थ,प्रथम संस्करण १९३७,द्वितीय १९५३ ।

९८-कलेक्टेड वर्क्स आफ आर०जी० भण्डारकर--नारायण बापूजी उत्गीकर एण्ड वासुदेवगोपाल
परांजपे,भण्डारकर इंस्टीट्यूट,पूना,१९३३ ।

९९-अर्ली हिस्ट्री आफ द वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेन्ट इन बैंगाल--एस०के०डे (प्रकाशक-के०एल०
मुखोपाध्याय,कलकत्ता,१९६१ ।)

१००-एपिक माइथालोजी--ई० डब्लू० हापकिन्स--इण्डोलाजिकल बुक हाऊस,१९६८ ।

१०१-हिन्दूइज़्म एण्ड बौद्धिज़्म -- चार्ल्स इलियट,लन्दन १९२१ । पुनर्मुद्रण १९५४ ।

१०२-हिन्दू गाड्स एण्ड हीरोज़-- एल०डी०बार्नेट,लन्दन,१९२२ ।

१०३-हिन्दू माइथालोजी--डब्लू० जे०विल्किन्स --दिल्ली बुक स्टोर,१९७२ ।

१०४-हिस्ट्री आफ़ रैलिजन्स (वैल्यूम फर्स्ट)--जी०एफ़० मूरे,एडिनबरा,१९१४ ।

१०५-हिस्ट्री आफ़ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर--कृष्णमाचारियर--मद्रास,१९३७ (मोतीलाल-बनारसीदास इण्डोलाजिकल पब्लिशर्स,दिल्ली-७)

१०६-हिस्ट्री आफ़ इंडियन लिट्रेचर (वैल्यूम २ पार्ट १)--एम० विण्टरनित्ज़--मोतीलाल बनारसीदास,१९६३ ।

१०७-इंडियन थेइज़्म--एन० मैक्निकल--लन्दन,१९१५ ।

१०८-जातक--ई०बी० कावेल,ट्रांसलेशन--आर०चन्दर,दिल्ली कास्मो पब्लिकेशन्स,१९६३

१०९-कृष्णा एण्ड पुरान्स--तत्वभूषण सीतानाथ-प्रकाशक- त्रिगुणनाथ,ब्रह्ममिशन प्रेस, कार्नवालिस स्ट्रीट,कलकत्ता,१९२६ ।

११०-महाभारत ए क्रिटिसिज़्म-- सी०वी० वाइद्यार (१९६६) ।

१११-मैटीरियल्स फार द स्टडी आफ़ अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सैक्ट--हेमचन्द्र राय चौधरी, कलकत्ता फर्स्ट एडीशन १९२०,सैकण्ड एडी० १९३६ ।

११२-आउटलाइन आफ़ रैलिजस लिट्रेचर आफ़ इंडिया--जे०एन० फर्कुहर,लंदन,१९२० ।

११३-पुराण इन्डेक्स (वैल्यूम १)--वी०आर०आर० दीक्षित,यूनिवर्सिटी आफ़ मद्रास,१९५७ ।

११४-रैलिजन्स आफ़ एन्शियंट इंडिया--लुईस रेनू,लन्दन (१९५३) ।

११५-रैलिजन्स आफ़ इंडिया--ए०बार्थ--लन्दन (१९२१) ।

११६-रैलिजन्स आफ़ इंडिया--हापकिन्स--लन्दन (१९०२)

११७-संस्कृत ड्रामाज़ आफ़ ट्वेन्टिएथ सैन्चुरी--उपाध्याय सत्यव्रत,वैल्यूम १--मेहरचन्द लक्ष्मनदास, दिल्ली (प्रथम संस्करण १९७१) ।

११८-सिलप्पाधिकारम--ट्रांसलेशन--वी०आर०आर० दीक्षितार (आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९३७)

११९-श्रीमद्भागवता कन्डैन्स्ड इन पोयटिक फ़ॉर्म--अनुदित--वी०राघवन--मद्रास ।

१२०-श्रीकृष्णा हिज़ लाइफ़ एण्ड टीचिंग्स--धीरेन्द्रनाथ पाल--प्रकाशक-- रास हाउस,१२७, कलकत्ता,१९३३ ।

१२१-स्टडीज़ इन एपिक्स एण्ड पुरान्स--ए०डी० पुसालकर--भारतीयविद्याभवन,बम्बई,१९५५ ।

१२२-स्टडीज़ इन इंडियन हिस्ट्री आफ़ कल्चर--ए०एल० बाशम(कलकत्ता १९६४) ।

१२३-द औरिजन एण्ड डैवलपमैन्ट आफ वैष्णविज़्म--सुवीरा जायसवाल (१९६७)

१२४-द गाड्स आफ् इंडिया-- ई०आँ० मार्टिन्स--इण्डोलाजिकल बुक हाउस, दिल्ली, १९७२ ।

१२५-ट्वैन्टीफाइव ईअर्स आफ एपिक एण्ड पौरानिक स्टडीज--ए०डी० पुसालकर ।
रिप्रिन्टेड फ्राम--प्रोग्रेस स्टडीज १९१७-१९४२--भण्डारकर इंस्टीट्यूट, सिल्वर जुबिली, १९४२ ।

१२६-इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज--८

१२७-वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रैलिजस सिस्टम--आर०जी० भंडारकर--
इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी १९६५ ।

१२८-वैदिक इन्डैक्स (मैकडानाल एण्ड कीथ) दिल्ली १९५८ ।

१२९-वीमेन इन संस्कृत ड्रामा-- रत्नमयी देवी दीक्षित--मेहरचन्द, संस्कृत बुक डिपो० दिल्ली--
दिसम्बर, १९६४ ।

१३०-ए हिस्ट्री आफ् ब्रजबुलि लिटरेचर--सुकुमार सेन--कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३५ ।

(पत्र-पत्रिकाएं)

१३१-इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली वैल्यूम ८ (१९३२), वैल्यूम १७,१८ दिसम्बर १९४२)
वैल्यूम २६ ।

१३२-जर्नल आफ् रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९०७, १९०८, १९१०, १९१२, १९१५, एवं १९४९ ।

१३३-जर्नल आफ् रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ् बंगाल--वैल्यूम १६ (१९५०) ।

१३४-जर्नल आफ् एशियाटिक सोसाइटी आफ् बंगाल वैल्यूम २ नं० ३।

१३५-जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ ग्रेटब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड, १९१७ ।

१३६-एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता, १९२८ ।

१३७-इंडियन एन्टीक्वैरी (१९०८) और (१९१८) ।

१३८-इंडियन एण्टीक्वैरी (बाम्बे थर्ड-१८७४) ।

१३९-इंडियन एन्टीक्वैरी (वैल्यूम ११) एण्ड आई०ए० १८७४ वैल्यूम २३ ।

१४०-इन्साइक्लोपीडिया आफ रैलिजन एण्ड एथिक्स वैल्यूम-२, वैल्यूम-७ (फर्स्ट इम्प्रैशन १९१४),
वैल्यूम १०--जैम्स हैस्टिंग्स ।

१४१-भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट मैनुअल वैल्यूम १०(एस०एन०[illegible]) [illegible]-

१४२-भारत कौमुदी फर्स्ट ।

१४३-इलाहाबाद यूनिवर्सिटी मैगजीन ३३(१) (अर्ली वैष्णविज्म--इट्स इवोलूशन एण्ड प्रोग्रेस
बाई पी०के० राय ।

(शोध प्रबन्ध)

१४४-रैलिजस एण्ड सोशल डाटा इन द पुराणज--विष्णु, मत्स्य, वायु एण्ड ब्रह्माण्ड--
डा० सिद्धेश्वरी नारायण राय, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, १९५९ ।

१४५-औरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट आफ वैष्णविज़्म इन नार्दर्न इण्डिया अपटु गुप्त पीरियड--कृष्णानन्द चौधरी, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी ।

(संस्कृत-हिन्दी के शोधग्रन्थ एवं पत्र पत्रिकाएं)

१४६-श्रीमद्भागवतमें प्रेमतत्व--श्री रामचन्द्र तिवारी--संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय ।

१४७-श्रीमद्भागवत का साहित्यिक अनुशीलन--शिवशरण शर्मा--संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्व० ।

१४८-मध्ययुगीन कृष्णभक्ति धारा और चैतन्य सम्प्रदाय--डॉ० मीरा श्रीवास्तव--हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय ।

१४९-पुराणम्-- भाग २ संख्या १ और २ ।

१५०-कल्याण भाग ४४ (१९७०)--हनुमानप्रसाद पोद्दार ।

१५१-संक्षिप्त श्रीकृष्णवचनामृतांक (कल्याण, गीताप्रेस गोरखपुर, जनवरी, १९६४) ।

१५२-संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराण--कल्याण, जनवरी, १९६३ ।

१५३-भारतवर्ष पत्रिका--माघ १३४० बंगाब्द--योगेशचन्द्र राय ।

--0--